शिक्षा-ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय को डी० फिल्० की उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :

डॉ० हरिशंकर त्रिपाठी
रीडर, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्ता :

रामेश्वर प्रसाद चौबे
एम० ए०, साहित्याचार्य
संस्कृत विभाग

1993

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

दो शब्द

अध्ययन-पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होने की हार्दिक-अभिलाषा एवं वैदिक ज्ञान के प्रति उत्कट जिज्ञासावश जब मुझे बी0 ए0 तथा एम0 ए0 के अध्ययन-काल मेंअनेक वैदिक ग्रन्थों को पढ़ने का सुअवसर मिला तब मुझे यह किंचित् ज्ञान हुआ कि वास्तव में वेदाङ्गों में"शिक्षा" का अपना एक विशेष महत्व है । वेद विश्व-वाङ्मय का प्राचीनतम ग्रन्थ रत्न है । वेद भारतीय सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान-कोष है । भारतीय प्राचीन परम्पराओं का सम्यगबोध वेदाध्ययन के बिना सम्भव नहीं है। वेदाध्ययन हेतु "शिक्षा" वेदाङ्ग का अनुशीलन अपरिहार्य है ।

इसी ज्ञान-पिपासा से प्रेरित होकर तथा "अनिर्वेदी श्रियोमूलं लोहबद्धं कमण्डलुम् । अहोरात्राणि दीर्घाणि कः समुद्रं न शोषयेत् ।"﴾मा0शि074﴿ कागुरुमन्त्र देकर जिन्होंने सफलतागृह के दरवाजे पर लगे ताले की कुंजी मुझे पकड़ा दिया । अनेक विघ्नबाधाओं के उपस्थित होने पर जिन्होंने पग-पग पर मेरा पथप्रदर्शन किया, कार्याभिरुचि पूर्वक सतत क्रियाशील रहने का जिन्होंने निर्देश दिया उस पूज्यपाद गुरुवरेण्य डॉ0 हरिशङ्कर त्रिपाठी रीडर,संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद की सत्प्रेरणा से तथा जिनके निर्देशन में मेरा यह शोध-प्रबन्ध "शिक्षा-ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन" सम्पन्न हुआ, उनका मैं हृदय से आभारी हूँ, परन्तु आभार-प्रदर्शन मात्र से मैं उनसे ऋणमुक्त नहीं हो सकता हूँ । पुनः मैं आभार व्यक्त करता हूँ । प्रो0 सुरेशचन्द्र पाण्डेय अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद,उ0प्र0 के प्रति जिन्होंने मुझे यथावसर यत्किंचित् निर्देश दिया एवं सत्प्रेरणा प्रदान किया ।

इस शोध-प्रबन्ध के पूर्ण होने में श्रद्धेय प्रो० विद्यानिवास मिश्र, पूर्व कुलपति, सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, उ०प्र० मेरे पूज्य मामा प्रो० देवस्वरूप मिश्र अध्यक्ष, वेदान्त दर्शन-विभाग, सं०सं०वि०वि०, वाराणसी, प्रो० अमरनाथ पाण्डेय, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, काशी विद्यापीठ वाराणसी तथा डॉ० काली प्रसाद दुबे, प्राध्यापक, भारतीय विद्या संस्कृति विभाग, सं०सं० वि०वि० वाराणसी की यथोचित मार्गनिर्देशन एवं सत्प्रेरणा रही है, का मैं आभारी हूँ। मैं उन सभी विद्वानों के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में किंचिदपि सहायता प्राप्त हुई है। उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति आभारी हूँ जिनकी कृतियों से मुझे इस कार्य के सम्पादन में सहायता मिली है।

मैं अपने पूज्य पिता जी एवं परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति विशेषरूप से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे परिवार की अनेक समस्याओं से पृथक् रखकर अध्ययन करने एवं इस शोधकार्य को सम्पन्न करने का यथोचित अवसर एवं अन्यविध विविध सहयोग प्रदान किया। पुनः मैं अपनी धर्मपत्नी डॉ० {श्रीमती} रजनी चतुर्वेदी, प्रवक्ता, अर्थशास्त्र विभाग दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय उरई, जालौन उ०प्र० के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने गृहस्थ जीवन की उलझनों से इस पुनीत कार्य के प्रति मेरी शिथिलता को देखकर जिसने मुझे बारम्बा "वह पथ क्या पथिक कुशलता क्या, जिस पथ में बिखरे शूल नहीं नाविक की धैर्य परीक्षा क्या, जब धारायें प्रतिकूल न हो" इस सूक्ति को सुनाकर सतत् कर्तव्य-परायणता हेतु उर्जस्वित करती रहीं, जिन्होंने विविध घरेलू समस्याओं से मुक्त रखकर अध्ययन हेतु पूर्ण अवसर देकर शोधकार्य की सम्पन्नता में पर्याप्त सहयोग किया है, का मैं आजीवन ऋणी हूँ। अब मैं अनुज चि० विवेक कुमार पाण्डेय

एवं राजेश कुमार पाण्डेय के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने शोधसम्बद्ध विविध सामग्री उपलब्ध कराने में भरपूर सहयोग किया तथा साथ ही विद्यार्थी जीवन की विविध समस्याओं से मुक्त रखकर अध्ययन हेतु पूर्ण अवसर प्रदान किया। अन्ततः मैं इस शोधप्रबन्ध के टंकणकर्ता श्री जय सिंह को जिन्होंने शीघ्रातिशीघ्र टंकणकार्य सम्पन्न किया है, को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।

ज्ञान के क्षेत्र में मानव जीवन में कभी पूर्णता नहीं आती है । इसलिए मेरा यह शोधप्रबन्ध मानव-कृति होने से इसमें कुछ अपूर्णता, कुछ त्रुटियाँ तथा कुछ नवीनताएँ आ सकती हैं । इस शोधप्रबन्ध में जो कुछ नवीनार्थता है, वह सब मेरे गुरुजनों की महती कृपा से है, शेष के लिए मैं उत्तरदायी हूँ, अतः उन त्रुटियों के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ ।

रामेश्वर प्रसाद चौबे
रामेश्वर प्रसाद चौबे
शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
उ० प्र० ।

विजयादशमी
24 अक्टूबर 1993

संक्षिप्त शब्द संकेत सूची

मुण्ड० उप०	:	मुण्डक उपनिषद
पा० शि०	:	पाणिनीय शिक्षा
तै० सं०	:	तैत्तिरीय संहिता
शत० ब्रा०	:	शतपथ ब्राह्मण
ए० आ०	:	ऐतरेय आरण्यक
वृ० आ०	:	वृहदारण्यक
जै० आ०	:	जैमिनीय आरण्यक
तै० ब्रा०	:	तैत्तिरीय ब्राह्मण
ऋ० सं०	:	ऋक्संहिता
ऋ० भा० भू०	:	ऋग्वेद भाष्य भूमिका (सायण)
ऋ० प्रा०	:	ऋक्प्रातिशाख्यम्
तै० उप०	:	तैत्तिरीयोपनिषद
वा० प्रा०	:	वाजसनेयि प्रातिशाख्यम्
प्रा० भा० का इति०	:	प्राचीन भारत का इतिहास
वा० प०	:	वाक्य पदीयम्
म० भा०	:	महाभाष्यम्
यजु०	:	यजुर्वेद
आप० धर्म०सू०	:	आपस्तम्बधर्मसूत्रम्
ऋ० तं०	:	ऋक्तन्त्रम्

मै० सं०	:	मैत्रायणी संहिता
श० श० प्र०	:	शब्दशक्तिप्रकाशिका
तै० प्रा०	:	तैत्तिरीय प्रातिशाख्यम्
लो० गृ० सू०	:	लोगाक्षिगृहसूत्रम्
काशि०	:	काशिका
अष्टा०	:	अष्टाध्यायी
च० सं०	:	चरकसंहिता
सं० व्या०का इति०	:	संस्कृत व्याकरण का इतिहास
ना० शा०	:	नाट्यशास्त्रम्
निरु०	:	निरुक्तम्
वा० पु०	:	वायुपुराणम्
ऋ० सर्वानु०	:	ऋक्सर्वानुक्रमणिका
अ० बृ०सर्वानु०	:	अथर्ववेदीय बृहद् सर्वानुक्रमणिका
दैव० ब्रा०	:	दैवत ब्राह्मणम्
छ० सू०	:	छन्दसूत्रम्
अ० को०	:	अमरकोशः
वै० छ० मी०	:	वैदिकछन्दोमीमांसा
छ० अनु०	:	छन्दअनुशासन
वि० पु०	:	विष्णुपुराणम्
अ० सं०	:	अथर्वसंहिता
वै० सं०	:	वैदिक साहित्य एवं संस्कृति
ऋ० प्रा०	:	ऋक्प्रातिशाख्यम् (विष्णुमित्रकृत)

मा० शि० या माण्डू०शि०	:	माण्डूकी शिक्षा
ना० शि०	:	नारदीय शिक्षा
व्या० शि०	:	व्यास शिक्षा
याज्ञ० शि०	:	याज्ञवल्क्य शिक्षा
आपि० शि०	:	आपिशलि शिक्षा
च० व्यू०	:	चक्रव्यूहम्
सा० सर्वानु०	:	सामवेद सर्वानुक्रमणिका
गो० ब्रा०	:	गोपथ ब्राह्मणम्
ऐ० ब्रा०	:	ऐतरेय ब्राह्मणम्
छा० उप०	:	छान्दग्योपनिषद
शां० आ०	:	शांख्यायन आरण्यकम्
सि० शि०	:	सिद्धान्त शिक्षा
श० शि०	:	शमान शिक्षा
शि० सं०	:	शिक्षा संग्रह
वा० शि०	:	वाशिष्ठी शिक्षा
पारा० शि०	:	पाराशरी शिक्षा
भा० पु०	:	भागवत पुराणम्
अमोघा० शि०	:	अमोघानन्दनी शिक्षा
ल० अमो० शि०	:	लघु अमोघानन्दनी शिक्षा
माध्यं० शि०	:	माध्यन्दिन शिक्षा
ल० माध्यं० शि०	:	लघु माध्यन्दिन शिक्षा
वर्ण०शि०या व०र०प्र०शि०	:	वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा

के० शि०	:	केशवी शिक्षा
चारा० शि०	:	चारायणीय शिक्षा
को० शि०	:	कोहलीय शिक्षा
शं० शि०	:	शम्भु शिक्षा
हा० शि०	:	हारीत शिक्षा
स० स० शि०	:	सर्वसम्मत शिक्षा
आ० शि०	:	आरण्य शिक्षा
का० नि० शि०	:	कालनिर्णय शिक्षा
पारि शि०	:	पारिशिक्षा
अ० नि० शि०	:	अवसान निर्णय शिक्षा
म० स्वा० शि०	:	मनः स्वार शिक्षा
य० वि० शि०	:	यजुर्विधान शिक्षा
ल० का० शि०	:	लक्ष्मीकान्त शिक्षा
म० श० शि०	:	मल्ल शर्म शिक्षा
लो० शि०	:	लोमशी शिक्षा
स्व० भ० ल० शि०	:	स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा
क्र० सं० शि०	:	क्रमसंधान शिक्षा
शौ० शि०	:	शौनकीय शिक्षा
स्वरा० शि०	:	स्वरांकुश शिक्षा
स्वराष्ट० शि०	:	स्वराष्टक शिक्षा
प्रा० प्र० शि०	:	प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा
षो० श्लो० शि०	:	षोडश श्लोकी शिक्षा

प0 का0 र0 मा0 : पदकारिकारत्नमाला

शै0 शि0 : शैशिरीय शिक्षा

का0 शि0 : काश्यप शिक्षा

कात्या0 शि0 : कात्यायनी शिक्षा

ध्व0 वि0 : ध्वनि विज्ञान (डॉ0 हरिशङ्कर त्रिपाठी)

सो0 श0 शि0 : सोमशर्मा शिक्षा

क्र0 का0 शि0 : क्रमकारिका शिक्षा

आ0 शि0 सू0 : आपिशल शिक्षा सूत्र

पा0शि0सू0 : पाणिनीय शिक्षा सूत्र

चा0 व0 शि0 सू0 : चान्द्रवर्णशिक्षासूत्र

च0 अ0 : चतुराध्यायिका

अ0 प्रा0 : अथर्व प्रातिशाख्य

ऋ0प्रा0(उ0भा0) : ऋक्प्रातिशाख्य(उवट भाष्य)

भा0 शि0 : भारद्वाज शिक्षा

मनु0 स्मृ0 : मनुस्मृति

हे0 श0 : हेमशब्दानुशासन

व0 प0 : वर्ण पटल

प्र0 र0 मा0 : प्रदीपरत्नमाला

सि0 कौ0 : सिद्धान्त कौमुदी

कातं0 : कातंत्र

आ0गृ0 सू0 : आश्वलायनगृह्य सूत्र

हरि0 व्या0 : हरिनामामृत व्याकरण

प्र० सा०	:	प्रपंचसार
वा०प्रा०{अ० भ०}	:	वाजसनेयिप्रातिशाख्य {अनन्त भट्ट}
या० शि० टी०	:	याज्ञवल्क्य शिक्षा टीका
पा०महा०	:	पातंजलि महाभाष्य
सा० द० परि०	:	साहित्यदर्पण परिशिष्ट
ता० ब्रा०	:	ताण्ड्य ब्राह्मणम्
श्वे० उप०	:	श्वेताश्वेतरोपनिषद्
सर० क०	:	सरस्वती कण्ठाभरण
शा० त० भा०	:	शारदातनय भावप्रकाश
ईशा० उप०	:	ईशावास्योपनिषद
सं० हि० को०	:	संस्कृत हिन्दी कोश

अंग्रेजी भाषा की पुस्तकें

इटि० आ० या०	:	इटिमोलोजी आफ यास्क
क्रिटि० स्टडी०	:	ए क्रिटिकल स्टडीज इन फोनटिक्स आब्जर्वेशन आफ इण्डियन ग्रामेरियन्स
सि० आ० सं० ग्रा०	:	सिस्टम आँफ संस्कृत ग्रामर

विषयानुक्रमणिका

॥ प्रथम अध्याय ॥

विषय परिचय

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

(द्वितीय अध्याय) 124—182.

वर्णसमाम्नाय

§ तृतीय अध्याय § 183—194.

वर्णोच्चारण काल

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

§ षष्ठ अध्याय § 220-272.

स्वर-प्रकरण

पृष्ठ संख्या

§ सप्तम अध्याय § 273-359

सन्धि प्रकरण

पृष्ठसंख्या

॥ अष्टम अध्याय ॥ 360-385

अङ्गाङ्गिभाव-प्रकरण

पृष्ठसंख्या

॥ नवम अध्याय ॥

उच्चारण-विधि-प्रकरण — 386–430

॥ दशम-अध्याय ॥

संयोग विषयक उच्चारण वैशिष्ट्य — 431–535

॥ प्रथम अध्याय ॥

वेदमाहात्म्य:

भारतीय वाङ्मय में वेदों का माहात्म्य उच्चतम एवं विशाल है । वेद भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के भव्य एवं विशाल भवन का आधार स्तम्भ है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वैदिक अध्ययन धनापूर्ण भूतल से बलवत्तर प्रदति है, इससे भी बढ़कर प्रदति है क्योंकि इसी से तो व्यक्ति अक्षय लोक की प्राप्ति करता है-"यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति-त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षयं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"। ॥शत0 11/5/6/1॥ । वैदिक विचारधारा वेद को अपौरुषेय मानती है; समस्त भाषाओं एवं विचारधाराओं का स्रोत मानती है । वेद के अपौरुषेयत्व के विषय में भारतीय दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है । मीमांसक आदि वेदों को अकर्तृक अनादि एवं स्वतः प्रमाण मानते हैं - अनादिम-व्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् ।" वैशेषिक वेदों को ईश्वर-प्रणीत मानकर ईश्वरोक्त रूप में इनकी मान्यता स्वीकार करते हैं - "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" । सांख्याचार्य तथा वेदान्ताचार्य भी वेद को अपौरुषेय ही मानते हैं । इनमें से कोई भी दार्शनिक वेदों को पौरुषेय नहीं मानते । समस्त भारतीय आस्तिक दार्शनिक वेदों के प्रामाण्य के समक्ष श्रद्धाऽवनत हैं ।

वैदिक वाङ्मय अत्यन्त विशाल है । इसके अन्तर्गत संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा आरण्यकों आदि को सम्मिलित किया गया है । वैदिक

वाङ्•मय के विविधविध माहात्म्य को अङ्•गीकार करते हुए प्राचीन काल में इसका साङ्•गोपाङ्•ग अध्ययन तो किया जाता ही रहा था । ही वैदिक अध्ययन-अध्यापन में उत्पन्न होने वाली अशुद्धियों को दूर करने, वेदों के अर्थ को जानने तथा इनके परम्परागत संरक्षण हेतु वेदों के ही एक अङ्•ग के रूप में एक वाङ्•मय का प्रणयन हुआ जिसे कालान्तर में वेदाङ्•ग साहित्य के नाम से जाना गया । प्रारम्भिक अवस्था में वेदाङ्•ग -शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प का अध्ययन वेदाध्ययन के विशिष्ट प्रकार के रूप में ही किया जाता था । कालान्तर में इनके अध्ययन की स्वतन्त्र परम्परा का विकास हुआ ।

वेदाङ्•गों में शिक्षा का प्रथम तथा प्रधान स्थान है जिसका विवेच्य विषय उच्चारण-विधि है । शिक्षा का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है वह विद्या जो उदात्तादि स्वर तथा वर्ण आदि के प्रकार का उपदेश दे -"स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा ।" {सायण ऋग्वेदभाष्य0 पृष्ठ 49} । अतएव शिक्षा का उद्देश्य है - वर्णोच्चारण की शिक्षा देना, किस वर्ण का किस स्थान से उच्चारण किया जाता है, उसमें क्या प्रयत्न करना पड़ता है, वर्ण कितने हैं उनका किस रूप में विभाजन होता है, कितने स्थान और प्रयत्न हैं, शरीर-वायु किस प्रकार वर्ण रूप में परिवर्तित होती है, कितने स्वर हैं किस स्वर का किस प्रकार उच्चारण किया जाता है इत्यादि । शिक्षा वेद रूपी पुरुष का घ्राण कही गयी है - "शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य"{पा0शि0श्लोक 42}। तैत्तिरीयोपनिषद में शिक्षा के छः अङ्•गों का वर्णन है - {1} वर्ण {2} स्वर {3} मात्रा {4} बल {5} साम {6} सन्तान - "शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः, मात्रा, बलम्, साम सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः" {तै0 उ0 1-2} ।

वैदिक अध्ययन में शिक्षाओं के माहात्म्य को अङ्गीकार करते हुए ही प्राक् मनीषियों ने तत्तद् परिपाटी के अनुसार एवं तत्तद् शाखा के अनुसार उच्चारणविधि के परिज्ञानार्थ अनेक शिक्षा ग्रन्थों का प्रणयन किया । इनमें जहाँ एक ओर कुछ शिक्षाएं किसी विशेष संहिताओं की ध्वनियों एवं तत्सम्बद्ध ध्वन्यात्मक वैशिष्ट्यों से सम्बद्ध हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ शिक्षाएं ध्वनियों एवं ध्वन्यात्मक वैशिष्ट्यों के सम्बन्ध में तथ्यों के विवेचन से सम्बन्धित है; जो सभी संहिताओं या एक से अधिक संहिताओं की मान्यताओं से अपना तादात्म्य बनाये हुए हैं । यद्यपि वैदिक संहिताओं के ध्वन्यात्मक अध्ययन में संहिता-सम्बद्ध प्रातिशाख्यों का विशेष महत्व है, तथापि इस विषय मेंशिक्षाओं के माहात्म्य को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता । हाँ यह सत्य है कि कुछ शिक्षाएं प्रातिशाख्यों की ही मान्यताओं को कुछ रूपों में धारण करती हुई नजर आती है । लेकिन कुछ विषयों में अनेक नवीन विचार-प्रतिपादकता को स्पष्टतः देखा जा सकता है । यद्यपि इन सभी शिक्षा-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय एक उच्चारण विधि ही है, फिर भी इनमें वर्णों की संख्या, स्थान-करण आदि विषयों में बहुत्र वैषम्य उपलब्ध होता है । इस वैषम्य के कारणों पर प्रस्तुत निबन्ध के तत्तद् प्रकरणों में यथावसर विचार किया जायेगा । आशा है शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध होने वाली उच्चारण विषयक अनेक विप्रतिपत्तियों से उनकी प्रामाणिकता के विषय में उत्पन्न होने वाले आधुनिक भाषावैज्ञानिकों के सन्देह अधिकाधिक अंश में इस निबन्ध के अध्ययन से दूर होंगे ।

इस शोध-प्रबन्ध में मुख्यतया शिक्षा ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों का सहायक रूप में एवं विषय से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों का भी अवलम्बन लिया गया है । जैसे व्याकरणग्रन्थ, भाषाविज्ञानग्रन्थ आदि ।

वेदाङ्ग

वेद-रक्षार्थ वेदाङ्गों का प्रणयन किया गया । वेदस्य अङ्गानि इति वेदाङ्ग अर्थात् वेद के अङ्ग । अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते एभिरिति अङ्गानि अर्थात् वे उपकारक तत्त्व जिनसे स्वरूप का बोध होता है । अङ्ग शब्द उपकारार्थ वाचक है । वेदाङ्ग वेदार्थ परिज्ञानार्थक है । वेदाङ्ग अपराविद्या है[1] । वेदाङ्ग षड्विधा है[2] -

1- शिक्षा 2- व्याकरण 3- छन्द 4- निरुक्त 5- ज्योतिष 6- कल्प ।

"शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः ।।"

ये वेदपुरुष के अङ्ग हैं । छन्द वेदपुरुष के पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख है[2] ।

1- "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति"।। मुण्डक उप0 1-1-5

2- "छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।
शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।

पा0 शि0 41,42

1- शिक्षा

संहिताकाल ही भाषाध्ययन का आदि काल है किन्तु उस समय ब्रह्मचिन्तन और ब्रह्मप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य था । तदुत्तरवर्ती ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में भाषाविषयक-विचार किया जाने लगा । वेदों में भाषाध्ययन की पृष्ठभूमि तैयार की गयी । जो वेदाङ्ग के रूप में परिणत हुआ । जिसमें भाषाविषयक तत्वों पर सूक्ष्मतया विचार किया गया षट्संख्यक वेदाङ्ग में चार अङ्गों में भाषा-विषयक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है । संस्कृतभाषा केवल विचारसंवाहिका ही नहीं है अपितु मोक्षप्रदात्री भी है । अतएव क्वचिद वायु[1], अग्नि[2], विराट[3], धी,[4] ब्रह्म[5] और क्वचिद मन[6] पद से बोधगम्य हुआ । तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि प्राणधारी देवता गन्धर्व, मनुष्य तथा पशु सभी वाणी के द्वारा ही व्यवहार करते हैं[7]। ऋक्संहिता में कहा गया है कि एक देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता किन्तु यह एक ही वाणी प्रियतमा के सदृश सम्पूर्ण अङ्गों को उद्घाटित कर देती है । अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ को प्रगट कर देती है[8]। एवं विध शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त

1- "वाग् वै वायुः" - तै0 सं0 1/8/7

2- "वागेवाग्निः" - शत0ब्रा0 3/2/2/13

3- शत0 ब्रा0 3/5/1/34

4- "वाग् वैधीः" - ए0आ0 1/1/4

5- "वाग् वै ब्रह्म" - वृ0 आ0 2।

6- "वागिति मनः" - जै0 आ0 4/22

7- "वाचं देवाः उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाःपशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वभुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नीम् ।।
तै0 ब्रा0-2/8/8

8- "उत त्वः पश्यन्न ददर्शवाचम्,उतत्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे, जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।-ऋ0सं0 10/71/4

तथा छन्द वेदार्थ बोधन द्वारा वेद को उपकृत करते हैं । क्योंकि भाषा के स्वरूप ज्ञान के लिए शुद्धोच्चारण व्युत्पत्तिज्ञान, अर्थज्ञान एवं वाक्यस्वरूप ज्ञान अनिवार्य है । शुद्धोच्चारण वाणी की प्रथम आवश्यकता है- ऐसा समझकर ही षडङ्गों में शिक्षा का प्रथम स्थान लभ्य है । क्योंकि पाणिनी शिक्षा में ऐसा कहा गया है कि बिना शुद्धोच्चारण किये मनुष्य अपना अभीष्ट नहीं प्राप्त कर सकता है[1]। शुद्धोच्चारण शिक्षा का प्रयोजन एवं लक्ष्य दोनों है । अतः स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकार की जहाँ पर शिक्षा दी जाती है उसे शिक्षा कहते हैं[2]। जहाँ पर भी वेदमन्त्रों का उच्चारण-नियम प्राधान्येनप्रतिपादित है । वह शिक्षा शब्द से ज्ञात है । अशुद्धोच्चारण आदि षड्दोष परिहार पूर्वक शुद्धोच्चारण जन्यफल-प्राप्ति ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है । पाणिनीय शिक्षा स्वरवर्णोच्चारक शास्त्र को शिक्षा कहते हैं[3]। ऋक्प्रातिशाख्य में भी शिक्षापद का प्रयोग स्वरवर्णोच्चारण

1- "मन्त्रो हीनो स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो नतमर्थमाह
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।।

- पा० शि०

2- "स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा ।"-

सायण-ऋ०भा०भू०पृ०49

3- "पुनर्व्यक्तीकरिष्यामि वाचः उच्चारणे विधिम् ।
पा०शि०।2

में उपकारक रूप से किया गया है[1]। तैत्तिरीयोपनिषद में एक शिक्षाध्याय ही है जहाँ शिक्षा विषय वर्ण, स्वर मात्रा, बल, साम एवं सन्तान आदि है[2]। मुण्डकोपनिषद में परापराविद्याप्रसङ्ग में तथा उपराविद्या में शिक्षापद का उल्लेख है[3]। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में भी शिक्षा पद का उल्लेख है[4]। इत्थं वेद-मन्त्रों के उच्चारण में जो शास्त्र उपकारक होता है वह शिक्षा शब्द से अभिहित है[5]। पाणिनीय शिक्षा में शिक्षा को वेदपुरुष का घ्राण कहा गया है[6]।

1- "स्वरवर्णोच्चारकं शास्त्रम् शिक्षा ।" -ॠ0प्रा0।। पृ0 10, 11

2- "शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः, मात्रा बलम् साम् सन्तानः इति । -तै0 उ0 1/2

3- "तत्रापरा ॠग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षाकल्पो व्याकरणम् निरुक्तम् छन्दो ज्योतिषम्।"- मुण्ड0उप0 1/5,

4- "अथ शिक्षा विहिताः" -वा0प्रा0 1/29

5- प्रा0 भा0 इति0 - डा0विन्टरनित्ज । पृ0200-222

6- "शिक्षाघ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।" - पा0शि0 42

2- व्याकरण

व्याकरण वेदार्थ निर्णायक है । व्याकरण भी वेदवद् मुक्तिप्रदाता है[1] । पतञ्जलि के मतानुसार सुष्ठुप्रयुक्त शब्द कल्याणकारक है । सुष्ठुप्रयोग का ज्ञान व्याकरण द्वारा ही सम्भव है[2] । वि + आङ् पूर्वक डुकृञ् धातु से ल्युटि[3] प्रत्यय के योग से व्याकरण शब्द निष्पन्न होता है । अतएव व्याकरण का अर्थ है - व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् जिसके द्वारा प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया जाता है । "मुखं व्याकरणं स्मृतम्"[4] व्याकरण को वेदपुरुष का मुख माना गया है । मुख अभिव्यक्ति और विश्लेषण का साधन है ।, तद्वत् व्याकरण भी पद-पदार्थ, एवं वाक्य-वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति तथा प्रकृति-प्रत्यय के विश्लेषण का साधन है । यजुर्वेद में व्याकरण के सूक्ष्म रूप का वर्णन है कि प्रजापति ने रूपों में सत्य और अनृत अर्थात् स्फोट और ध्वनि का व्याकरण यानी कि विश्लेषण किया है । उसने असत्य में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा की प्रतिष्ठा की[5] ।

1- "इयं हि मोक्षमाणामजिह्वा राजपद्धतिः" - वा० प० ब्र० का० 18

2- "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः

(शास्त्रान्वितः) स्वर्गे लोके कामधुग् भवति ।"- म० भा० 6/9/84

3- "करणाधिकरणयोश्च-" अष्टा० 3/3/117

4- "मुखं व्याकरणं स्मृतम् - पा० शि० 42

5- "दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ।।" -यजु० 19-77

पतञ्जलि व्याकरण को षडङ्गों में प्रधान कहा है[1]। इसकी प्रधानता अर्थज्ञान-पूर्वक शब्द साधुत्वबोधक है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में व्याकरण को अर्थकोष का आश्रय लेकर पदपदार्थ प्रतिपादन द्वारा वेद का उपकारक स्वीकार किया गया है[2]। कात्यायन और पतञ्जलि ने व्याकरण के पाँच प्रयोजन बताए हैं - {1} रक्षा {वेदों की रक्षा} {2} ऊह {यथास्थान विभक्तियों आदि का परिवर्तन} {3} आगम {निष्काम भाव से वेदादि का अध्ययन}, {4} लघु {संक्षेप में शब्द ज्ञान}, {5} असन्देह {सन्देह निराकरण}[3]। ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याकरण का प्राचीन स्वरूप निर्वचन आदि के रूप में मिलता है। गोपथ ब्राह्मण में धातु, प्रातिपदिक आख्यात, लिंग, विभक्ति, वचन, प्रत्यय स्वर आदि के विषय में प्रश्न पूछा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद-प्रातिशाख्य ग्रन्थ व्याकरण के प्रारम्भिक और व्यवस्थित रूप है। इनका उल्लेख पहले किया गया है। यास्क ने निरुक्त में शब्द की नित्यता, प्रातिपादिकों का व्युत्पन्न होना, आदि व्याकरण के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। व्याकरण का पूर्ण और व्यवस्थित रूप पाणिनि के समय से ही निर्धारित हुआ है।

1- "व्याकरणन्त्वषट्स्वङ्गेषु प्रधानम्।"- म० भा० 1/1/1

2- "व्याकरणमर्थकोषमाश्रित्य पदमन्वाचक्षाणं पदपदार्थप्रतिपादनेन वेदस्योपकारकं विद्यास्थानम्।"- आ० धर्म० सू० 2/4/8/11 उज्ज्वलाटीकायाम्।

3- "रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।" - महाभाष्य आ०।

यद्यपि कि व्याकरण की संख्या के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है तथापि प्रायः ब्रह्मा,[1] वृहस्पति,[2] इन्द्र,[3] भरद्वाज,[4] भागुरि,[5] गौतम,[6] पौष्कर,[7] चारायण[8] काशकृत्स्न[9], वैयाघ्रपाद,[10] माध्यन्दिनि,[11] आपिशलि,[12] रौढि,[13] व्याडि[14] प्रभृति वैयाकरणों के नाम प्रधानतया संस्कृत वाङ्‌मय में प्राप्त होते हैं। जो पाणिनि से प्राचीन है। इन वैयाकरणों के व्याकरण भी थे। परन्तु इस समय प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त संस्कृत वाङ्‌मय में शिव,[15]

1- "ब्रह्मा वृहस्पतये प्रोवाच वृहस्पतिरिन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाजः ऋषिभ्यः ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।" - ऋ० त० 1/4

2- म० भा० 1/1/1

3- "स इन्द्रो वाचैव वाचं व्यावर्तयद्।" - मै० सं० 4/5/8

4- ऋ० प्रा० 1/4

5- श० श० पृ० पृ० 444

6- तै० प्रा० 5/38

7- तै० प्रा० 5/37

8- लौ० गृ० सू० 5/1 टीकायाम्

9- काशि० 5/1/58

10- श० ब्रा० 10/6/1

11- काशि० 7/1/94

12- अष्टा० 6/1/92 "वा सुप्यापिशलेः"

13- काशि० 6/2/36 "रौढीयकाशकृत्स्नाः"

14- काशि० 2/4/2 व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्"।

15- पा० शि० 57 "येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्"।

वायु,[1] शान्तनु,[2] शौनक[3] आदि का नाम वैयाकरण के रूप में स्वीकृत है । अन्य आठ वैयाकरणों का नामोल्लेखपूर्वक अपने अष्टाध्यायी में उनके मतों का उल्लेख किया है । वे वैयाकरण काश्यप[4] गार्ग्य[5] गालव[6] चक्रवर्मन,[7] शाकटायन[8] शाकल्य[9] सेनक[10] स्फोटायन[11] आदि नामों से ज्ञात हैं ।

1- तै0 सं0 6/4/7 "च वाये च सह गृह्याता इति --।"

2- (पदमञ्जया हरदत्त:) "स पुन: शान्तनुप्रणीत- काशि07/3/4 फिष्‌ इत्यादिकम् ।"

3- च0 सं0 2/27 चिकित्सास्थनम् । अज्झदटीकायाम् ।

"करोतेरपि कर्तृत्वे दीर्घत्वंशास्ति शौनकि: ।

4- "तृषिमृषिकृषे काश्यपस्य" - अष्टा0 1/2/25

5- "ओतो गार्ग्यस्य" - अष्टा0 8/3/20

6- "इको ह्रस्वो ङ्‌यो गालवस्य" - अष्टा0 6/3/6

7- ई चाक्रवर्मणस्य - अष्टा0 6/1/36

8- लङ: शाकटायनस्यैव,- अष्टा0 3/4/111

9- "सम्बुद्धो शाकल्यस्यतावनार्षे" - अष्टा0 1/1/16

10- "गिरेभ्यश्च सेनकस्य" - अष्टा0 5/4/112

11- "अवङ्स्फोटायनस्य" - अष्टा0 6/1/123

उपलब्ध व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही सर्वातिशय विद्यमान है । अन्य व्याकरण ग्रन्थ इसी का आश्रय लेकर कल्पित है । पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में कात्यायन का वार्तिक तथा पतंजलि का भाष्य प्रमाणभूत है । अतएव मुनित्रय पद से पाणिनि कात्यायन तथा पतन्जलि का ही व्यवहार होता है । संस्कृत वाङ्•मय के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि प्रमाणभूत आचार्यों में पाणिनि ही अन्तिम आचार्य है । पणिनि काल में ही संस्कृतभाषा ह्रासोन्मुख थी । अस्तु उसकी रक्षार्थ ही उन्होंने अष्टाध्यायी की रचना की । जो लौकिक तथा वैदिक ज्ञानार्थ महदुपकारिणी है । लघु तथा सारभूत होने के कारण शीघ्र ही जनमानस का कण्ठहार बन गया । इनके अर्वाचीन कातन्त्रचान्द्र जैनेन्द्र विश्रान्त विद्याधर शाकटायन सरस्वतीकण्ठाभरण बुद्धिसागर दीपक हैमशब्दानुशासन शब्दानुशासन संक्षिप्तसार सारस्वतमुग्धबोधसुपद्म प्रबोधप्रकाश हरिनामामृत आदि प्रथित है[1]। किन्तु ये सभी एकदेशीय होने के कारण पाणिनीय व्याकरण के समान संस्कृत वाङ्•मय में स्थान नहीं प्राप्त कर सके ।

1- सं० व्या० का इ० पृ० 61। तः 723

3- छन्दस्

संस्कृत वाङ्मय में वैदिक छन्द मन्त्राक्षर संख्या परिज्ञानार्थ अर्थज्ञानार्थ उपकारक है । नाट्यशास्त्र में यह कथित है कि छन्दहीन शब्द का कोई अस्तित्व नहीं होता है[1] । निरुक्तवृत्ति में यह प्रोक्त है कि छन्दाभाव में वाचोच्चारण असम्भव है[2] । वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए छन्दस् का ठीक ज्ञान अनिवार्य है । इसके लिए छन्दो-विषयक ग्रन्थों की रचना हुई ।

संस्कृतभाषा में छन्दस् नाम बहुत से अर्थों का वाचक है । यहाँ पर उन्हीं अर्थों का प्रतिपादन किया गया है जिनका वेदाङ्ग में पुष्टि की गयी है । सूर्यरश्मि गायत्री सप्तछन्दों में कथित है[3] । कात्यायनमुनि ने ऋक्सर्वानुक्रमणिका में छन्द को अक्षरपरिमाक कहा है[4] । अथर्ववेद की वृहत्सर्वानुक्रमणिका में भी छन्द को अक्षरसंख्यावच्छेदक कहा है[5] । एवंविध यह प्रतीत होता है कि जिससे उच्चारण काल में गद्यपद्य की अक्षरसंख्या का ज्ञान होता है उसे ही छन्द कहते हैं ।

1- "छन्दो हीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम् ।" -ना0शा0 14/40

2- "नाच्छन्दसि वागुच्चरति" - निरु0 6/2

3- "सप्ताश्वरूपश्छन्दांसि वहन्तो नामतोध्रुवम् ।गायत्रीदेव त्रिष्टुप् च अनुष्टुप्जगती तथा पङ्क्तिश्च वृहती चैव सप्तमम् ।।" -वा0पु05 1/64/653

4- "यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः ।" - ऋ0 सर्वानु02/6

5- "छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते ।" - अ0वृ0सर्वानु0 ।

"छन्दस्" पद के बहुत से निर्वचन प्राप्त होता है, उनमें से कुछ का प्रतिपादन किया जा रहा है। देवतब्राह्मण में[1] "छदि" धातु से, शतपथ-ब्राह्मण में "छद्" धातु से व्युत्पन्न हुआ है। उणादिसूत्र में "चदि" धातु से निष्पन्न हुआ है।[2] छन्दसूत्र वृत्तिकार हर्षट ने छन्द शब्द का "चदि" धातु से व्युत्पत्ति स्वीकार किया है[3]। अमरकोश के व्याख्या में क्षीरस्वामी ने षान्त और अकारान्त दोनों को ही छन्द शब्द का बोधक माना है[4]। यास्क ने निरुक्त में छन्दस् का निर्वचन छद् {ढकना} धातु से किया है- "छन्दांसि" छादनात्" अर्थात् छन्द भावोंकोआच्छादित करके समष्टि रूप प्रदान करते हैं। कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण दिया है कि संख्या विशेष में वर्णों की सत्ता छन्द है[5]। प्रत्येक छन्द के वर्णों की संख्या निर्धारित रहती है।

वर्तमान समय में उपलब्ध छन्दग्रन्थों में पिङ्गल का "छन्दसूत्र" ही प्रमाणभूत ग्रन्थ है किन्तु संस्कृतवाङ्मय में पिङ्गलपूर्व भी छन्दशास्त्र के प्रवक्ताओं के नाम प्राप्य है। शिवपार्वती, नन्दी, गुह, सनत्कुमार, वृहस्पति,

---

1- "छन्दांसि छन्दयतीति वा।" देव0 ब्रा0 1/3

2- "यदस्मा अच्छादयसतस्माच्छन्दसि।" शत0 ब्रा0 8/5/2।

3- "छन्दति ह्लादं करोति दीव्यते वा अव्वतया इति छन्दः।

4- "छन्दति छन्दः {छन्दस्} छन्दयति + आह्लादयते छन्दः।"- -छ0सू0{जयदेव 2} अ0को 2/7/22, 3/3/232

5- "यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः। सर्वानुक्रमणी {कात्यायन}

इन्द्र, शुक्र, कपिल, माण्डव्य, वशिष्ठ, सैतव, भरत, कोहल, कौण्डिन्य, ताण्डी, अश्वतर, कम्बल, काश्यप, वाभ्रव्य, पतन्जलि से लेकर शौनक, यास्क, आश्वलायन, पिङ्गल प्रभृति आचार्य हैं[1]। पिङ्गलछन्दसूत्र में लौकिक वैदिक छन्दों के बीच के हैं। पिङ्गल से अर्वाचीन छन्दशास्त्रकारों का छन्द ग्रन्थ लौकिक मात्र है। संस्कृत वाङ्मय में एकादश छन्दशास्त्र प्रवक्ता देवनन्दी, जयदेव, गणस्वामी, दण्डी, पाल्यकीर्ति दभसागर, मुनि जयकीर्ति, कालिदास केदारभट्ट, हेमचन्द्र गङ्गादास आदि प्रसिद्ध है[2]। ये लौकिकछन्द के अन्तर्गत ही विवेचित है। इनमें छन्द का मात्रिक तथा अक्षर ये दो भेद है। मात्रिकों में मात्रानुसार तथा द्वितीय अक्षरानुसार ही पद्यरचना व मन्त्ररचना होती है। वेदों में अक्षरछन्दों का प्राधान्य है। अक्षरछन्द द्वयविध कथित है। अक्षरगणनानुसार तथा पादाक्षरानुसार है। जहाँ केवल अक्षर का अनुसरण करके पद्यरचना होती है उसे अक्षरगणनानुसारी कहते है तथा यत्र पादानुसारी अक्षरगणना होती है वह पादाक्षरगणनानुसारी मन्त्र होता है। अत्र अक्षरशब्द स्वरवाच्य है[3]।

वैदिक छन्दों के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। क्वचित

1- वै० छ० मी० 64.

2- वै० छ० मी० 65-66

3- "स्वरोऽक्षरम्, स्वराद्यैर्व्यन्जनैः, उत्तरेश्चावसितैः।

-वा०प्रा० 1/99.

तीन,[1] चार,[2] सात,[3] चौदह,[4] इक्कीस,[5] छब्बीस,[6] प्रकार के छन्दों का उल्लेख है । अथर्ववेदानुसार प्रति छन्दों में चार अक्षर विद्यमान है[7]। अतः प्रथम से लेकर छब्बीस पर्यन्त वैदिक छन्दों में एक सौ चार संख्यक अक्षर होते हैं । इनमें गायत्री से पूर्व पान्च छन्दों का व्यवहार नहीं होता है[8]। लौकिक छन्दों का इस प्रबन्ध में अनुपयुक्त होने से उल्लेख विहित नहीं है ।

1- "गायत्री, त्रिष्टुब्जगती" -ऋ0सं0 1/164/23

2- "गायत्र्येवोष्णिग भवद् पङ्क्तिमल्पामपेक्षते । अनुष्टुपेव तेन च चत्वारिभाषते ।" - -छ0 अनु0 6/1/7

3- "हयाश्च सप्तछन्दांसि तेषां नामानि मेश्रृणु, गायत्री च वृहत्युष्णिजगती त्रिष्टुबेव च । अनुष्टुप् पङ्क्तिरित्युक्ताश्छन्दांसि हरयो रवेः ।" -वि0पु0{द्वितीयांश} 7/8

4- "चतुर्दशेत्थं कविभिः पुराणैश्छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि । इयन्ति दृष्टानि तु संहितायामन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति ।"-ऋ0सं0{वेंकटमाधवकृत व्याख्या}

5- "गायत्र्युष्णिमनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगती इति जगतीशक्कर्यति शक्कर्यष्टयत्यष्टिधृत्यतिधृतिकृति प्रकृत्याकृतिविकृतिसंकृत्यभिकृत्युत्कृत्येकविंशतिः छन्दांसि ।" -सर्वानु0प्र0प0 37.

6- "षड्विंशतिः स्मृतान्येभिः पादैश्छन्दांसि । संख्यया ।" -ना0शा0 4/43

7- "सप्तछन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्योन्यास्मिन्नर्पितानि ।" -अ0सं08/9/9

8- "गायत्री प्रभृति त्वेषांप्रमाणं संप्रचक्ष्यते । प्रयोगनानि पूर्वाणि प्रयोगो न भवन्ति हि ।।" - ना0शा0 14/54.

4- "निरुक्त"

इसमें वैदिक शब्दों का निर्वचन किया गया है। इसकी भी व्याकरणादि ग्रन्थों के साथ षडङ्गों में गणना की गयी है। "निर" पूर्वक वच् धातु से परिभाषण अर्थ में क्त तथा ल्युट् प्रत्यय करने से निरुक्त शब्द की व्युत्पत्ति होती है। निरुक्त पद के प्रयोजन के विषय में विद्वद् समुदाय में मतैक्य नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अनुयायियों के लिए तो यास्क-निरुक्त मानवबुद्धि का दुरुपयोग मात्र है। उसका निर्वचन पद्धति भी दोषपूर्ण है[1]। ऐसा अनुमान है कि शब्दविश्लेषण ही निरुक्त का लक्ष्य है ऐसा विचार करके ही पदवाक्य प्रमाणज्ञ यास्क के प्रति दोषदृष्टि रखते हैं।

यास्क ने निरुक्त को व्याकरण का पूरक स्वीकार करके स्वस्वार्थ-साधक भी कहा[2]। एवंविध यह अनुमान है कि यास्क का कथन सत्य है क्योंकि निरुक्त और व्याकरण दोनों के प्रयोजन में साम्य नहीं हैं अन्यथा उसका अङ्गत्व होना बाधित होता। निरुक्त और व्याकरण दो विधायें है अस्तु दोनों का प्रयोजन भी भिन्न हैं। व्याकरण का प्रयोजन शब्दान्वाख्यान है परन्तु निरुक्त का प्रयोजन अर्थान्वाख्यान है। निरुक्त एक शब्द के जितने भी अर्थ सम्भव हैं उनका बोध कराता है। यत्र एक धातु से अर्थज्ञान सम्भव नहीं होता तत्र यथा साम्य परार्थ का भी ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थात् यत्र एक धातु से शब्द

1- इटि० आफ या० 8

2- "तदिदं विद्यास्थानं, व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वस्वार्थसाधकम्"

-निरु० 1/15

का वाच्यार्थ बोध नहीं होता है वहाँ पर उसके समरूप अन्य धातु का आश्रय लेते हैं । यास्क भी निरुक्त में अर्थान्वाख्यान को लक्ष्य करके ही प्रतिपादन किया है । उनके मत में समानार्थक धातुओं का निर्वचन भी समान भिन्नार्थ का भिन्न कतानुसार अर्थ की दृष्टि से निर्वचन कर लेना चाहिए । यद्यपि स्थूलदृष्टि से प्रतीत होता है कि यास्क ने प्रकृति और प्रत्यय का निर्देशपूर्वक शब्दान्वाख्यान किया है किन्तु विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अर्थान्वाख्यान किया है । निरुक्त व्याख्याकार दुर्गाचार्य भी निरुक्त का प्रयोजन अर्थान्वाख्यान ही स्वीकार किया है । अनन्तभट्ट भी यास्क के निर्वचन को नामार्थान्वाख्यान ही स्वीकार किया है । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि निर्वचन दोनों ही प्रकारों से हो सकता है । पदार्थ केवल शब्दार्थन्वाख्यान ही नहीं होता अपितु अर्थान्वाख्यान भी होता है । अस्तु अर्थान्वाख्यान ही प्रधान है ।

दुर्गवृत्ति में द्वादश निरुक्तप्रवक्ताओं का उल्लेख है - औदुम्बरायण गार्ग्य, शाकपूर्ण, उपमन्यु, आग्रायण क्रोष्टुकि, वार्ष्यायणि, स्थौलाष्ठीवि, और्णनाभ, कात्थक्य, गालव तैटीकि प्रभृति । यद्यपि यास्क ने निरुक्त को चौदह प्रकार का उल्लेख किया है किन्तु उन्होंने बारह निरुक्तों का कथन किया है । तेरहवाँ यास्क का निरुक्त है तथा चौदहवें के सम्बन्ध में मौन है[1] । वस्तुतः यास्क अन्तिम आचार्य हैं । महाभारत[2] और शतपथब्राह्मण[3] में प्राप्त उल्लेख से यह पता चलता है

1- "निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्" -निरु० 1/13.

2- "यास्कोऽपि मामृषिर्व्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् - यत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ।।" -म०भा० (शा०प०) 342/72,73.

3- "पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्यो भारद्वाजाद् भारद्वाजो भरद्वाजाच्चासुरायणाच्च यास्काच्च ।" -श०ब्रा० 14/5/5/21.

कि यास्क का काल महाभारत के समकालीन था ।

यास्ककृत निरुक्त वस्तुतः "निघण्टु" का व्याख्या-ग्रन्थ है । निघण्टु वैदिक-शब्द-कोष है । निरुक्त में वैदिक-मन्त्रों की निर्वचनात्मक व्याख्या की गयी है । यास्क ने वैदिक देवता वाचक शब्द अग्नि, इन्द्र, वरुण, तथा सविता आदि के मन्त्रों का चतुर्विध निर्वचनात्मक व्याख्या की है- 1• आध्यात्मिक 2-आधिदैविक 3-आधिभौतिक तथा 4- अधियज्ञ । निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश और धातुओं का अनेक अर्थों में प्रयोग करना है[1] ।

5- "ज्योतिष"

वेदप्रवृत्ति यज्ञ सम्पादन में है । अस्तु उसके समय-शुचि अनुकूल ग्रह-नक्षत्रादि की दृष्टि से ज्योतिष की अनिवार्यता है । यह ज्ञान ज्योतिष से ही सम्भव है । अस्तु वेदाङ्•गों में ज्योतिष की परिगणना की गयी है । वेदाङ्•ग ज्योतिष में लगधाचार्य ने प्रतिपादित किया है कि जो ज्योतिष को

1- "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधनिरुक्तम्" ।।

निरुक्त ।

जानता है वही वेद को जानता है[1]।

ज्योतिष सूर्यादि ग्रहों का बोधक शास्त्र है। इसका परनाम ज्योतिशास्त्र है। जीवनमृत्युविषयकज्ञानप्रदाता होने के कारण इसे ज्योतिः शब्द से बोधित किया गया है। कुछ विद्वान इसका मूलस्थान ग्रीसदेश को मानते हैं। भारतीय ग्रीस देश से इस शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किये हैं। ऐसा कथन है कि वेद में ज्योतिष के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन किया गया है। मास तथा नक्षत्रादि के नाम के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि इस शास्त्र का प्रभव हमारे देश से ही हुआ है[2]। सम्प्रति वेदाङ्ग ज्योतिष सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। विद्वानों के मतानुसार इसकी रचना सन् 1408 ई0 में हुई। इसमें ऋक्, यजु, साम तथा अथर्ववेदीय ज्योतिष का प्रतिपादन किया गया है।

यद्यपि कि सम्प्रति भारतीय संस्कृत वाङ्मय के बहुसंख्यक ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं तथापि वेदों में तथा उसके तत्तत शाखाओं में ज्योतिष के प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन होने से इसके काल को वैदिक काल माना जा सकता है।

1- "वेदाहि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानिपूर्वा विहिताश्चयज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं, यो ज्योतिषं वेद स वेदयज्ञम्"।।
-वेदाङ्ग-ज्योतिष 3

2- "मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च, शुचिश्च,
नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च।
सहस्यश्च, तपश्च, तपस्यश्चोपयामगृ-
हीतोऽसि, स सर्वोस्य हस्पत्यायत्वा।
अत्र द्वादशमासादेकमासक्षयमासानुमुल्लेखोऽस्ति।
-वै0सं0 4/14

ज्योतिष द्विविध है, सिद्धान्त और फलित । सिद्धान्त ज्योतिष में तन्त्रकरणादियों का तथा फलित ज्योतिष में जातक-प्रकरण का विशेषतया विवेचन किया गया है । संक्षेपतः यह भी मानव को वेदार्थ का बोध कराता है ।

6- "कल्प"

वेदाङ्गों में कल्पसूत्रों का महत्व सुविदित है । विष्णुमित्र कल्प को वेदविहित कर्मों का व्यवस्थापक मानते हैं[1] । कल्पशब्द की व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - "कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र स कल्पः[2], अर्थात् याज्ञिय विधियों का समर्थन और प्रतिपादन करना है । इसमें वैदिक कर्मों का विधिवत् प्रतिपादन किया गया है[3] । सम्प्रति चतुर्विध कल्पसूत्र विद्यमान है -

1- श्रौतसूत्र 2- गृह्यसूत्र 3- धर्मसूत्र 4- शुल्वसूत्र ।

चारों वेदों से सम्बन्धित कल्पसूत्र निर्मित हैं । कल्पसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय वैदिक कर्मकाण्ड ही है । दुर्भाग्य से सम्प्रति भारतीयों की याज्ञिक कर्मों के प्रति अनास्थावश कल्पसूत्रों की स्थिति शोचनीय हो गयी है ।

1- "कल्पो वेदविहितानाम् कर्मणाम् -आनुपूर्वेणकल्पनाशास्त्रम्"

-ऋ०प्रा० {वर्गवृत्तौ} पृ०13.

2- ऋग्वेदभाष्यभूमिका- सायण ।

3- "कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्"।

"विष्णुमित्रकृत-ऋक्-प्राति० की वृत्ति 13.

"शिक्षा एवं शिक्षा साहित्य"

शिक्षा का स्वरूप -

शिक्षा का वेदाङ्गों में सर्वप्रथम स्थान है । "शिक्षा" शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य तात्पर्य यह है कि वह विद्या जो स्वर, वर्णादि उच्चारण की शिक्षा दे[1]। वैसे "शिक्षा" शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है । प्रथम योगगत् तथा रूढिशक्तिगत । प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार-"शिक्षयति या सा शिक्षा" । अर्थात् जो वर्णोच्चारण की विधि बताये,उसे शिक्षा कहते हैं । द्वितीय व्युत्पत्त्यानुसार "शक्तुं शक्तो भवितुम् इच्छा शिक्षा" । अर्थात् सामर्थ्य की इच्छा होना ही शिक्षा का तात्पर्य है । इसमें सामर्थ्य के अन्तर्गत रूढ़ शब्दों के उच्चारण इत्यादि के विषयों को सम्मिलित किया जाता है । सामान्यतः योग से निष्पन्न अर्थ को मानते हुए जिस किसी विषय को सिखाने वाले ग्रन्थ को शिक्षा ग्रन्थ कहा जाता है तथापि योग की अपेक्षा रूढ़ि के प्राधान्य के कारण जिन ग्रन्थों का रूढ़ि शक्ति के द्वारा शिक्षात्व प्रतीत हो मुख्यतः उन्हें ही शिक्षा ग्रन्थ कहा जाना चाहिए । इसलिए प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में उन्हीं ग्रन्थों का मुख्यतः विवेचन किया जायेगा ।

1- "स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा"।

- सायण, ऋ०भा० भूमिका पृ०49.

शास्त्रकारों ने भी "शिक्षा" शब्द का रूढ़ अर्थ में ही प्रयोग किया है । तैत्तिरीयोपनिषद के अनुसार शिक्षा के अन्तर्गत वर्ण, स्वर, मात्रा, बल साम तथा सन्तान का ग्रहण किया गया है[1] -

§1§ वर्ण- वर्ण से अभिप्राय अक्षरों से है । संस्कृत वर्णमाला में 63 वर्ण या 64 वर्ण है[2] ।

§2§ स्वर - उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर है[3] ।

§3§ मात्रा - स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय को मात्रा कहते हैं- ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत । ह्रस्व की 1 मात्रा, दीर्घ की 2 मात्रा और प्लुत की 3 मात्रा होती है[4] ।

§4§ बल - वर्णोच्चारण में होने वाले प्रयत्न तथा उनके उच्चारण स्थान को बल कहते हैं । प्रयत्न दो हैं - 1- आभ्यन्तर तथा 2- वाह्य। स्थान आठ हैं -कण्ठ, तालु आदि[5] ।

1- "शिक्षा व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः ।" -तैत्ति0उप0शिक्षा वल्ली

2- "त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ।।" -पा0शि03

3- "उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्चस्वरास्त्रयः ।" -पा0शि011

4- "ह्रस्वो दीर्घः प्लुतइति कालतो नियमा अचि"।। -पा0शि011

5- "अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कंठशिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च"।। -पा0शि013

प्रयत्न - वर्णोच्चारणार्थ उच्चारणावयव जिह्वादियों में जो व्यापार होता है उसे ही प्रयत्न कहते हैं । प्रयत्न द्विविध होता है । वर्णाभिव्यक्ति के पूर्व मुख में जो व्यापार होता है या जो व्यापार उत्पन्न होता है उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं । आभ्यन्तर प्रयत्न को शिक्षाग्रन्थों में "करण" शब्द से अभिहित किया गया है[1]। जो व्यापार मुख से बाहर होता है उसे बाह्य प्रयत्न कहते हैं। बाह्य प्रयत्न को "अनुदान" कहा जाता है ।

स्थान - कण्ठ, शिर, जिह्वा, मूलदन्त, नासिक, ओष्ठ ताल्वादियों को स्थान कहा जाता है । यथा अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्या इत्यादयः[2] ।

{5} साम - समविधि से अर्थात् स्पष्ट एवं सुस्वर से वर्णोच्चारण करना । वर्णों का स्पष्ट उच्चारण हो, किसी वर्ण को दबाकर न बोलना, बहुतशीघ्रता से न बोलना । स्वर एवं अर्थज्ञान के सहित प्रत्येक वर्ण का स्पष्ट उच्चारण करना । पाणिनि ने सुन्दर ढंग से पढ़ने वाले पाठक के ये गुण बताये हैं -
1- माधुर्य 2- अक्षर व्यक्ति {अक्षरों का पृथक्-2 स्पष्ट उच्चारण} 3-पदच्छेद {पदों का पृथक्-2 प्रतिपादन} 4- सुस्वर 5- धैर्य 6- लयसमर्थ[3] । इसके विपरीत

1- "वर्णानाम् प्रयोगेषु करणं स्याच्चतुर्विधम् ।
विवृतं संवृतं स्पृष्टमस्पृष्टमेव च ।।" -मा०शि० 6/8

2- आपि० शि० पृ० 1 में 21 सूत्र ।

3- "माधुर्यमक्षर व्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थश्चषडेते पाठका गुणा ।। पा०शि० 33

अधम पाठकों में परिगणित प्रकारों का निर्देश इस प्रकार है - 1- गीती 2- शीघ्री 3- शिरः कम्पी 4- लिखितपाठक 5- अनर्थज्ञ 6-अल्पकण्ठ इनके अतिरिक्त पाणिनि ने अनेक प्रकार के निन्दनीय पाठकों का निर्देश किया है। वे लिखते हैं कि शंकित, भीत, उत्कृष्ट अव्यक्त, सानुनासिक, काकस्वर, खींचकर, स्थान रहित, उपाङ्ग (मुँह से बुदबुदाना), दष्ट (दाँत से शब्दों को पीसना), त्वरित निरस्त विलम्बित गद्गद प्रगीत निष्पीडित, अक्षरों को छोड़कर तथा दीन पाठ का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे पाठ करने से अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती[2]।

(6) सन्तान - इस शब्द का अर्थ है संहिता, अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व रहने पर कभी-कभी दो पदों का आवश्यकतानुसार शीघ्रता से एक के अनन्तर उच्चारण होता है, इसे ही संहिता कहते हैं। संहिता होने पर ही पदों में सन्धि हुआ करती है। उदाहरण के लिए "वायो आयाहि में दो स्वतन्त्र वैदिक पद हैं। जब एक ही वाक्य में दोनों का साथ-साथ उच्चारण होता है, तब सन्धि के कारण इनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। पूर्व उदाहरण का सन्धिजन्य रूप वायवायाहि होगा। इसी प्रकार "इन्द्रागनी आगतम्" में

1- गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः ।। (पा०शि०32)

2- शङ्कितं भीतमुत्कृष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसि गतं तथा स्थान-विवर्जितम्।।
उपाङ्ग दष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गदगदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरञ्च वदेन्नदीनं न तु सानुनास्यम् ।।
-पा०शि०34-35

प्रकृतिभाव हो जायेगा । मन्त्रों के उच्चारण के लिए उपयोगी होने पर भी व्याकरण शास्त्र में ही इस विषय का विशेष विधान किया गया है । इसलिए "शिक्षा ग्रन्थों" में इस विषय की उपेक्षा की गयी है ।

§7§ यम - चार यमों का वर्णन शिक्षाओं में किया गया है । यम पद की व्याख्या नारदीय शिक्षा में किया गया है जो अन्त्य वर्ण पूर्व में होता है तथा अन्त्य वर्ण पर में होता है तो मध्य में पूर्ववर्ण का सवर्ण यम होता है[1] ।

§8§ अनुस्वार - शिक्षाओं में अनुस्वार का अतिसुन्दर विवेचन किया गया है । व्यास शिक्षा के अनुसार रेफोष्मभाव नकार से पूर्व उसके बाद रेफोष्म से परे प्लुतों को नकार से पूर्व नकार से यकार रूप लुप्त हो जाने से पूर्व में अनुस्वार का आगम होता है । यथा - अग्नी ठ० रफसुषद:[2] ।

1- "अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वोन्त्यश्चपरतो यदि,
तत्रमध्येयमस्तिष्ठेत् सवर्ण: पूर्ववर्णयो: ।

-ना०शि०2/8§पृष्ठ 52§

2- "रेफोष्मभावात्तु नात्पूर्वं लुप्तान्माच्च तदुत्तरात् ।
नकाराद्याकृतेर्लुप्तादनुस्वारागमो भवेत् ।।"

-व्या०शि०236·37

(9) सन्धि - यद्यपि सन्धि शिक्षाओं का विषय नहीं है फिर भी प्रसङ्गवशाद कहीं कहीं विवेचन किया गया है । मुख्यतया लोपागमविकारप्रकृतिभाव का उल्लेख मिलता है[1] ।

(10) स्वरभक्ति- शिक्षाओं में स्वरभक्ति का सम्यक् विवेचन किया गया है । ऊष्म वर्ण के साथ संयोग होने पर रेफ का वेद में विलक्षण उच्चारण होताहै।उसे ही स्वरभक्ति कहते हैं । लकार का भी स्वरभक्ति होता है । यथा-वरलम्, मल्हा[2] ।

(11) विवृति - दो स्वरों के बीच में जो सन्धिकाल होता है उसे विवृति कहते हैं[3] । यथा- द्यावापृथिवी उपश्रुत्या[4] ।

(12) अवग्रह- कृदन्त तद्धित तथा सनाद्यन्त धातुओं के वृत्तियों के बोध के लिए जो विच्छेद होता है उसे अवग्रह कहते हैं ।

(13) रङ्ग - शिक्षाकारों के मतानुसार रङ्ग अक्षर-समाम्नाय के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं है अपितु आनुनासिक धर्म विशिष्ट अक्षरसमाम्नाय का वर्ण ही रङ्ग

1- "सन्धिश्चतुर्विधो भवति । लोपागमविकारप्रकृतिभावश्चेति" ।

-याज्ञ0शि027उत्तरार्द्ध ।

2- "स्वरोदूर्ध्वोष्मणि रेफस्य लस्यापि स्वरभक्तता ।।"

-व्या0शि0(स्वरभक्ति पृ0(23)

3- "द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते विवृतिस्तत्र विज्ञेया---।"

-याज्ञ0शि0उत्तरार्द्ध 19/28

4- अ0 सं0 3/16/2.

होता है । नकारान्त पद के पूर्व में होने वाले स्वर के पर में उत्पन्न होता है[1]।

§14§ कम्प - उदात्त और स्वरित के उदय होने पर स्वरित में जब अनुदात का हनन होता है उसे कम्प कहते हैं । कम्पोच्चारण में मध्यभाग का कम्पन आद्यन्त साम्यत्व होना अपेक्षित है[2]।

§15§ विराम- शिक्षाओं उच्चारण के समय बिना विराम करना चाहिए । इस विषय का निरूपण किया गया है । व्यासशिक्षा में प्रणव, वाक्य, अवग्रह में अर्ध-मात्रिक विराम होता है । यथा- ऊँ॰पाकयज्ञमिति[3]।

§16§ वृत्ति- शिक्षाओं में कालविचार वृत्ति अवरोध से किया गया है । उच्चारण की तीन गतियाँ होती हैं । द्रुत,मध्य और विलम्बित । इसमें मध्यम वृत्ति ही अभिनन्दित है[4]।

§17§ हस्तचालनविधि- शिक्षाकारों के मतानुसार स्वरप्रयोग समय हस्तचालन होता है । प्राय: सभी शिक्षाओं में हस्तस्वर ज्ञान की प्रशंसा, हस्तस्वरज्ञान से हीन की निन्दा की गयी है । माण्डूकी के मतानुसार जो विप्र हस्तहीन मन्त्रोच्चारण करता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है[5]।

1- "नकारान्ते पदे पूर्वे स्वरे च परत: स्थिते ।
अकारं रक्तमित्याहु: नकारेण तु रज्यते ।।" -ना॰शि॰2/4/5

2- मध्ये तु कम्पयेत् कम्पमुभौ पार्श्वौ समौ भवेत् ।
।।" - पा॰शि॰130

3- "प्रणवान्ते पवर्गोदध्वेऽवग्रहस्यान्त एव च ।
वाक्यान्ते तु विरामस्त्व सार्धमात्र प्रकीर्तित: ।।" -व्या॰शि॰455/50

4- व्या॰शि॰ 475/479

5- "हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्,
ऋग्यजु:सामभिर्दग्धो वियोगनिमगच्छति।।" -मा॰शि॰3/3

इस प्रकार शिक्षाओं में वर्णों का सामान्य उच्चारणविधि, सवनादि व्यवस्था, उच्चारणगुण दोष, उच्चारण में कौन क्षम अथवा अक्षम है । शिक्षक का गुण, विद्यार्थी लक्षण, मेधावीप्रशंसा तथा मूर्खनिन्दा इत्यादि विषयों का विवेचन किया गया है । उपर्युक्त इन विषयों का विस्तृत विवेचन अग्रिम अध्यायों में किया जायेगा ।

"प्रातिशाख्य"

उद्भव -

चिरकाल तक वेदाध्ययन का आधार मौखिक रहा है । इसलिए वैदिक मंत्रों के वाह्यस्वरूप में विकार आना प्रारम्भ हो गया था । जिसको रोकने के लिए उच्चारण सम्बन्धी नियमों का निर्धारण किया गया । इसके लिए प्राचीन काल में परिषदों का गठन होता था । उन परिषदों में ध्वनि सम्बन्धी विचार विमर्श किये जाते थे । इसी प्रकार से उद्भूत नियमों के समुच्चय रूप में प्रातिशाख्यों का आविर्भाव हुआ । परिषदों के माध्यम से होने के कारण ही प्रातिशाख्यों को आविर्भूत पार्षद ग्रन्थ भी कहा गया है ।

प्रयोजन -

प्रातिशाख्य वेदों के लक्षण ग्रन्थ हैं । वैदिक मन्त्रों को विकृतियों से बचाना ही प्रातिशाख्य ग्रन्थों का मुख्य प्रयोजन है । वेदों की मौखिक उच्चारण परम्परा एवं उसकी विशेषताओं को भविष्य के लिए सुरक्षित रखना ही प्रातिशाख्य

ग्रन्थों का मुख्य प्रयोजन है । वेदों की प्रत्येक शाखाओं से सम्बन्धित वर्ण, पद, संधि, स्वर तथा छन्द आदि की पूर्ण जानकारी प्रातिशाख्यों में सुलभ है । इस प्रकार मन्त्रों के बाह्य स्वरूप बोध पूर्वक अर्थज्ञान कराना ही प्रातिशाख्यों का प्रयोजन है । ऋग् प्रातिशाख्य में कहा गया है कि ध्वनि नियमों का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला आचार्य पदवी से अलंकृत होता है[1] । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में कहा गया है कि अध्येता तथा आचार्य वह है जिसे गुरुत्व, लघुता तथा साम्य आदि का पूर्ण ज्ञान हो[2] ।

1- "पदक्रमविभागज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः ।
स्वरमात्राविशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसम्पदम् ।।
-ऋ0प्रा0 1/8

2- "गुरुत्वं लघुतासाम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च ।
लोपागमविकाराश्चप्रकृतिर्विक्रमः क्रमः ।
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासोनादोऽङ्गमेव च एतत्सर्वं तु विज्ञेयं
छन्दो भाषामधीयता । पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः । स्वरमात्रा
विभागज्ञोगच्छेदाचार्यसंसदम् ।" -तै0प्रा0 24/5,6

प्रातिशाख्य शब्द की व्याख्या -

"प्रातिशाख्य" व्युत्पत्तिमूलक शब्द है । जिसका अभिप्राय है कि वेद की किसी शाखा विशेष से सम्बन्धित होना । एक-एक शाखा से सम्बन्धित होने के कारण ही इन ग्रन्थों को प्रातिशाख्य की संज्ञा दी गयी । वाजसनेयि प्रातिशाख्य के भाष्यकार श्री अनन्तभट्ट ने "प्रातिशाख्य" शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है- "शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखम्, प्रतिशाखभवम् इति प्रातिशाख्यम्"[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्यानुसार किसी एक शाखा से नहीं बल्कि एक से अधिक शाखाओं से सम्बन्धित ध्वनि-नियमों का निरूपण किया गया है[2] । इसके अतिरिक्त बहुत से विद्वान् भी प्रातिशाख्य को वेद की किसी शाखा विशेष से सम्बन्धित न मानकर कईशाखाओं से सम्बन्धित मानते हैं। परन्तु यह धारणा सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि अधिकांश भारतीय-साहित्य विजातीय शासकों के कोष का भाजन बनकर काल कवलित हो गया है । वेदों की प्रत्येक शाखों का अपना एक अलग प्रातिशाख्य रहा होगा । आज सभी प्रातिशाख्य उपलब्ध नहीं होते हैं किन्तु अनुपलब्धि के आधार पर एक प्रातिशाख्य को वेद की कई शाखाओं से सम्बन्धित समझना उचित नहीं । एक प्रातिशाख्य किसी एक शाखा से ही सम्बद्ध होता है, और इसी आधार पर उनका प्रातिशाख्य नाम पड़ा ।

1- वा० प्रा० 1/1 पर अनन्तभट्ट का भाष्य ।

2- "द्वित्रि शाखाविषयत्वेऽपि तदसाधारणतया उपपत्तेः तथा बह्वृचानां शाकलवाष्कलकात्मकशाखाद्वय विषयं प्रातिशाख्यम् प्रसिद्धम् ।"

-तै० प्रा० 4/11

प्रातिशाख्यों को वैदिक समाज के एक विशेष वर्ग अर्थात् विशेष परिषद से सम्बन्धित होने के कारण "पार्षद" भी कहा जाता है[1]। प्रायः भाष्यकारों ने ऋग्वेद के लिए "पार्षद" शब्द का प्रयोग किया है । चारणार्थ में भी इस शब्द का प्रयोग किया गया है । यास्क मतानुसार प्रातिशाख्यों में प्रतिचरण का उच्चारणादि विषयक नियम उपदिष्ट किये गये हैं[2]। श्री दुर्गाचार्य लिखते हैं कि अध्येताओं के परिषद में एक शाखा से सम्बन्धित ध्वनिनियमों पदविभाग, प्रगृह्य,क्रमपाठ संहिता पाठ स्वरों का लक्षण का प्रतिपादन किया जाता था उसे ही प्रातिशाख्य शब्द व्यवहृत किया गया । प्रातिशाख्य ही पार्षद है[3]। महाभाष्य में छन्दपद से प्रातिशाख्य को व्यवहृत किया गया है[4]। प्रत्येक प्रातिशाख्य अपने वेदों के चरणों के साथ सम्बद्ध है[5]। चरण का तात्पर्य है -शाखाओं का समूह ।

1- "सूत्र भाष्यकृतः सर्वान् प्रणम्य शिरसाशुचिः ।
शौनकन्च विशेषेण येनेदं पार्षदं कृतम् ।। ऋ0प्राति0 1/10

2- "पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि । -निरु01/17

3- "स्वचरणपरिषदि ते यैः प्रतिशाखानियतमेव पदावग्रह प्रगृह्यक्रमसंहिता स्वरलक्षणमुच्यते, तानीमानि पार्षदानि प्रातिशाख्यानीत्यर्थः । - निरु0{दुर्ग0}1/47

4- "यद्येवं सुहृद् किमन्यान्यप्येवं जातीयकानि नोपदिशति ? कानि पुनस्तानि ? स्थानकरणानुप्रदानानि । व्याकरणं नामेयमुत्तराविद्या सोऽसौ छन्दःशास्त्रेषु अभिविनीतोपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते ।"- म0भा01/2/32

5- धर्मशास्त्राणांगृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्य लक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते । -तन्त्रवार्तिक 5/13

शाखायें चरणों के अवान्तर भेद कही जा सकती है । चरण-व्यूह में कहा गया है कि वेदराशि के चार विभाग ही चरण है[1] ।

प्रतिपाद्य-विषय -

प्रातिशाख्यों में संहिताओं की प्रत्येक शाखा का ध्वनिविषयक अध्ययन किया गया है । इनमें ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से उच्चारण-प्रक्रिया उच्चारण-स्थान उच्चारणावयव, मंत्रों के उच्चारण की विविध अवस्थायें, अक्षर और उसका आधार ध्वनियों का वर्गीकरण, वर्गीकरण के विभिन्न आधार, उच्चारण में लगने वाला काल वर्णों के संयुक्तोच्चारण से होने वाली विकृतियाँ स्वराघात, ध्वनियों के उत्पन्न होने की सामान्य-प्रक्रिया, वैदिक मंत्रों के शुद्ध पाठ के लिए आवश्यक निर्देश हस्तसंचालन, संधियाँ, क्रमपाठ, पदपाठ आदिअनेक महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है । ऋग्वेदप्रातिशाख्य में छन्दों के विषय में भी पर्याप्त विवेचन किया गया है ।

प्रातिशाख्यों का परिचय -

यद्यपि कि 60§साठ§ आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं तथा उनके नाम से प्रातिशाख्य भी रचित थे । परन्तु प्रायः सभी कालकवलित हो गये । उनके नाम तक विस्मृत हो गये । फिर भी सम्प्रति जो उपलब्ध है उनके नाम इस प्रकार हैं -

---

1- वेदराशेः चतुर्विभागाः चरण उच्यते ।

-च0व्यू01/1 पर महिदास

1- ऋग्वेद - प्रातिशाख्य

2- तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य

3- वाजसनेयि प्रातिशाख्य अथवा शुक्ल-यजुर्वेद प्रातिशाख्य

4- अथर्ववेद प्रातिशाख्य

5- मैत्रायणी- प्रातिशाख्य

6- साम प्रातिशाख्य

अन्य प्रातिशाख्य 7-चतुरध्यायिका

8- ऋक्तन्त्र

1- <u>ऋग्वेद-प्रातिशाख्य-</u>

ऋग्वेद की सभी शाखाओं के प्रातिशाख्य हैं परन्तु अधुना आचार्य शौनक का ऋग्वेद प्रातिशाख्य ही प्राप्त है[1]। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन अध्यायों तथा अठारह पटलों में विभक्त है । प्रत्येक पटल को वर्गों में विभक्त किया गया है । प्रथम पटल का नाम संज्ञाप्रकरण है । स्वर, व्यन्जनतथा स्वरभक्ति आदि का विवेचन इस प्रकरण में किया गया है । द्वितीय पटल में सन्धियों का, तृतीय से नवमपटल तक वर्णोच्चारण नियम तथा क्रमस्फोटादि दशम तथा एकादश में क्रमपाठनियम, द्वादश तथा त्रयोदश में वर्णों का स्वरूप, चतुर्दश में उच्चारण दोष तथा पन्चादश से अष्टादश तक छन्दों का निरूपण किया गया है । अधुना ऋग्वेद प्रातिशाख्य की चार

1- "तस्मादादौ तावच्छास्त्रावतार उच्यते शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तुदीक्षितैः दीक्षासु चोदितःप्राहसत्रे तु द्वादशाहिके ।- वि0ऋ0प्र0वृ0

व्याख्यायें उपलब्ध हैं -

1- उवटकृत पार्षद भाष्य

2- पार्षद वृत्ति

3- पशुपतिनाथ शास्त्रीकृत व्याख्या

4- विष्णुमित्रकृत वर्गद्वयवृत्ति

2- <u>तैत्तिरीय प्रातिशाख्य</u> -

यह प्रातिशाख्य कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है । इसमें कुल 24 अध्याय हैं तथा इसमें सूत्रों की संख्या 547 हैं । प्रथम अध्याय में वर्णसमाम्नाय, वर्णाख्या, ह्रस्वदीर्घ-विधान, तथा उदात्तादि स्वर आदि अनेक विषयों का विवेचन है । द्वितीय अध्याय में वर्णोत्पत्ति विषयक विचार किया गया है । जो कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक है । तृतीय अध्याय में संहितापाठ में स्थित दीर्घ स्वर के पदपाठ में ह्रस्व होने का विधान, चतुर्थ अध्याय में प्रग्रह, पंचम अध्याय में संधि विषयक परिभाषा सूत्रों आगम एवं वर्णविकार, षष्ठ अध्याय से त्रयोदश अध्याय पर्यन्त संधिविषयक सर्वाङ्गीण विवेचन प्राप्त होते हैं । चतुर्दश अध्याय में द्वित्वविधान आगम, ऊष्मवर्णों के परिवर्तन आदि से सम्बन्धित पन्चदश से बाइसवें अध्यायपर्यन्त अनुस्वार, अनुनासिक, कम्प, स्वर, क्षेप्रादि स्वरों एवं उनका उच्चारण प्रकार, अङ्गाङ्गिभाव आदि का निरूपण तेईसवां अध्याय वाणी की सात अवस्थायें, कृष्टादि सप्त-स्वरों तथा आह्लारक स्वरों का तथा चौबीसवां अध्याय में संहिता के चतुर्विध भेद, वेदाध्यायी शिष्य एवं अध्यापक आचार्य के गुणों का निरूपण किया गया है । इस प्रातिशाख्य

की तीन टीकाएँ प्रकाश में आयी हैं -

1- माहिषेयकृत पदक्रमसदन भाष्य

2- गार्ग्य गोपालयज्वाकृत वैदिकाभरण भाष्य

3- सोमयार्यकृत त्रिभाष्यरत्न व्याख्या

§3§ वाजसनेयि प्रातिशाख्य -

यह प्रातिशाख्य शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी" चरण से सम्बन्धित है । इसके प्रणेता आचार्य शौनक के शिष्य कात्यायन हैं । सम्पूर्ण ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है तथा सूत्रों की संख्या किसी संस्करण में 725 तो किसी में 740 है । प्रथम अध्याय में शब्दोत्पत्ति, अध्ययनविधि, संज्ञा एवं परिभाषा, वर्णों के उच्चारण स्थान एवं करण तथा अङ्गत्व-विचार, द्वितीय में उदात्तादि स्वरों से सम्बन्धित तृतीय में सन्धिनियमों का चतुर्थ में सन्धिनियम पदपाठ एवं क्रमपाठ के नियम, छठवें में आख्यात तथा उपसर्ग पदों का स्वर सम्बन्धी नियम, सातवें में अवसानाक्षर एवं परिग्रह के नियमों का विधान, आठवाँ अध्याय वर्ण समाम्नाय के कथन के साथ ही वेदाध्ययन-विधि और उसका फल, वर्णों के देवता पदों की चार जातियों तथा पदों के गोत्र, देवता आदि का विवेचन करता है । वाजसनेयि-प्रातिशाख्य पर पाँच टीकाएँ उपलब्ध हैं -

1- उवटकृत मातृभेद भाष्य

2- अनन्तभट्ट कृत पदार्थ प्रकाश

3- श्रीरामशर्माकृत ज्योत्स्ना विवृत्ति

4- रामाग्निहोत्रीकृत प्रातिशाख्यदीपिका

5- अज्ञात लेखक कृत प्रातिशाख्य विवरण

§4§ अथर्ववेद-प्रातिशाख्य -

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह प्रातिशाख्य अथर्ववेद से सम्बन्धित है । यह प्रातिशाख्य तीन प्रपाठकों में विभक्त है । सूत्रों की संख्या 324 है । इसमें संधि-नियम, स्वर तथा पद-पाठ के नियम आदि कतिपय विषय ही प्रतिपादित किये गये हैं । अथर्ववेद प्रातिशाख्य के दो पाठ मिलते हैं - 1- लघु पाठ 2- वृहत्पाठ । संपूर्ण ग्रन्थ सूत्र शैली में उपनिबद्ध है । अथर्ववेद प्रातिशाख्य के लघु पाठ की नौ पाण्डुलिपियाँ और वृहत्पाठ की तीन पाण्डु-लिपियाँ उपलब्ध हैं । इसके बृहत्पाठ को डॉ० सूर्यकान्त 1939 ई० में लाहौर से तथा श्री विश्वबन्धु शास्त्री ने लघु पाठ को 1923 में पंजाब विश्वविद्यालय से प्रकाशित कराया था ।

§5§ मैत्रायणी प्रातिशाख्य -

यहप्रातिशाख्य मैत्रायणी संहिता का प्रातिशाख्य है । इसमें ध्वनि नियम, स्थानप्रयत्न, सन्धि तथा नासिक्यादि का सम्यक् निरूपण किया गया है ।

§6§ सामप्रातिशाख्य-

यह प्रातिशाख्य सामवेद से सम्बन्धित है । इसके रचयिता पुष्प हैं । इसलिए इसे "पुष्पसूत्र" नाम से भी जानते हैं । किन्तु ऋक्तन्त्र के सामवेद सर्वानुक्रमणी में श्रीहरदत्त ने लिखा है, कि यह प्रातिशाख्य वररुचि प्रणीत है।[1]

1- "वन्दे वररुचिं नित्यमूहाब्धेः पारदृश्वनम् ।
पोतो विनिर्मितो येन पुष्प §फुल्ल§ सूत्रशतैरलम् ।।" सा०सर्वा०7

यह ग्रन्थ दश प्रपाठकों में विभक्त है । इसमें उदात्तादियों का युक्तिपूर्ण विवेचन किया गया है ।

अन्य प्रातिशाख्य -

§7§ चतुरध्यायिका -

यह प्रातिशाख्य अथर्ववेद से सम्बन्धित है । यह चार अध्यायों में विभक्त है तथा इसमें सूत्रसंख्या 434 है । इसलिए इसका चतुरध्यायिका पड़ा। इसके रचयिता के विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता फिर कुछ साम्यता के आधार पर आचार्य शौनक को स्वीकार किया गया है । प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं । सम्पूर्ण प्रातिशाख्य सोलह पादों में विभक्त हैं । प्रथम अध्याय में ध्वनियों का वर्गीकरण, अभिनिधान, अक्षर, स्वरों का विवरण स्थान-करण-निरूपण ऋकार, लृकार तथा संध्यक्षरों का स्वरूप, संयुक्त वर्णों का स्वरूप प्रगृह्य, यम नासिक्य स्वरभक्ति, स्फोटनादि, द्वितीय में संधि, स्फोटन एवं कर्षण का विधान तृतीय में स्वरों का दीर्घत्व विधान, द्वित्व, स्वरवर्णों का अन्तस्थ, वर्णों में परिवर्तन स्वरसंधि, स्वरित का स्वरूप एवं उसके प्रकार तथा कम्पस्वर आदि का विवेचन तथा चतुर्थ में प्रगृह्य, अवग्रह एवं क्रमपाठ आदि का विधान किया गया है । चतुरध्यायिका सर्वप्रथम 1862 में अंग्रेजी भाषा में अपनी व्याख्या को ह्विटनी ने प्रकाशित करवाया था । इस पर एक अज्ञात भाष्यकार का भाष्य भी मिलता है ।

§8§ ऋक्तन्त्र -

यह प्रातिशाख्य सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्धित है । इसके प्रणेता आचार्य औदव्रजि या शाकटायन हैं । इसमें पाँच प्रपाठक हैं तथा सूत्रों की

संख्या 287 है । प्रथम प्रपाठक में वर्णसमाम्नाय, वर्णोच्चारण द्वितीय में वर्णों का उच्चारण स्थान, पारिभाषिक शब्द, अभिनिधान अंगत्व-विचार उच्चारणकाल, वृत्ति-निरूपण और उदात्तादि स्वरों का तृतीय में संहिता और सन्धि विषयक विधान तथा विभक्ति लोप तथा चतुर्थ एवं पञ्चम में संधि विषयक विधान किया गया है। इस पर डॉ०सूर्यकान्त की एक अंग्रेजी व्याख्या उपलब्ध है ।

उपर्युक्त प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने कुछ ठोस प्रमाणों के आधार पर कुछ प्रातिशाख्यों के अस्तित्व पर विचार किया है - वाष्कल-प्रातिशाख्य, शांखायन-प्रातिशाख्य, चारायणीय प्रातिशाख्य[1] । रामनाथ-दीक्षित के अनुसार सामवेद से ऋक्तन्त्र के अतिरिक्त सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र, पुष्पसूत्र आदि प्रातिशाख्य भी उपलब्ध है[2] । श्री सातवलेकर ने मैत्रायणी संहिता की श्रीधर अण्णा-शास्त्री लिखित प्रातिशाख्य आश्वलायन-प्रातिशाख्य, सात्यमुग्रि प्राति० गौतम प्रातिशाख्य, लघु-ऋक्तन्त्र, निदानसूत्र, पञ्चविधानसूत्र, प्रतिज्ञासूत्र एवम् भाषिक-सूत्र को प्रातिशाख्य माना गया है[3] ।

1- सं० व्या० शा० इ०, भाग 2, पृ० 284

2- "सन्ति सामवेदे चत्वारि प्रातिशाख्यानि- ऋक्तन्त्रम्,

सामतन्त्रम्, अक्षरतन्त्रम् पुष्पसूत्रेति । सा० तं० की भूमिका पृ० 3

3- द्रष्टव्य- भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका पृ० 235

<u>शिक्षाओं की वेदाङ्गता -</u>

वेद के छः अङ्ग माने गये हैं जिनमें शिक्षा प्रथम स्थान पर अवस्थित है । इसका प्रमुख कारण यह है कि शिक्षा के द्वारा ही स्वर-दोष, वर्ण-दोष, और उच्चारण दोष इत्यादि से मुक्त होना सम्भव है । वैदिक वाङ्मय के विभिन्न वर्णों, स्वरों या शब्दों का उच्चारण किस प्रकार से किया जाय इसे शिक्षा ही बताते हैं । स्वर या वर्ण के शुद्ध उच्चारण की महत्ता को बताते हुए पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता । वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है, जिस प्रकार स्वर के अपराध से "इन्द्रशत्रु" शब्द यजमान का ही विनाशक बन गया -

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।"

(मा॰ यन्दिन॰शि॰।)(पा॰शि॰52)

शिक्षा ग्रन्थों का महत्त्व न केवल वेदों तक ही सीमित है अपितु भाषा के स्वरूप-ज्ञान के लिए भी इनकी उपादेयता है । जिस प्रकार शरीर में हाथ पैर इत्यादि अङ्गों का स्थान है उसी प्रकार वेद रूप शरीर में शिक्षा इत्यादि विभिन्न अङ्गों का स्थान है -

"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोतमुच्यते ।।
शिक्षाघ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।" (पा॰शि॰41-42

इसमें शिक्षा वेद रूपी पुरुष का "घ्राण" कही गयी है । जिस प्रकार सब अङ्गों से परिपुष्ट तथा सुन्दर होने पर भी घ्राण के बिना पुरुष शरीर नितान्त अशोभनीय प्रतीत होता है उसी प्रकार शिक्षा नामक वेदाङ्ग से विरहित होने पर वेद-पुरुष का स्वरूप नितान्त असुन्दर तथा बीभत्स दीख पड़ता है ।

§7§ शिक्षा तथा प्रातिशाख्य का साम्य तथा वैषम्य -

साम्य -

1- ~~साम्य~~-शिक्षा तथा प्रातिशाख्य दोनों में ही वर्ण, मात्रा, स्थान एवं प्रयत्नों का विवेचन किया गया है ।

2- दोनों में ही उदात्तादि, जात्यादि तथा षड्जादि स्वरों का विवेचन किया गया है ।

3- दोनों में ही अनुस्वार स्वरभक्ति यम तथा अयोगवाह के स्वरूप का अनुशीलन किया गया है ।

4- दोनों में ही कम्प, रङ्ग तथा वृत्तियों पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है ।

5- अवग्रह तथा प्रगृह्य का विवेचन भी दोनों में किया गया है ।

उपर्युक्त तथ्यों की समानता के अतिरिक्त भी अन्यान्य तथ्यों की समानता है ।

वैषम्य -

1- प्रातिशाख्यों में प्रति वर्ण का विश्लेषण ही नहीं अपितु वर्ण विकार का भी विस्तृत विवेचन शिक्षाग्रन्थों से भिन्न है ।

2- शिक्षाओं में करणशब्द का प्रयोग आभ्यन्तर प्रयत्न में किया गया है किन्तु प्रातिशाख्यों में उच्चारण अवयव के लिए किया गया है ।

3- शिक्षाओं में वाह्यप्रयत्नों के मध्य स्वरों की स्थिति के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है परन्तु वाह्य प्रयत्न को द्विधा विभक्त करके भिन्न वर्णों की स्वरों की परिगणना करके उनके वाह्य प्रयत्न नाद आदि का प्रतिपादन करना प्रातिशाख्यों की अपनी विशेषता है ।

4- दोनों में ही वर्णों के संवार विवार आदि वाह्य प्रयत्न का विचार किया गया है । परन्तु शिक्षाओं में यह विचार नहीं किया गया है कि कैसे संवार विवार है । यह विचार प्रातिशाख्यों में ही किया गया है ।

5- शिक्षाओं में लोप, आगम, वर्णविकार तथा प्रकृतिभावरूपसन्धियों का मुख्यतया निरूपण किया गया है किन्तु प्रातिशाख्यों में अन्य सन्धियों का भी विवेचन किया गया है ।

6- शिक्षा और प्रातिशाख्य में स्थान भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है । यथा- ऋक्प्रातिशाख्य में "ऐ" का तालुस्थान तथा औ और ओष्ठस्थान कहा गया है किन्तु शिक्षाओं में इन स्वरों का स्थान कण्ठतालु तथा कण्ठोष्ठ कहा गया है ।

7- शिक्षाओं का प्रधान विवेच्य स्वर साम स्वर षड्जादि तथा आर्चिकस्वर उदात्तादि हैं किन्तु प्रातिशाख्यों में मुख्यतया वार्णिकस्वर अकारादियों का ही प्रतिपादन किया गया है ।

8- शिक्षाओं में हस्तचालनविधि उसके गुण दोष आदि का सविस्तार विवेचन किया गया है ।

9- शिक्षाओं में विराम विषयक विचार किया गया है किन्तु प्रातिशाख्यों में कोई इसका उल्लेख नहीं है ।

10- शिक्षाओं में छन्द का विवेचन किया गया है किन्तु प्रातिशाख्यों में नहीं ।

11- प्रातिशाख्यों में व्युत्पत्ति सम्बन्धी चिन्तन यत्र तत्र प्राप्त होता है परन्तु शिक्षाओं में इसका सर्वथा अभाव है ।

12- प्रातिशाख्यों में दोषविचार किया गया है । परन्तु शिक्षाओं में नहीं ।

13- शिक्षाओं में उच्चारण में शक्ताशक्त विवेक किया गया है किन्तु प्रातिशाख्यों में नहीं ।

14- शिक्षाओं में विद्याप्राप्ति के उपाय का उल्लेख किया गया है किन्तु प्रातिशाख्यों में इससे सम्बन्धित कोई कथन नहीं है ।

15- शिक्षाओं में शिक्षक की योग्यता विषयक विचार प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु प्रातिशाख्यों में नहीं ।

16- शिक्षाओं में सद्गुरु की प्रशंसा तथा कुत्सित गुरु की निन्दा की गयी है किन्तु प्रातिशाख्य इस विषय में मौन है ।

उपर्युक्त भिन्नताओं के अतिरिक्त अन्य एक भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है । वेदों की रक्षा शब्दार्थतः ही होती है । शब्दतःरक्षणार्थ तीन अङ्ग शिक्षा व्याकरण तथा छन्द प्रवृत्त है एवं अर्थतः रक्षणार्थ भी तीन अङ्ग कल्प निरुक्त और ज्योतिष प्रवृत्त हैं । वेदों के शब्दराशि के परिरक्षणार्थ शिक्षाओं की रचना की गयी । जिस प्रकार शिक्षाओं की उसी प्रकार महर्षियों ने प्रतिशाखानुसार प्रातिशाख्यों की रचना की । शिक्षाग्रन्थों में साधारणतः

वेदानुसार उच्चारण सम्बन्धी नियम का संकलन किया गया है किन्तु प्रातिशाख्य ग्रन्थों शाखानुसार वेदार्थ ज्ञान के लिए उपयोगी है । वेदों का पारायण द्विविध होता है । प्रकृति तथा विकृति रूप में । प्रकृतिपाठ पदपाठ क्रमपाठ तथा संहितापाठ को कहते हैं । प्रकृतिपाठ की व्यवस्था प्रातिशाख्यों में तथा विकृति पाठ की व्यवस्था शिक्षाओं में की गयी है । जटा माला, शिखा रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ तथा घन ये आठ विकृतियाँ वैदिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं[1]। संहिताओं के अन्तर्गत पदों का विभाजन करके जब हम पाठ करते हैं तो उसे, पद पाठ कहा जाता है । यथा- ॐ समिधेतिसम । इधा । अग्निम् । दुवस्यत । घृते । ब्बोधयत । अतिथिम् । वा । अस्मिन् । हव्या । जुहोतन । पदपाठ को जब हम अनुलोम को विलोम रूप में प्रथम को द्वितीय से तथा द्वितीय को तृतीय क्रम से पाठ करते हैं तब उसे क्र म पाठ कहा जाता है ।

प्रातिशाख्य संहिताक्रम तथा पद पाठ की व्यवस्था करते हैं जबकि शिक्षाशास्त्र विकृति पाठ की । विकृति पाठ में सर्व प्रथम जटापाठ आता है । जटापाठ में क्रम से दो पदों को लेते हैं । पहले पूर्व पद तदनन्तर उत्तर पद होता है । तत्पश्चात् उत्तरपूर्व पद के सन्धान पूर्वक पूर्व पद का दो बार पाठ करते हुए उत्तरपद का अवसान जब करते हैं तब उसे जटापाठ कहते हैं । यथा- ॐ समिधाग्निमग्नि समिधासमिधाग्निम् । समिधेतिसम । इधा । अग्निन्दुवस्यताग्निम ग्निन्दुवस्यत इत्यादिरूप पाठ जटापाठ के नाम अभिहित होता है ।

1- "जटामाला शिखारेखाध्वजोदण्डो रथो धनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ता क्रमपूर्वा महर्षिभिः"।।

विचारणीय है कि शिक्षाओं का प्रातिशाख्यों पर प्रभाव है या प्रातिशाख्यों का शिक्षाओं पर । जैसाकि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की वैदिकाभरण टीका में कहा गया है कि प्रातिशाख्य शिक्षा ग्रन्थों एवं व्याकरण ग्रन्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ है । इससे यह सिद्ध होता है कि शिक्षाओं का ही प्रातिशाख्यों पर प्रभाव है । ऋक्प्रातिशाख्य में भी उवट ने लिखा है कि इसमें [ऋक्प्रातिशाख्य में] जो विषय प्रतिपादित हैं वे सारे विषय शिक्षा तथा व्याकरण में सामान्य रूप से अंकित हैं[1] । वाजसनेयि प्रातिशाख्य के भाष्य में उवट पुनः लिखते हैं कि प्रातिशाख्यों में शिक्षा तथा व्याकरण के नियमों की ही व्याख्या की गयी है[2] । उपर्युक्त उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि शिक्षा ग्रन्थों का ही प्रातिशाख्यों पर प्रभाव है । परन्तु सर्वसम्मत शिक्षा में यह लिखा गयाहै कि प्रातिशाख्यों के सामने शिक्षा वैसे ही दुर्बल है जैसे सिंह के सामने हरिणी दुर्बल होता है[3] । दोनों पक्षों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि शिक्षाओं का ही प्रातिशाख्यों पर प्रभाव है क्योंकि प्रातिशाख्यों में शिक्षाओं के श्लोक दृष्टिगोचर होते हैं ।

1- "शिक्षा छन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तम् ।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम् ।।" ऋ०प्रा०उ०भा०

2- "शिक्षा विहितं व्याकरण विहितं चास्मिन् शास्त्रे उभयं यतः प्रक्रियते ।"
वा०प्रा०उ०भा०

3- "शिक्षा च प्रातिशाख्यं च विरुध्येते परस्परम् शिक्षेव दुर्बलेत्याहुः सिंहस्येव मृगीयया ।।" सर्व०स०शि०पृ०49

ऋक्प्रातिशाख्य में -

तिस्रो वृत्तिरूपदिशन्ति वाचो विलम्बितां मध्यमां च द्रुतां च[1]।

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत् ।

शिखी त्रिमात्रो विज्ञेयः एष मात्रापरिग्रहः[2] ।।

पदक्रमविभागज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः । स्वरमात्राविभागज्ञोगच्छेदाचार्य-सम्पदम[3] ।

उपरोक्त श्लोकों में प्रथम श्लोक माण्डूकी शिक्षा के -"तिस्रो-वृत्तीरनुक्रान्ताद्रुतमध्यविलम्बिताः, इस श्लोक से साम्य रखता है ।[4] द्वितीय श्लोक माण्डूकी शिक्षा के -चाषस्तु वदते मात्रम्" इस श्लोक से साम्य रखता है।[5] तृतीय श्लोक माण्डूकी शिक्षा के अक्षरसो विरामज्ञः प्रत्याराभी तथैव च" इस श्लोक से साम्य दृष्टिगत होता है ।[6]

अस्तु एक शङ्का उपस्थित होती है कि क्या ये श्लोक श्लोक शिक्षाओं से उद्धृत किये गये हैं या कि क्या ये श्लोक प्रातिशाख्यों से या कि दोनों में ही किसी एक स्थान से ग्रहण किये गये हैं ? सम्प्रति जितनी भी शिक्षायें

1- ऋ० प्रा० 956

2- ऋ० प्रा० 758

3- ऋ० प्रा० 2

4- मा० शि० 1/1

5- मा० शि० 13/3

6- मा० शि० 3/7

उपलब्ध हैं वे सभी एक ही स्थान से अपने नियम को ग्रहण की है । इसलिए माण्डूकी, नारदीय तथा याज्ञवल्क्य शिक्षाओं में बहुसाम्य दृष्टिगत होता है । इससे यह प्रतीत होता है कि ये सभी शिक्षायें समकालिक हैं ।

ज्ञात है कि प्राचीनकाल में एक ही वेद था । भारतीय सिद्धान्तानुसार त्रेतायुग में वेदव्यास उत्पन्न हुए जिन्होंने वेद को चतुर्विध विभक्त किया । उसके पश्चात् कृष्णद्वैपायन ने वेद को विभक्त किया । जिससे शाखा, अनुशाखा उत्पन्न हुए । शाखा का अवलम्बन करके रचित ग्रन्थ प्रातिशाख्य नाम से अभिहित हुए । ऐसा कहा जाता है कि जब एक वेद था उस वेद के शब्दार्थ के ज्ञानार्थ शिक्षाकल्प आदि वेदाङ्गों की रचना हुई थी । उसी समय विभिन्न शिक्षा विद् महर्षियों ने सिद्धान्त प्रतिपादित किये । जब वेद विभाजन हुआ तब मूल शिक्षा को वेद का अङ्ग होने से ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के अध्येताओं ने अपने-अपने शाखा के उपकारक नियमों को ग्रहण किया । किन्तु कालान्तर में वे मिश्रित हो गये । अस्तु एक शिक्षा के नियम अन्य शिक्षाओं के सिद्धान्त से मेल रखते हैं । लेकिन वे स्वतन्त्र नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता । ऐसा अनुमान किया जाताहे कि प्रातिशाख्य प्राचीनतर ग्रन्थ हैं । किन्तु शिक्षा शास्त्र प्रातिशाख्यों का वेदाङ्ग में परिगणना होने से प्राचीनतम ग्रन्थ हैं । प्रातिशाख्यों से शिक्षाशास्त्र के प्राचीन होने से उसके सिद्धान्त भी प्राचीन है । जो आधुनिक शिक्षा ग्रन्थ हैं वे भी मूलशिक्षाशास्त्र से ही लिये गये हैं । इसलिए माण्डूकी तथा नारदीय आदि शिक्षाओं में यथा माण्डूकस्य मतं यथा, नारदस्य मतम् यथा" प्रभृति उल्लेख दृष्टिगत होते हैं । शिक्षाओं के सदृश प्रातिशाख्यों में भी उक्त श्लोक ग्रहण किये गये हैकिन्तु वर्तमान काल में मूलशिक्षाओं के अनुपलब्ध होने के कारण इस विषय में निश्चितरूपेण कुछ भी नहीं कहा जा सकता है ।

शिक्षा ग्रन्थों में प्रातिशाख्यों का अन्तर्भाव

प्रातिशाख्यों को भी शिक्षा ग्रन्थों के अन्तर्गत ही लिया जाता है । वेदों को ज्ञान के लिए शिक्षा, व्याकरण इत्यादि वेदाङ्गों का जो महत्व है उससे कम महत्व प्रातिशाख्य ग्रन्थों का भी नहीं है । उसका प्रमुख कारण यह है कि शिक्षा, व्याकरणादि प्रायः सामान्य विषयों का विवेचन करते हैं जबकि प्रातिशाख्य ग्रन्थ शाखा विशेष के नियमों का प्रतिपादन करते हैं । प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वेद की विभिन्न शाखाओं के स्वर, सन्धि तथा अन्य उच्चारण विषयक नियमों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है ।

प्रातिशाख्यों में शिक्षा शास्त्र के सारे विषयों का पूर्णतः निर्वाह किया गया है तथा उपनिषदों में कहा गया कि शिक्षा का लक्षण प्रातिशाख्यों को अपनी परिधि में लाता है । इन्हें प्रातिशाख्य, मात्र इसलिए कहा गया है कि किसी विशेष शाखा के शिक्षा-नियमों को बताते हैं । प्रातिशाख्यों में व्याकरण के नियमों का विवेचन नहीं होता है । इसमें व्याकरण के विषयभूत पदों का आख्यान नहीं किया जाता है बल्कि इसमें दो पदों की योग से उत्पन्न होने वाली सन्धियों का ही आख्यान होता है और सन्धि शिक्षाशास्त्र का ही विषय है । इस प्रकार प्रातिशाख्यों का अन्तर्भाव शिक्षा ग्रन्थों में हो जाता है ।

स्वीकृत भाषाविज्ञान नहीं है किन्तु भाषाशास्त्र ही वह शास्त्र है जो कि कर्तव्यता का निर्देश करता है । यह शिक्षाशास्त्र विज्ञान के सदृश नहीं है जो कि यह इस प्रकार हैं - का बोध कराता है । बल्कि इसे इस प्रकार करना है यही शास्त्र तथा विज्ञान की विषमता है । अतएव यदि अपभ्रंश भाषाओं में अनुच्चरित वर्णों का शिक्षाशास्त्रों में निर्देश होता है तो वह इसका निरर्थक प्रलाप मात्र नहीं हैं । अपभ्रंश भाषाओं में उच्चरित विविध अनेक कालिक वर्णों का यदि शिक्षाशास्त्र में निर्देश नहीं होता है तो वह उसकी न्यूनता नहीं कही जायेगी । ऐसी स्थिति में यदि हम भाषावैज्ञानिकदृष्टिकोण से विचार करें तो शिक्षाशास्त्रों पर आधुनिक भाषाविदो के सारे आक्षेप निरर्थक सिद्ध होंगे । परन्तु विडम्बना तो यही है कि इस रहस्य को न जानते हुए भी आधुनिक भाषावैज्ञानिक वर्णसंख्या के विषय में, वर्णों के स्थानप्रयत्न के विषय में तथा काल के विषय में शिक्षाशास्त्रों पर बहुविध आक्षेप करते हैं । भाषावैज्ञानिकों का वर्णसंख्या के विषय में यह आक्षेप है कि भारतीय शिक्षाशास्त्रों में ऋ तथा ऌ ये दो स्वतन्त्र वर्ण स्वीकार किये गये हैं । इन दोनों को स्वीकार करना व्यर्थ ही है क्योंकि रेफ में इकार की मात्रा जोड़कर तथा लकार में स्वर की मात्रा जोड़कर ये दोनों भिन्न वर्ण निष्पन्न होते हैं न कि ये दोनों स्वतन्त्र वर्ण है । अन्य ऐसे बहुत से वर्ण हैं जिनका शिक्षा-शास्त्र में निर्देश नहीं है । यथा- घोड़ा-इस शब्द में जो डकार वर्ण है उसका शिक्षाशास्त्र में कहीं भी निर्देश नहीं है । वर्णसमाम्नायस्थ डकार से वह वर्ण विलक्षण है । वर्णसमाम्नायीय तो डमरू इत्यादि शब्दों में प्रयुक्त होते हैं । घोड़ा तथा डमरू शब्दों के डकारों की भिन्नता स्पष्ट ही सुनायी पड़ती है इसी प्रकार मराठी, नेपाली, उर्दू इत्यादि भाषाओं में च छ ज इत्यादि वर्णों का जैसा उच्चारण होता है वैसे वर्ण शिक्षाशास्त्र में निर्दिष्ट नहीं है । यह वर्णगणना के विषय में न्यूनता है ।

वर्णों के स्थानादि विषय में भी भाषावैज्ञानिकों का यह कहना कि शिक्षाशास्त्रों में किये गये वर्णस्थानविचार भाषावैज्ञानिकों के वर्णस्थानविषयक विचार से साम्य नहीं रखता क्योंकि जिन वर्णों का जिस स्थानप्रयत्नादि से निष्पत्ति शिक्षाग्रन्थों में बतायी गयी है उन वर्णों का उन्हीं स्थानादि से उच्चारण नहीं होता ऐसा यन्त्रों द्वारा परीक्षण करके निर्णीत हुआ है । इस प्रकार प्रत्यक्ष परीक्षणानन्तर शिक्षोक्त स्थानविवेचन कथन मात्र ही प्रतीत होता है ।

यदि पूर्वोक्त शिक्षाशास्त्रीय दृष्टिकोण को अग्रसर करके इस विषय में विचार करें तो एक भी आक्षेप नहीं होगा । जैसा कि प्रभावी ऋ लृ वर्णों के विषय में जो एक महान् आक्षेप है । वह आक्षेप वैसे ही किया गया है जैसे कि ऋ वर्ण का वास्तव में जैसा उच्चारण करना चाहिए वैसा उच्चारण करने में या तो समर्थ नहीं है या जानते नहीं तथा किसी अन्य उच्चारयिता के द्वारा यथावत् रूप से उच्चरित होने पर ध्यान से सुनते है और स्वयं रिशब्दवत् ऋ वर्ण का उच्चारण करते हैं । यहाँ पर ध्यातव्य है कि यह ऋवर्ण इकार तथा उकार को जोड़ने से उच्चरित नहीं होता बल्कि इससे विलक्षण है । यदि यथावदुच्चारणकर्ता किसी वैदिक के हरिप्रभृति शब्दों के रिशब्द तथा ऋषिप्रभृति शब्दों के ऋवर्ण के उच्चारण को सुने तो इनकी विलक्षणता स्पष्ट हो जायेगी सम्पूर्ण ऋकार का स्थान मूर्धन्य है जबकि रि शब्द का स्थान पूर्णतया मूर्धन्य नहीं है बल्कि मूर्धन्य के अपेक्षाकृत तालु तथा ओष्ठ स्थानों का अधिक व्यापार होता है । इस प्रकार स्थान की दृष्टि से दोनों की विलक्षणता स्पष्ट ही है । फिर भी यदि कोई ऋवर्ण का रि शब्दवत् उच्चारण मानकर ऋवर्णके विषय में आक्षेप करता है तो इसका क्या जवाब है ?

अपभ्रंशभाषाओं में प्रयुक्त अनेक वर्णों का शिक्षाग्रन्थों में निर्देश न होने पर इसे शिक्षाशास्त्र की न्यूनता सिद्ध करना, तुच्छता ही कही जायेगी। क्योंकि जितने भी स्थानप्रयत्नादि है उतने प्रकार का सङ्कर करने से वर्णान्तरध्वनि के सम्मिश्रण से, देशकालादि के भेद से उच्चारणावयव का स्थित भेद से अनेक प्रकार से वर्णों का सुनायी पड़ना सम्भव है। ऐसी स्थिति में क्या उन सबकी गणना करनेमें कोई समर्थ हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिसका जितना क्षेत्र होता है वह उतने ही क्षेत्रीयों का निर्देश करता है। शिक्षाशास्त्रकारों का क्षेत्र स्वशास्त्रीय प्रक्रिया हो अथवा शास्त्रीयता हो वह उन्हीं स्वशास्त्रीयप्रक्रिया अथवा शास्त्रीयता के अन्तर्गत आने वाले वर्णों की परिगणना करते हैं तथा भाषाओं में शिक्षाकारों द्वारा प्रयुज्यमान वर्णध्वनियों का निषेध भी नहीं करते। शिक्षाशास्त्रों में जितने भी वर्णों का निर्देश किया गया है वे सभी मूलरूप से शुद्ध वर्ण है। यथा एक ही शब्द के अनेक अपभ्रंश शब्द होते हैं परन्तु मूलभूत शब्द एक ही होता है तथा उस एक ही वर्ण का वर्णान्तर के प्रभाव से स्थानप्रयत्नादि में तारतम्यवश अथवा स्थानान्तरसम्बन्ध के कारण उनके अनेक प्रकार सम्भव होते हैं। कौन उनकी परिगणना करता है। उपर्युक्त ड ढ इत्यादि वर्ण भी सङ्करसृष्टिभूत ही है। जिस प्रकार से सङ्गीतशास्त्र में मूलभूत सात ही स्वर होते हैं परन्तु उन सातों के कण, मीड तथा खटका इत्यादि शब्द प्रकारों के व्यपदेश से उनके अनन्त प्रकार हो जाते हैं। उसी प्रकार वर्णों के भी। इन सभी वर्णों का शिक्षाकारों ने दोषनिरूपण द्वारा सङ्केतित किया है। जैसे दोषनिरूपण में स्थानविवर्जित, निष्पीडित तथा अर्धक इत्यादि बहुत से दोष कहे गये हैं। ऐसे ही

मूलभूत वर्ण ध्वनियों के दोष भाषाओं में नानाविध दृष्टिगत होते हैं ।

इसलिए से वर्णों के स्थानादि के विषय में भी शिक्षाशास्त्रोक्त स्थानादिविचार को भाषा वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा परीक्षण करके निर्णीत स्थानादि विचार को न कहे और न हि उसकी अप्रामाणिकता । तत्तद् वर्णों के तत्तद् स्थान को कहते हुए शिक्षाकारों के उन-उन स्थानादि से ही उच्चार्यमाण जो कोई ध्वनि-विशेष उसके ही तत्तद् वर्ण अभिप्रेत है इसमें कौन सा विरोध है ? आधुनिक स्वस्वोच्चारणप्रकार के अनुसार जिस वर्ण का जैसा उच्चारण किया जाता है अथवा सम्प्रति देखा जाता है वैसे उच्चारण को अनुरूध करके यन्त्रपरीक्षणद्वारा उस उस वर्ण की स्थानादि को निर्णीत करते हैं । यह हो सकता है कि शिक्षाकारों को इसके अतिरिक्त जो तत्तद् वर्णों का देशभेद तथा कालभेद से एक ही वर्ण का उच्चारण नानाप्रकार से होता हुआ दृष्टिगत होता है । ये प्रकारभेद स्थानादिभेद से निबद्ध होने से ही इस प्रकार शिक्षाकारों के द्वारा जिस वर्ण का जैसा उच्चारण अभीष्ट है उसका ही अनुसरण करके उनके द्वारा उस वर्ण के स्थानादि विचार किया जाता है । आधुनिक भाषावैज्ञानिक तो जिस वर्ण का जैसा उच्चारण को मानते हैं तदनुसार उच्चारण प्रकार अभिप्रेत है जो कहे गये स्थानादि से होते हैं ।को निर्णीत करते करते हैं । इसमें क्या विरोध है ? अपि च यह स्थानादि कथन वर्णों का लक्षण कथन ही है । यथाहि-लक्षण स्वलक्ष्य को इतर से व्यावर्तित करती है तथैव स्वरकाल स्थानप्रयत्न तथा अनुप्रदान से भी पाँच होकर एक वर्ण को वर्णान्तर से भेद करता है । लक्ष्य का निर्णय तो तत्तद् शास्त्रानुसार ही होता है न कि सर्वजनीन व्यवहारानुसार ऐसी स्थिति में यदि किसी सादृश्य से गवय को गो मानकर सास्नावत् (गल कम्बलत्व) को गो लक्षण कहना हमारे शास्त्रोक्त गोलक्षण को दूषित करता है तब

जो उत्तर होगा वही वर्णों के लक्षणभूत स्थानादि के विषय में भी ।

इस प्रकार ह्रस्वदीर्घादि कालविषय में अर्वाचीन शिक्षाशास्त्रों जैसा आक्षेप करते हैं तथा जैसे आक्षेपों का निराकरण होता है वैसे वर्णकाल प्रकरण में विचार करेंगें ।

एवं वैदिकसंस्कृतभाषा के विषय में भी इनमें वैमत्य है । भारतीय सिद्धान्तानुसार वैदिकसंस्कृतभाषा मूलभाषा है अर्थात् इसका जनक कोई अन्य भाषा नहीं है । अर्वाचीन भाषाविद तो ऐसा मानते हैं कि संस्कृत भाषा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं तथा कुछ विदेशी भाषाओं के मूलभूत एक अन्य भाषा थी जिससे ये सभी भाषायें प्रसूत हुई हैं । जैसे अर्वाचीन भाषाविद जिसे "भारोपीय" इस शब्द से इंगित करते है । इससे प्रसूत संस्कृतप्रभृति भाषाओं की गणना भारोपीय परिवार के अन्तर्गत की गयी है । परन्तु यह भाषा कब थी ? इसका स्वरूप क्या था ? इत्यादि के विषय में कुछ भी प्रामाणिक रूप से कहने में समर्थ नहीं होते । संस्कृत भाषा तथा किसी अन्य भारतीय भाषाओं विदेशी भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों के केवल सादृश्य को देखकर इस सभी भाषाओं के मूलभूत के रूप में इस एक भाषा को स्वीकार किया गया है । खपुष्प के समान इसको भाषा स्वीकार करके इस भाषा का अकार संस्कृतभाषा में एकार हो जाता है अन्य किसी परिवारीय भाषाओं में अकार हो जाता है । एवं विध बहुत से ध्वनि परिवर्तन केनियम अर्वाचीन भाषाविदों के द्वारा कल्पित किये गये हैं ।

इस भाषा की कब सत्ता थी ? इसका क्या स्वरूप था ? इत्यादि के विषय में दृढ प्रमाणों का सर्वथा अभाव है केवल कपोल कल्पित अप्रयोजक तर्क ही उनका सहारा है । इस भाषा के स्थापना में भाषा के परस्पर सादृश्यरूप जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं वे भी अप्रयोजक ही है । ऐसे बहुत से पदार्थ देखे

जाते हैं जिनमें अत्यन्त सादृश्य होते हुए भी मूलरूप से एक नहीं होते । प्राय:
इस कल्पित भाषा को सिद्धार्थ अर्वाचीन "हंस" शब्द का उदाहरण देते हैं ।
जो कि संस्कृत भाषा में "हंस" शब्द, आंग्लभाषा में "गूज" तथा जर्मनभाषा में
गंस प्रयुक्त होता है । यहाँ पर हंस, गंस शब्द समान तो है परन्तु हकार और
गकारमें वैसा सादृश्य नहीं है जैसा घकार होने पर सादृश्य होता है । अत: दोनों
शब्दों के मूलभूतरूप से कल्पित भारोपीयभाषीय "घंस" शब्द से होना चाहिए ।
यही शब्द संस्कृत भाषा में "हंस" रूप में तथा यूरोपीय भाषा में गंस रूप में
परिवर्तितहोता है ।

इस विचार से भी सहमत नहीं है कि हेस्टिङ्ग के समय में
हिन्दू धर्मशास्त्र नामक एक ग्रन्थ रचित था । इस ग्रन्थ का ही नाम आंग्लभाषा
में "गेन्टूला" लिखा जाता था । यहाँ भी इनका मूलभूत कोई घकार घटित शब्द
नहीं था किन्तु हकार का ही गकार रूप में अपभ्रंश हुआ है । हंस गंस के विषय
में भी कहने के लिए समर्थ है । फिर खपुष्प के समान घंस शब्द की क्या आवश्यकता
थी । हमारे दृष्टि से तो यह प्रतीत होता है कि वैदिक भाषा में यह वैदिक
भाषा अनादि भाषा तथा सर्वश्रेष्ठ इत्यादि रूपों में भारतीयों की जो धारणा
थी उसको दूर करने के लिए ये भ्रान्तियाँ उत्पन्न की गयी है । वैदिकभाषा के
विषय के प्रति भारतीयों में अनास्था उत्पन्न करने के लिए वैदिक भाषा की
श्रेष्ठता के असहिष्णुओं ने उसके मूलभूत भारोपीय भाषा की कल्पना की है ।

"शिक्षाओं का उद्भव एवं विकास"

विविधविध विद्याविधायक, विपुलज्ञानराशि, भारतीय संस्कृति के मूलाधार वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ है । इस वेद के अर्थावबोध के लिए उसके स्वरादि मन्त्रविनियोग तथा सम्यक् उच्चारण प्रक्रिया के ज्ञानार्थ किसी ग्रन्थ की आवश्यकता थी । इस अभाव की पूर्ति के लिए शिक्षादि वेदाङ्गों का आविर्भाव हुआ । शुद्धोच्चारण ही श्रोताओं के चित्त को शान्ति तथा इष्टप्रदायक होता है । यह विचार करके ही महर्षियों ने शिक्षाग्रन्थों का वेदाङ्ग में सर्वप्रथम स्थान प्रदान किया ।

वैदिक अनुशीलन से प्रतीत होता है कि शिक्षाओं का उत्पत्तिकाल से लेकर वर्तमान समय तक चार चरणों में विकास हुआ है । प्रथम चरण में ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में यत्र तत्र शिक्षाविषयक तथ्य दृष्टिगत होते हैं । जैसाकि ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णों का,[1] गोपथ ब्राह्मण में दीर्घप्लुतोदात्तादियों का,[2] ककारादि वर्णों के लिए व्यन्जन पद का,[3] ऐतरेयारण्यक में स्पर्श तथा ऊष्म का,[4] ऐतरेयारण्यक

1- ऐ० ब्रा० 25/32

2- "ओंकारो यजुर्वेद दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षर ओंकार सामवेदे ।"गो०ब्रा०1/1/25

3- "अ ऊ इत्यत्रचतस्त्रो मात्रा मकारे व्यन्जनमित्यहुर्याधा-प्र मात्रा ब्रह्मदेवत्या"।

-गो०ब्रा०1/1/25

4- यो वै तां वाचं वेद यस्यतः एष विकारः सम्प्रतिविदकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति ।

-ऐ०आ०पृ० 170 ।।

में व्यन्जन के लिए अन्तस्थ शब्दों का प्रयोग[1] छान्दोग्योपनिषद में प्रतिपादित स्वर घोष है[2], स्थान, वाह्य प्रयत्न आभ्यन्तर प्रयत्न का निर्देश गोपथ ब्राह्मण में[3] उदात्तादि का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण में विद्यमान है[4]।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि संहिताओं के उत्पत्तिकाल से हजारों वर्ष पश्चात् महर्षियों के मस्तिष्क में दो चिन्तायें जागृत हुई । प्रथम अनाधिकारियों से रक्षा । इस चिन्ता के अवसानार्थ मौखिक अध्ययन का आश्रय लिया गया । किन्तु बहुत समय तक शब्दपारायण करने के पश्चात् मन्त्रार्थ सम्बन्धिनी जिज्ञासा के शमनार्थ ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदोंकासृजन हुआ । जिससे मन्त्रों के अर्थज्ञान से सरल अध्ययन सम्भव हुआ । इस प्रकार द्वितीय चिन्ता का भी निवारण हुआ । इसी प्रकार मंत्रों के सम्यक् उच्चारण के लिए शिक्षाओं अर्थज्ञानके लिए निरुक्त व्युत्पत्तिबोध के लिए व्याकरण मंत्रों के स्वरूपज्ञान के लिए छन्दों, विनियोगके लिए कल्प पर विचार करना महर्षियों ने प्रारम्भ किया । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वेदाङ्ग आदि कालीन रचना है । इसलिए वेदाङ्ग के आदि कालीन रचना होने से शिक्षाओं की भी प्रथम अवस्था ही कही जा सकती है ।

1- ऐ० आ० पृ० 24 ।

2- सर्वे स्वराः घोष बन्तो बलवन्तो वक्तव्यो सर्व उष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्या । सर्वे स्पर्शाः लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या ।
-छा०उ० 2/22

3- किं स्थानानुप्रदानकरणं शिक्षकाः" ।- मो० ब्रा० 1/1/24

4- "स्वरितोदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदे:" -गो०ब्रा० 1/1/25

शिक्षाओं के विकास की द्वितीय अवस्था का परिचय ऐतरेयारण्यक में प्राप्त होता है । जिसमें शिक्षा पद का उल्लेख करते हुए इसके विषय का प्रतिपादन किया गया है[1]। तैत्तिरीयोपनिषद के प्रथम अध्याय का नाम ही शिक्षाध्याय है । जिसमें शिक्षा की व्याख्या करते हुए वर्ण, स्वर, मात्रा बल, साम, सन्तान प्रभृति शिक्षाविषयों का उल्लेख किया गया है[2]। मुण्डकोपनिषद में भी वेदाङ्ग-परिगणना के समय शिक्षा को प्रथम स्थान दिया गया है[3]। शांखायनारण्यक में भी "वाचं उपनिषत्" के विवेचन के समय स्पर्श तथा उष्म स्वरों का निर्देश किया गया है[4]। इस समय तक शिक्षाओं के स्वतन्त्र विचार प्रारम्भ होने लगे थे ।

शिक्षा के विकास का तृतीय चरण दो भागों में विभक्त है । इस समय शिक्षाओं का प्रातिशाख्य के रूप में विकास होना प्रारम्भ हो गया था । इस समय शिक्षा पद से वेदोच्चारणार्थ के सामान्य नियम प्रतिपादक ग्रन्थ का बोध होता था । शिक्षा ग्रन्थों में सभी ध्वनियों का विवेचन दृष्टिगत होता है तथा प्रातिशाख्यों शाखानुगत ध्वनियों के उच्चारण विषयक नियमों का विशेष रूपेण विवेचन प्राप्त होता है । यथा ऋक्प्रातिशाख्य में ऋक्संहिता के शाकलशाखा सम्बन्धित नियम प्रधानतया निरूपित हैं । किन्तु सम्प्रति प्रधान समस्या यह है कि वैदिक वाङ्मय में वेदों के ।।30 शाखाओं का उल्लेख है । जबकि केवल सात ही प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं । शेष कालकवलित हो गये हैं । शिक्षा के तृतीय अवस्था का सामान्य परिचय वाजसनेयि प्रातिशाख्य के "अथ शिक्षा विहिता:" इस वाक्य से

1- "ॐ शीक्षां व्याख्यास्याम:। वर्ण: स्वर: मात्रा बलम्। - ऐ0आ0 7/2
2- तै0 उ0 1/1
3- मु0 उ0 1/5
4- शां0 आ0 8/8

होता है । इसमें सामान्यध्वनिविषयक नियमों को शिक्षा पद से ही अभिहित किया गया है[1] ।

शिक्षाग्रन्थों के विकास के तृतीय चरण में ध्वनि के सामान्य-नियम बोधक स्वरूप प्रातिशाख्य अपने सम्बन्धितशाखा के उपकारक थे । किन्तु चार चरणों में इसका विकास क्रमानुसार नहीं हुआ । क्योंकि वेदानुसार शिक्षा अनेक रूपों में दृष्टिगत होती है । इसलिए प्रातिशाख्य भी शिक्षा शब्द से बोधित होते हैं[2] । फलतः जितना अध्ययन प्रातिशाख्यों का हुआ है उतना शिक्षाओं का नहीं । यद्यपि यत्र तत्र सैकड़ों शिक्षाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु सम्प्रति भी बहुसंख्यक शिक्षायें पुस्तकालयों में हस्तलिपि रूप में विद्यमान है । ऐसी अवस्था में शिक्षायें महर्षियों के नाम से ही ज्ञात होती है । यथा नारदीयशिक्षा, याज्ञ-वल्क्यशिक्षा, माण्डूकी शिक्षा इत्यादि । यद्यपि उपर्युक्त शिक्षा एवं प्रातिशाख्य के मध्य विभाजक रेखा खींचना महा दुष्कर है फिर भी दोनों के स्वतन्त्र स्वरूप को ज्ञान होता है । क्योंकि जो महर्षि प्रातिशाख्यों की रचना किये है वही शिक्षाओं की भी रचना किये हैं ।

1- "अथ शिक्षाविहिताः" - वा०प्रा० 1/29

शिक्षाओं की प्राचीनता

अनादिकालीन वेद का अङ्ग होने के कारण शिक्षाओं की प्राचीनता सुनिश्चित ही है । यद्यपि उपलभ्यमान् शिक्षाओं व्याकरणों तथा अन्य कुछ वेदाङ्गों के निर्माणकाल की पूर्वावधि प्रमाणों द्वारा निश्चित किया जा सकता है तथा जैसा कि इतिहास विशेषज्ञों द्वारा निर्णीत किया भी गया है तथापि इससे शिक्षाशास्त्र की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती । उपलभ्यमान् शिक्षा व्याकरणादि के निर्माणकाल की जो पूर्वावधि है उसे शिक्षाशास्त्र का आरम्भकाल न ही कहा जा सकता । चूंकि उपलभ्यमान शिक्षादियों के प्राग्वर्ती साहित्य में बहुत्र शिक्षाशास्त्रों का विवरण उपलब्ध होता है । इसलिए शिक्षा व्याकरणों की प्रवृत्ति अति प्राचीन है । अनेक ऐसे आचार्य उत्पन्न हुए जिन्होंने लोकहितार्थ, तथा वेदरक्षणार्थ नाना शास्त्रों का निर्माण किया । एवंविध क्रमशः पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्र क्रमशः उत्तरवर्ती आचार्यों का उपजीव्य रहा है । कुछ संक्षिप्तिकरण तथा कुछ नवीनकरण करके उसी शास्त्र को प्रस्तु शैली भेद से प्रस्तुत किया गया है । अतएव पाणिन्यादि आचार्यों ने स्वनिबद्ध शास्त्रों में अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है तथा वे पूर्ववर्ती आचार्य भी स्वनिर्मित शास्त्रों में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों को स्मरण किये हैं । एवंविध यह शास्त्रप्रवृत्ति अतिप्राचीनतम है तथा तत्तत् शिक्षा व्याकरणादि ग्रन्थों की अर्वाचीनता है न कि शिक्षाशास्त्र का । जैसाकि वाक्यपदीय में हरि ने कहा है -

"साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः ।

अविच्छेदेनशिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम् ।। 1/92

इत्थञ्च पाणिन्यादि आचार्य तत्तद् शास्त्रों के प्रवक्ता हैं न कि कर्ता । उत्तरोत्तराचार्यप्रोक्त तत्तद ग्रन्थों के अधिक प्रचार से पूर्वोक्तग्रन्थों का लोप हो गया । अतः शिक्षादिकारों ने स्वपूर्ववर्ती कुछ शिक्षादिशास्त्रों का आश्रय लेकर नवीन ग्रन्थों का प्रणयन किया है । यथा पाणिनीय व्याकरण में पाणिनि द्वारा बहुत से पूर्वाचार्यों के मतों का निर्दिष्ट किया गया है परन्तु वे सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है । शिक्षा के विषय में भी यही कहा जा सकता है ।

प्राचीन साहित्य में जहाँ कहीं भी शिक्षाशास्त्र का उल्लेख किया गया है, वह संक्षेप में ही है । निर्दिश्यमान साहित्य की अपेक्षा शिक्षाशास्त्र की पूर्ववर्तिता निर्विवाद है । गोपथ ब्राह्मण में शिक्षाशास्त्रज्ञों के लिए शिक्षक शब्द का[1], छः अङ्गों[2] एवं शिक्षाशास्त्रीय विषयों का उल्लेख किया गया है, माण्डूक्योपनिषद में छः वेदाङ्गों के नाम निर्दिष्ट है । जिसमें शिक्षा की सर्वप्रथम गणना की गयी है । निरुक्त में भी यास्काचार्य ने वेदाङ्गों का परिचय दिया है[3]। महाभाष्यकार ने भी षडङ्गों का उल्लेख किया है[4]। जिसमें आगम के अन्तर्गत स्पष्टतया छः वेदाङ्गों का उल्लेख है । तैत्तिरीयोपनिषद में तो शिक्षाध्यायों का एक अध्याय ही है जहाँ पर सम्यकतया शिक्षा के स्वरूप को अभिहित किया गया है । वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कात्यायन ने स्थानकरणादि का प्रतिपादन

1- "ओङ्कारं पृच्छामः किं स्थानानुप्रदानकरणं शिक्षकाः किमुच्चारयन्ति"।

-गो०ब्रा०1/24

2- "किं स्थानमित्युभावोष्ठौ०"
"द्वितीयस्पृष्टकरणस्थतश्च"
"षडङ्गविदस्तत्तथा धीमहे"। - गो०ब्रा०1/26

3- "वेदाङ्गानि" - -नि०1/20

4- "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयः।"-महाभाष्य

किया है[1]।

इस विवेचन से शिक्षाशास्त्र की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। यही सामान्यतः शिक्षाशास्त्र का इतिहास है ।

"शिक्षाग्रन्थों का कालक्रमानुसार विषयवस्तु"

शिक्षाओं की कालक्रमिकता पुष्ट प्रमाणों के अभाववश तिमिराच्छन है । क्योंकि शिक्षाकार अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकार अथवा स्थान विशेष का उल्लेख बहुत कम करते हैं । यदि यत्र तत्र करते भी हैं तो उनमें इतनी अधिक समानता होती है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि सर्वप्रथम उल्लेख वस्तुतः किस ग्रन्थ में हुआ है । इनमें से बहुत सी शिक्षाओं की टीकाएँ भी अनुपलब्ध है यदि किसी पर टीका उपलब्ध हो भी गयी तो इतना अस्पष्ट और भ्रामक होती है कि उनसे किसी तथ्य की जानकारी करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ।

अनेक शिक्षाओं में एक ही विषय पर एक ही श्लोक की बारम्बार पुनरावृत्ति दृष्टिगत होती है । वे प्रायः विना किसी योजना के तथा असङ्गत होते हैं । जिस कारण किसी शिक्षा के मूलपाठ का पता लगाना अत्यन्त मुश्किल है । तैत्तिरीय शाखा की कुछ शिक्षाओं में पूर्वोक्त विसङ्गतियाँ नहीं पायी जाती । वे अपेक्षाकृत अधिक संगत एवं सुनियोजित हैं । परन्तु कालक्रमानुसार विषयवस्तु को ज्ञात करना पूर्ववत् मुश्किल है । इनमें कुछ ध्वन्यात्मक विचार की

1- "अथ शिक्षाविहिताः" - वाज०प्राति०1•29

दृष्टि से प्रातिशाख्यों के सदृश अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कुछ में वेदपाठी विद्यार्थियों के उपयोग के लिए सर्वसामान्यरूप से शिक्षा-सामग्री सम्मिलित कर दी गयी। वैसे सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि शिक्षाओं का वर्तमान स्वरूप उसकी अर्वाचीनता को ही प्रकट करता है।

शिक्षाओं की कोई निश्चित संख्या प्रामाणिक रूप से ज्ञात नहीं होती। कहीं पर पैंसठ शिक्षाओं का तो कहीं पचपन शिक्षाओं का विवरण मिलता है[1]। इनमें 31 शिक्षाएं तो 1893 ई० में बनारस से प्रकाशित "शिक्षासंग्रह" नामक पुस्तक में संगृहीत हैं जो इस प्रकार हैं -

1-	याज्ञवल्क्य शिक्षा	9-	लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा
2-	वासिष्ठी शिक्षा	10-	अमरेशी शिक्षा
3-	कात्यायनी शिक्षा	11-	केशवी शिक्षा
4-	पाराशरी शिक्षा	12-	तत्कृतपद्यात्मिका शिक्षा
5-	माण्डव्य शिक्षा	13-	मल्लशर्म शिक्षा
6-	अमोघानन्दिनी शिक्षा	14-	स्वराङ्कुश शिक्षा
7-	लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा	15-	षोडशश्लोकी शिक्षा
8-	माध्यन्दिनीय शिक्षा	16-	अवसान निर्णय शिक्षा

1- ए क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनिटिक आब्जर्वेशन्स आफ इण्डियन ग्रामेरियन्स बाई डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा - पृ० 36

17- स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा
18- क्रमसन्धान शिक्षा
19- गलदृक् शिक्षा
20- मनः स्वार शिक्षा
21- प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा
22- यजुर्विधान शिक्षा
23- स्वराष्टक शिक्षा
24- क्रमकारिका शिक्षा
25- पाणिनीय शिक्षा
26- पाणिनीय प्रकाश शिक्षा
27- नारदीय शिक्षा
28- गौतमी शिक्षा
29- लोमशी शिक्षा
30- माण्डूकी शिक्षा
31- अथर्वणपरिशिष्टम्

इसके अतिरिक्त मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित "तैत्तिरीय प्रातिशाख्य"[1] की भूमिका भाग "वेदलक्षणानुक्रमणिका"[2] तथा सिद्धान्त शिक्षा"[3] के उद्धरण के आधार पर निम्नलिखित शिक्षाओं के अस्तित्व का परिचय मिलता है -

---

1- "प्रथमं व्यासशिक्षा तु लक्ष्मी शिक्षा द्वितीयकम् ।
भारद्वाजी तृतीया तु शिक्षारण्यं तुरीयकम् ।।
पञ्चमं शम्भु शिक्षा च षष्ठं चापिशलं तथा
सप्तमं पाणिनि शिक्षा अष्टमं कोहलेस्तथा
वासिष्ठशिक्षा नवमी नव शिक्षाः प्रकीर्तिताः ।।"-तैत्ति0प्राति0{भूमिका-भाग}

2- "भारद्वाजव्यासशम्भुपाणिनिकोहलीयकम् ।
बोधयनो वसिष्ठश्च वाल्मीकिर्हरितनेव ।।" - वेद0-5

3- "भारद्वाज-व्यास-पाणिनि-शम्भु-कोहल-वसिष्ठ-वाल्मीकि-हरित-बोधायनोक्त शिक्षादिकं परामृश्य-----।" -सि0शि02

1- व्यास शिक्षा
2- लक्ष्मी शिक्षा
3- भारद्वाज शिक्षा
4- आरण्य शिक्षा
5- शम्भु शिक्षा
6- आपिशल शिक्षा
7- पाणिनीय शिक्षा
8- कोहलीय शिक्षा
9- वसिष्ठ शिक्षा
10- बोधायन शिक्षा
11- बाल्मीकि शिक्षा
12- हरित शिक्षा

इसके अतिरिक्त तीन शिक्षाएं "भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान अजमेर" से संपादक श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने प्रकाशित किया है -

1- आपिशलि शिक्षा
2- सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा
3- चान्द्रवर्णसूत्र शिक्षा

इसके अतिरिक्त सोलह शिक्षाएं मद्रास के "राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय" में हैं तथा तीन शिक्षाएं "भण्डारकर प्राच्य अनुसंधान संस्थानपूना" में हैं जो निम्नलिखित हैं -

1- चारायणीय शिक्षा (पूना)
2- स्वरव्यन्जन शिक्षा (पूना)
3- भारद्वाज शिक्षा (पूना)
4- शम्भु शिक्षा
5- सर्वसम्मत शिक्षा
6- आपिशलि शिक्षा
7- कालनिर्णय शिक्षा
8- पारि शिक्षा
9- शमान शिक्षा
10- शौनक शिक्षा
11- शैशरीय शिक्षा
12- काश्यप शिक्षा

इसके अतिरिक्त कुछ शिक्षाएं "सरस्वती विहार पुस्तकालय हौजखास नई दिल्ली" में विद्यमान हैं, -

1- शैशरीय शिक्षा
2- ह्रस्वदीर्घप्लुतमात्रालक्षणम्
3- प्लुत शिक्षा
4- शमान शिक्षा
5- द्वितीय शमान शिक्षा
6- वेदलक्षणानुक्रमणिका
7- नवशिक्षा
8- पदकारिकारत्नमाला
9- सर्वसम्मत शिक्षा
10- सिद्धान्त शिक्षा
11- व्यास शिक्षा
12- शम्भु शिक्षा

इसके अतिरिक्त तीन सूत्र भी शिक्षाग्रन्थों के अङ्ग हैं -

1- आपिशल शिक्षा सूत्र
2- पाणिनीय शिक्षा सूत्र
3- चान्द्रवर्णशिक्षा सूत्र

इन शिक्षाओं में से कुछ शिक्षाएं वेदों के ध्वनियों की सूचियाँ मात्र हैं[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शिक्षाएं वैदिक उच्चारण की शुद्धता को सुरक्षित रखने के लिए तथा अनुसन्धान कार्य में सहायता प्रदान करने के लिए बनाई

1-(क) "शमान शिक्षा" में ऋग्वेद के विसर्गलोपी शब्दों का संकलन है ।
(ख) "माण्डवी शिक्षा में यजुर्वेद के ध्वनि वाली शब्दों की सूची है ।
(ग) ""सिद्धान्त" तथा "भारद्वाजशिक्षा" में नानाप्रकार की ध्वनियों की वर्णानुक्रमिक सूचियाँ हैं ।

गई हैं । ये अतिलघुरूप शिक्षाएं प्रातिशाख्यों से हर क्षेत्र में साम्य रखती हैं जो केवल शब्दों की सूची मात्र हैं[1]। इन लघु शिक्षाओं से ही पता चलता है कि किस प्रकार प्रातिशाख्यों का शनैः शनैः सुगठन हुआ है ।

उपलब्ध शिक्षाओं को निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है[2]।

(क) ऋग्वेदीय शिक्षाएं

(ख) शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाएं

(ग) कृष्ण यजुर्वेदीय शिक्षाएं

(घ) सामवेदीय शिक्षाएं

(ङ) अथर्ववेदीय शिक्षाएं

(च) सामान्य शिक्षाएं

(क) ऋग्वेदीय शिक्षाएं -

ऋग्वेदीय शिक्षाएं बहुत कम उपलब्ध हैं । इनमें स्वरव्यंजन शिक्षा" तथा शमान शिक्षा मात्र दो शिक्षाएं ही उपलब्ध हैं ।

1- स्वर-व्यंजन शिक्षा -

ऋग्वेद से सम्बन्धित यह शिक्षा मात्र तीस पृष्ठों की एक लघु पुस्तिका है । तथ्याभाववश इसके रचयिता के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं हो सकी है ।

1- ऋ0प्राति0 के सातवें तथा नौवें अध्याय में शब्दसूची द्रष्टव्य है ।

2- "ए क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनेटिक आब्जर्वेशन्स आफ इण्डियन ग्रामेरियन्स बाई डा0 सिद्धेश्वर वर्मा-

यह ग्रन्थ पाणिनि से परवर्ती रचना है । क्योंकि इसमें पाणिनि के सूत्र उद्धृत किये गये हैं[1]। यह भण्डारकर प्राच्य अनुसन्धान संस्थान पूना[2] में उपलब्ध है । जो एक खण्डित एवं भ्रष्ट पाण्डुलिपि है । यह शिक्षा ऋक्प्रातिशाख्य का पूर्णरूपेण अनुसरण करती है । जिसमें ऋ0प्रा0 के सन्धिविषयक शब्दावलियों नियत, भुग्न, क्षेप्र एवं पारिभाषिक शब्दावलियाँ उद्धृत की गयी हैं । यह शिक्षा छः वर्गों में विभक्त है । जिसमें र के व्यञ्जनत्व एवं स्वरत्व के परिस्थितियों पर विचार किया गया है ।

2- शमान शिक्षा -

ऋग्वेदीय यह शिक्षा महर्षि शमान द्वारा प्रणीत है । यह प्राचीन रचना जान पड़ती है । इसकी पाण्डुलिपि मद्रास[3] में तथा सरस्वती बिहार पुस्तकालय होजखास, नई दिल्ली में उपलब्ध है । इसमें उन शब्दों का संकलन किया गया है जिनमें विसर्गों का लोप हो जाता है । इसके अतिरिक्त पदों की गणना की गयी है । इनके अनुसार विसर्ग का लोप होने पर आकारान्त विसर्गान्त पद की सन्देहावसर पर विसर्ग लोप की परिगणना करने से निर्णय हो सकता है[4]।

1- पाणिनीय शिक्षा- 6·1·168 तथा 7·4·28

2- भ0प्रा0 अ0 संस्थान पूना में सन् 1875-76 की संख्या 21 की पाण्डुलिपि है ।

3- "राजकीयप्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय", मद्रास पाण्डुलिपि संख्या 977 ।

4- "विसर्जनीयः अकारपूर्वको घोषवत्परः,
व्यञ्जन ------लुप्यते संहितागमे,
एषु वर्णक्रमान्तानि प्रवक्ष्यामि पदान्त्यहम्।।" - श0 शि0 2

(ख) शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाएँ -

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं के संख्या के सम्बन्ध ग्रन्थों में वैमत्य है । जहाँ एक ओर "चरणव्यूह"[1] में शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं की संख्या पाँच बतायी गयी है वहीं दूसरी ओर "पाराशरी शिक्षा में इनकी संख्या आठ बतायी गयी है । यहाँ पर हम "पाराशरी शिक्षा" के अनुसार ही इन आठ शिक्षाओं को विषय-परिचय प्रस्तुत करेंगे ।

(3) याज्ञवल्क्य शिक्षा -

यद्यपि यह 35 पृष्ठों तथा 232 श्लोकों की एक वृहत पुस्तिका है तथापि समस्त यजुर्वेदीय शिक्षाओं में सर्वाधिक परिपूर्ण है । वाजसनेयि शाखा के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य[2] ही इस शिक्षा के प्रणेता समझे जाते हैं । इस ग्रन्थ के मुख्य भाग में तीन बार उनका नाम आता है[3] । "बुद्धिमान याज्ञवल्क्य ने स्वराघात के वर्ण, रंग, मात्रा, छन्द, द्रष्टा तथा उनके देवता, इन सब नियमों का व्याख्यान किया है ।" इन तीनों स्थलों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर याज्ञवल्क्य को पाठ के वर्तमान रूप का लेखक होने का दावा नहीं किया गया है।

1- याज्ञवल्क्य, वासिष्ठी शिक्षा कात्यायनी तथा पाराशरी गौतमी तु माण्डव्यामोघनन्दिनी । पाणिन्या सर्ववेदेषु सर्वशास्त्रेषु गीयते वाजसनेयी शाखायां त्वं माध्यन्दिनी स्मृता ।।" -शिक्षा संग्रह पृ060 (चतुर्थ पाराशरी शिक्षा श्लो0777)

2- पारस्करगृह्यसूत्र की भूमिका ।। पृ070

3- वर्णो जातिश्च मात्रा च गोत्रं छान्दश्च देवतम, (याज्ञ0शि0श्लो016) शि0सं0, पृ "एत लक्षणं समाख्यातं याज्ञवल्क्येन धीमता ।।-शि0सं0पृ017और 35

किन्तु शिक्षा संग्रह के पृ0 2 पर मात्रा के सम्बन्ध में सोम शर्मा के मत का उल्लेख किया गया है[1]। सोम शर्मा अपेक्षाकृत अर्वाचीन व्यक्ति है। जैसाकि सेन्टपीटर्स कोष में इसका उल्लेख मिलता है कि विष्णुपुराण तथा पंचतन्त्र में भी इसका उल्लेख किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सोमशर्मा ही इस शिक्षा का वास्तविक प्रणेता है। इस आधार पर इसकी उच्चतम तिथि सीमा 5वीं शताब्दी निर्णीत होती है। इसके अतिरिक्त इसमें अर्वाचीन हिन्दू विचारों का पुट भी झलकता है। यथा स्पर्शों का सम्बन्ध शनैश्चर देवता से समीकृत किया गया है[2]।

इस शिक्षा के काल की निम्नतम सीमा का निर्धारण हम वाजसनेयि प्रातिशाख्य की उवटकृत भाष्य में अंकित इस शिक्षा के विवरण से करते हैं[3]। ऐसा सुना जाता है कि उवट राजा भोज के आश्रित विद्वान थे[4]। चूँकि भोज का शासन काल 1018ई0 के आसपास निर्णीत है[5] इसलिए उवट का समय ग्यारहवीं ~~आसपास~~ शताब्दी के लगभग स्वीकार किया जा सकता है। यदि इस शिक्षा को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करने में एक सौ वर्ष लगा हो तो इस शिक्षाके काल की निम्नतम सीमा दसवीं शताब्दी माना जा सकता है।

1- निमेषो मात्राकाल: स्याद् विद्युत्कालेति चापरे।
अक्षरातुल्य योगत्वान् मति: स्याद् सोमशर्मण: ।।- याज्ञ0शि0श्लोक08

2- पंचविंशति स्पर्शा:कृष्णा: व्याख्याता:शनैश्चर-देवत्या:।-शि0सं0पृ032 {या0शि0 श्लोक 209}

3- तथा चोक्तं याज्ञवल्क्येन-यमान् विद्यादयोस्पण्डान् सान्तस्थान दासपिण्डवत्
अन्तस्था यमवर्जं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत् ।।-वाज0प्राति0। ।63 में अंकित
यह श्लोक याज्ञ0शि0श्लोक 20{शि0सं0पृ029}में वर्णित है {

4- आउफ्रेक्ट, केटालोगुस केटालोगरम।

5- वही0, पृ0410

लूडर्स के अनुसार व्यास शिक्षा का रचना काल तेरहवीं शताब्दी निर्णीत है[1]। इन साक्ष्यों के अवलोकनोपरान्त यह निर्णीत होता है कि याज्ञवल्क्य शिक्षा का रचना व्यास शिक्षा से लगभग तीन सौवर्ष पूर्व हुआ था ।

यह शिक्षा "शिक्षा-संग्रह-चौखम्भा सीरिज वाराणसी-1893 ई0 में प्रकाशित है । याज्ञवल्क्य शिक्षा तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य में अनेक स्थलों पर समानता है । अस्तु वाजसनेयि प्रातिशाख्य से याज्ञवल्क्य शिक्षा में अनेक स्थलों पर श्लोक यथावत् उद्धृत किया गया है[2]। जिसमें प्लुत सम्बन्धी तथा ऋकार उच्चारण स्थान सम्बन्धी चर्चा की गयी है । संघर्षी ध्वनियों से पूर्व स्पर्शी व्यन्जनों की महाप्राणता पर भी विचार किया गया है । यद्यपि माध्यन्दिन शाखा में सवर्णी ऊष्म के होने पर ध्वनिपरिवर्तन नहीं होता है[3] जबकि आपस्तम्ब

1- व्यास शिक्षा पृ0 107

2- ओकार: प्लुतविज्ञेय: प्लुतमग्ना द्वितीयकम्

लाजीच्छाचीं तृतीयं च विकेशेति चतुर्थकम् ।। 24 ।।

अध: स्विदा सीत्पन्चमं चोपरि स्विदासीन्च षष्ठकम् ।

सप्तमं तु किलबे स्मार: अष्टम नैव विद्यते । ।। 25 ।।

लृकारस्य तु दीर्घत्वं नास्ति वाजसनेयिन: ।। 26 ।।

(प्लुत पर) वाज0 प्राति0 ।। 20 को याज्ञ0 शि0 श्लोक 24, 25 तथा 26 में अंकित किया गया है ।

(ऋ पर) इसी प्रकार वाज0प्राति0 । 65 के याज्ञ0शि02 12 में अंकित ।

3- नैतन्माध्यन्दिनीयानां सस्थानत्वात्तयोर्द्वयो:।

सस्थानेऽपि द्वितीयं स्यादापस्तम्बस्य यन्मतम् ।।

याज्ञ0शि0 13।

शाखा में इन्हीं अवस्थितियों में यह ध्वनिपरिवर्तन हो जाता है । वस्तुतः यह बोलीगत भेद था ।

यथा- संस्कृत के प्स > छ आधु0भारतीय भाषाओं में पाया जाता है किन्तु त्स विभिन्न रूपों में पाया जाता है ।

इस शिक्षा में य तथा व के विभिन्न स्थितियों पर अत्यन्त दिलचस्प विचार व्यक्त किये गये हैं । इस शिक्षा का सम्बन्ध शौरसेनी बोली के साथ स्थापित किया जा सकता है ।

इस शिक्षा में वैदिक स्वरों का उदाहरण के साथ विशिष्ट तथा विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है । लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव- इन चार प्रकार की सन्धियों का विवेचन भी किया गया है । वर्णों के विभेद, स्वरूप, परस्पर साम्य तथा वैषम्य आदि विषय भी सुन्दर रीति से वर्णित है ।

§4§ वासिष्ठ शिक्षा -

इस शिक्षा का शुक्ल यजुर्वेद की शिक्षाओं में द्वितीय स्थान है । इस शिक्षा के प्रणेता ब्रह्मर्षि वसिष्ठ हैं । यद्यपि कि इस शिक्षा का ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से महत्व नगण्य है तथापि वाजसनेयि संहिता में आने वाले ऋक्मन्त्र तथा यजुमन्त्र का पार्थक्य इस ग्रन्थ में बड़े विस्तार से किया गया है । इस शिक्षा के अनुसार शुक्लयजुर्वेद की समग्र संहिता में ऋग्वेदीय मंत्र 1467 हैं और यजुषों की संख्या 2823 है । यह शिक्षा तैत्तिरीय शाखा की वासिष्ठी शिक्षा से भिन्न है । यह शिक्षा ऋक् तथा यजुर्वेद में श्लोकबद्ध मवशिष्ट है । यह शिक्षा श्री युगल किशोर व्यास द्वारा प्रकाशित बनारस संस्कृत सिरीज बनारस 1893 के "शिक्षा-संग्रह" में

उपलब्ध है । "ऋच" और "यजुस" का विभाजन करती है । सर्वानुक्रमणी से इस शिक्षा का संकलन किया गया है[1] । जिससे यह एक सुलभ सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत है । अस्तु अपेक्षाकृत यह एक अर्वाचीन कृति है ।

§5§ कात्यायनी शिक्षा-

यह शिक्षा शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा से सम्बन्धित महर्षि कात्यायन की कृति है । यह 13 श्लोकों से निबद्ध[2] एक लघु पुस्तिका है। यद्यपि कि यह स्वराघात पर लिखित एक छन्दमयी कृति है फिर भी वर्तमान समय में इसका कोई विशेष महत्व नहीं है । इस शिक्षा के अधिकांश नियम वाजसनेयि प्रातिशाख्य के नियमों के आधार पर निर्मित हैं ।

§6§ पाराशरी शिक्षा-

शुक्लयजुर्वेदीय यह शिक्षा महर्षि पाराशर द्वारा प्रणीत है । यह चिरकालीन रचना प्रतीत होती है । यह शिक्षा "शिक्षा-संग्रह चौखम्भा सिरीज वाराणसी 1893 में पृ० 52 से 71 तक प्रकाशित है । यह शिक्षा 160 श्लोकों में निबद्ध है । इस शिक्षा में न केवल स्वर, वर्ण तथा सन्धि आदि आवश्यक विषयों का विवेचन किया गया है बल्कि अन्य शिक्षाओं की सूची प्रस्तुत की गयी है । यह शिक्षा सभी शिक्षाओं में उसी प्रकार सर्वप्रमुख है "जिस प्रकार कि समस्त देवताओं में विराज §जैसे विश्वात्मा§ तथा तीर्थों में पुष्कर सर्वप्रमुख है।"[3]

1- अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि वासिष्ठस्य मतं यथा ।
सर्वानुक्रममुद्धृत्य ऋग्यजुषोस्तु लक्षणम् ।। - वा०शि० ।§शि०सं०पृ०36§

2- शि०सं० पृ० 46-51§

3- यथा देवेषु विश्वात्मा यथा तीर्थेषु पुष्करम् ।। । ।।
तथा पाराशरी शिक्षा सर्वशास्त्रेषु गीयते ।। 2 ।। पाराशरी शिक्षा 1,2 ।

यह पाराशर की शिक्षा है तथा शुक्लयजुर्वेद की काण्व, मध्यन्दिन आदि शाखाओं के साथ इसका वर्गीकरण किया गया है[1]। यद्यपि कि इसमें शुक्लयजुर्वेद की सभी प्रमुख शिक्षाओं का उल्लेख किया गया है किन्तु इसका मूलरूप वर्तमान रूप की अपेक्षा अति चिरकालीन है। इस शिक्षा में यह भी विधान किया गया है कि वैदिक मंत्रों का अशुद्ध उच्चारण कर्ता नरक के भयंकर कष्टों को प्राप्त करते हैं[2] जिससे आधुनिक हिन्दू धर्म सुपरिचित है[3]।

पाराशरी शिक्षा भी याज्ञवल्क्य शिक्षा के सदृश समग्र रूप से परिपूर्ण है तथा इसमें यजुर्वेद संहिता से विभिन्न स्थलों पर उद्धरण भी अंकित किये हैं[3]।

इस शिक्षा में मुख्यतया व के उच्चारण की विभिन्न संभावनाओं क्षिप्रस्वर, सन्धिज तथा स्वरान्तवर्तती "कुक्कुट" के द्वित्व के का द्वित्व के रूप में उच्चारण करने का विधान किया गया है[4]। "कुक्कुट" के द्वित्वोच्चारणविधान

1- चरणव्यूह, 19.

2- अन्यथा निरयं यान्ति कुम्भीपाकं च दारुणम्।

-शि0 सं0 पृ0 58 तुल0 - भागवत पुराण 5.26.7

3- शि0 सं0 पृ0 58 तुल0 पृ0 123

4- कुक्कुटः कामलुब्धोऽपि ककारद्वयमुच्चरेत्।

एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः कुक्कुटोऽसि निदर्शनम्॥

- पारा0शि0 69

तुल0 वाज0 प्राति0 4.142.

में पाराशरी शिक्षा तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य में परस्पर विचारवैषम्य प्रतीत होता है ।

§7§ माण्डवी शिक्षा -

शुक्लयजुर्वेदीय पाण्डवी शिक्षा के प्रणेता महर्षि माण्डव्य हैं[1] । यह शिक्षा शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से सम्बन्धित है । यह अपेक्षाकृत प्राचीन रचना जान पड़ती है । यह शिक्षा बनारस चौखम्भा संस्कृत सिरीज 1893 से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह" में संकलित है । माण्डव्य का नामोल्लेख शतपथ ब्राह्मण की वंशावली में प्राप्त होता है[2] । इस शिक्षा में वाजसनेयि संहिता में अंकित ओष्ठ्य वर्णों का संग्रह किया गया है । अन्य शिक्षाग्रन्थों से इसकी विशिष्टता स्पष्ट है क्योंकि इसमें स्वर तथा वर्णों पर विचार नहीं किया गया है । इसमें केवल ओष्ठीय स्पर्श व वाले शब्दों की ही परिगणना की गई है । ऐसा प्रतीत होता है कि व तथा ब के बीच उच्चारण की सम्भाव्य अशुद्धियों के निवारण हेतु यह प्रयास किया गया है । केवल ओष्ठीय स्पर्श वकार निष्ठ शब्दों के ही विवेच्य होने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस शिक्षा का सम्बन्ध मध्य एवं पूर्व क्षेत्र से अधिक था ।

1- 'अथातः सम्प्रवक्ष्यामि शिष्याणां हितकाम्यया ।
माण्डव्येन यथा प्रोक्ता ओष्ठ संख्या समाहृता ।। - मा०शि०1072

2- अथ वंशः समानमासांजीविपुत्रात् ---------माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात् कौत्सः ----।

{8} अमोघानन्दनी शिक्षा-

शुक्लयजुर्वेदीय अमोघानन्दनी शिक्षा महर्षि अमोघानन्दिन की कृति है । यह शिक्षा याज्ञवल्क्य तथा पाराशरी शिक्षा के समकक्ष ज्ञात पड़ती है । यह शिक्षा वाराणसी चौखम्भा सिरीज 1893 से प्रकाशित "शिक्षा-संग्रह" में संकलित है । यह शिक्षा 130 {एक सौ तीस} श्लोकों में निबद्ध है जिसमें स्वरों का तथा वर्णों का पर्याप्त सूक्ष्म विचार किया गया है । इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी है, जिसमें मात्र 17 सत्तरह श्लोक हैं। यह शिक्षा याज्ञवल्क्य तथा पाराशरी शिक्षा से अत्यन्त साम्य रखती है । इसका प्रयोजन माण्डवी शिक्षा से समानता रखती है । क्योंकि इसमें एक सूची आद्य दन्त्योष्ठ्य व की तथा दूसरी ओष्ठ्य स्पर्श व की दी गई है । ओष्ठ्य स्पर्श वकार निष्ठ शब्दों मात्र के विवेच्य होने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस शिक्षा का सम्बन्ध भी माण्डवी शिक्षा के सदृश मध्य तथा पूर्व क्षेत्र से था ।

यह शिक्षा वाजसनेयि प्रातिशाख्य का उसी प्रकार अनुसरण करती है जिस प्रकार कि याज्ञवल्क्यशिक्षा[1] किन्तु इसमें नासिक्य ध्वनियों के लिए कई शब्दों का प्रयोग किया गया है । यथा-महारंग तथा अंतरंग[2] ।

1- अग्ना इ इ यक्तिनवन्स्वल्लीजी3न्छाची निति दिः ।।
तिर्यूच्चीनो विततःपृच्छामि त्वांवायुरनिलमिति
सप्त प्लुता भवन्ति ह्यष्टमो न विद्यते ।।
मनोजूतिश्च वायुश्च प्लुतमेके द्विधाकृतम ।।
ओकाराद्याः प्लुताःसर्वे न विकल्पःकदाचना। - अमोघा० शि० 47,48

2- वण्महारच अडादित्यो ह्यद्धा देव महाँऽसासि ।।
वदसूर्यस्य तु सन्नातो महारङ्•गाःप्रकीर्तिताः ।। 45।।
परिते परिमाग्ने च अदृश्रं परिकीर्तिताः ।।
यास्याद्वयं प्रदृश्यन्ते अंतरङ्•गाःप्रकीर्तिताः ।। 46।। अमोघा०शि०45,46।

§9§ "माध्यन्दिनी शिक्षा"-

शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिनी शिक्षा के प्रणेता महर्षि माध्यन्दिन को माना गया है। इसका एक संक्षिप्त संस्करण लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा है जो एक आधुनिक कृति जान पड़ती है। दुर्भाग्य से इन दोनों शिक्षाओं में इनके रचना-स्थलों के सन्दर्भ में कोई सङ्केत नहीं मिलता। यह वाराणसी चौखम्भा सिरीज 1893 से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह" में संकलित है।

माध्यन्दिन शिक्षा में मूर्धन्य ष ध्वनि से कण्ठ्य ख ध्वनि का भेद दिखाने के लिए खकार वाले शब्दों की सूची बनाई गयी है। यथा- आखुः, मयूखैः।

लघु माध्यन्दिन शिक्षा में केवल मूर्धन्य स्पर्शों से पूर्व आने वाले ष को छोड़कर अन्यत्र सब स्थानों पर ष का उच्चारण ख के सदृश होना चाहिए- इस नियम का विधान किया गया है[2]। मुख्यतया इन दोनों शिक्षाओं में ख और ष के उच्चारण सम्बन्धी त्रुटियों का निराकरण किया गया है[3]। जिन्हें हम आधुनिक संस्कृत के तत्सम शब्दों के उच्चारण में देख सकते हैं। जैसा कि पूर्वी अंचलों में बिहारी लोग संस्कृत "ऋषि" शब्द का उच्चारण "रिखि" करते हैं, जबकि पश्चिमी अंचलों में पंजाबी लोग इसका उच्चारण "रिशि" करते हैं। किन्तु

1- शिक्षा संग्रह पृ0 109

2- अत्र कवर्गीय-खकारा निर्दिश्यन्ते, इत्यादि। माध्यं0शि0 2

3- अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि माध्यन्दिनमतं यथा।
षकारस्य खकारः स्याद टुकयोगे तु नो भवेत्।। -ल0 माध्यं0शि0।

शिक्षा में संस्कृत तत्सम शब्दों में मूर्धन्य व्यंजनों से पूर्व में आने वाले ष का उच्चारण ख के सदृश न होकर श के सदृश होता है ।

शुक्लयजुर्वेदीय उपरोक्त शिक्षाओं के अतिरिक्त दो शिक्षाओं का उल्लेख पाराशरी शिक्षा में किया गया है जो एवंविध है -

(10) <u>वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा-</u>

भारद्वाज वंशीय अमरेश कृत "वर्णरत्न प्रदीपिका" नामक यह शिक्षा याज्ञवल्क्य शिक्षा की पद्धति पर लिखी गई है तथा पूर्णतया प्रातिशाख्य पद्धति का अनुवर्तन करती है[1]। इसमें जो कुछ वर्णित है इसकी वर्णनशैली याज्ञवल्क्य शिक्षा से पूर्णतः साम्य रखती है । यह शिक्षा याज्ञवल्क्य शिक्षा के समकक्ष जान पड़ती है । यह शिक्षा वाराणसी चौखम्भा सिरीज 1893 से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह" में संकलित है[2]। इसमें ऋ तथा र के उच्चारण का विधान उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार याज्ञवल्क्य शिक्षा में । यथा दोनों में ही ऋ को जिह्वामूलीय तथा र दन्तमूलीय ध्वनि कहा गया है[3]।

1- अमरेश इति ख्यातो भारद्वाज कुलोद्वहः ।

सोऽहं शिक्षा प्रवक्ष्यामि प्रातिशाख्यानुसारिणीम् ।।

2- "शिक्षा-संग्रह" पृ० 117-137 - वर्ण० शि० 1-2

3- ऋवर्णोऽथ कवर्गश्च जिह्वामूलीय एव च ।।

जिह्वामूले भवन्त्येषां जिह्वामूलमं च कारणम् ।। 27 ।।

- वर्ण० शि० 28,29,30

§11§ "केशवी शिक्षा" -

शुक्लयजुर्वेद के माध्यन्दिन शाखा से सम्बन्धित इस शिक्षा के प्रणेता आस्तीक मुनि के वंशज गोकुल देवज्ञ के पुत्र केशव देवज्ञ है । देवज्ञ का तात्पर्य ज्योतिषी से है । यह अपेक्षाकृत अर्वाचीन रचना प्रतीत होती है । यह शिक्षा वाराणसी चौखम्भा सिरीज 1893 से प्रकाशित "शिक्षा-संग्रह" में संकलित है ।

इवर्णोऽथ चवर्गश्च एऐकारौ यशौ सह ।
तालुस्थाना भवन्त्येषां जिह्वामध्यं तु कारणम् ।।28।।
षकारोऽथ टवर्गश्च मूर्धन्याः परिकीर्तिताः ।।
जिह्वायाः प्रतिवेष्टयाग्रमेतेषां कारणं स्मृतम् ।। 29 ।।
लृलसिताः स्मृता दन्त्या जिह्वाग्रकरणाहिते ।।
रेफश्च दन्तमूलोत्थो जिह्वाग्रेण विधीयते ।। 30।।

-वा०रा०पु०शि०

यह शिक्षा दो रूपों में उपलब्ध है । पहली शिक्षा में जहाँ एक ओर माध्यन्दिन शाखा से सम्बद्ध परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है वहीं दूसरी ओर समस्त नव प्रतिज्ञा सूत्रों[1] का सविस्तृत सोदाहरण व्याख्या किया गया है। दूसरी शिक्षा में 21 पद्यों में स्वर विवेचन किया गया है । केशवी शिक्षा में ष का ख उच्चारण[2] एवं विभिन्न अवस्थितियों में य तथा व का उच्चारण,[3] स्वरभक्ति

1- इति श्री देवज्ञकेशवकृता प्रतिज्ञासूत्रानुसारिणी केशवी शिक्षा समाप्ता ।-के०शि०

2- षकार खष्टुमृते च ।। 3 ।। के०शि०

3- पदादौ पूर्वाहल्वोद्विर्व्योच्चारौ सम्पूर्वयोश्छन्दसि- ।। ।। - के०शि०
तु० शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा अ06-

का ए के समान उच्चारण, आकार से पूर्व में न होने पर ह्रस्व स्वर का किंचित दीर्घवत् उच्चारण आदि मात्रा-नियम का विवेचन किया गया है । मुख्यतया इस शिक्षा में अर्वाचीन ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है । जहाँ एक ओर हम वाजसनेयि प्रातिशाख्य में इसके "प्रतिज्ञासूत्र" का स्वरूप झलकता हुआ पाते हैं । वहीं दूसरी ओर चरणव्यूह में भी । शुक्लयजुर्वेद का तो इसे तृतीय परिशिष्ट ही कहा गया ।

एवंविध शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षाओं के विषय परिचयार्थ यह एक लघु प्रयास किया गया । इनमें केवल चार शिक्षाओं को ही समग्ररूप से पूर्ण कहा जा सकता है । - (1) याज्ञवल्क्य शिक्षा (2) पाराशरी शिक्षा, (3) अमोघानन्दिनी शिक्षा तथा(4)वर्णरत्नप्रदीपिका । इनमें सर्वप्राचीन शिक्षा याज्ञवल्क्य शिक्षा ही है जिसके रचनाकाल की निम्नसीमा दसवीं शताब्दी है । ऐसा अनुमान है कि इन शिक्षाओं की रचना शौरसेनी प्रदेश में हुआ होगा जिसकी सीमा मध्यप्रदेश तक सम्भावित है ।[1]

(ग) कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षाएँ -

कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षाओं का विषय परिचयात्मक निरूपण द्विविध किया जा सकता है-[2]

1- वेबर, "इण्डिशे स्टुडीन" 72

2- डॉ०सिद्धेश्वर वर्मा- ए क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनिटिक आब्जर्वेशन्स आफ इण्डियन ग्रामेरियन्स ।

1- "चारायणीय" शाखा की शिक्षाएं,

2- तैत्तिरीय शाखा की शिक्षाएं ।

(12) चारायणीय शिक्षा"-

यह शिक्षा कृष्णयजुर्वेदीय चारायणीय शाखा से सम्बन्धित है । इसके प्रणेता महर्षि चारायण है । यह पाणिनीय शिक्षा की अपेक्षाकृत कालान्तर की रचना जान पड़ती है । यह शिक्षा दो पाण्डुलिपियों में उपलब्ध होती है । एक पाण्डुलिपि भण्डारकर प्राच्य अनुसंधान संस्थान पूना 1875-76 में उपलब्ध है तथा दूसरी विश्वविद्यालय पुस्तकालय गटिंगटन[1] में उपलब्ध है । चरण-व्यूह के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की चरक शाखा की बारह उपशिक्षा में से एक है[2] । इस शिक्षा को "महाशिक्षा" कहा गया है[3] । इसमें पूरे तीसरे अध्याय में सन्धि-नियमों, आठवें अध्याय में अभिनिधान, जिसे इसमें "मुक्त" या "भक्ष्य" कहा गया है तथा पाँचवे अध्याय में लौकिक संस्कृत छन्दों का सम्यक्तया विवेचन किया गया है। तथा इन्द्रवज्रा, प्रहर्ष आदि छन्दों का निरूपण भी किया गया है[4] ।

1- पृ0 44

2- यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति ।। 10 ।।
तत्र चरका नाम द्वादशविधा भवन्ति, चरका हरका चारायणीयाः ।। ।। ।।

3- ॐ प्राक् प्रयतो विभुं भक्त्या सर्वलोकपितामहम् ।
शिक्षां साक्षात् प्रवक्ष्यामि, तेनैवालपितामहम् ।
चारायणीं महाशिक्षां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
निबोधत बुधश्रेष्ठा नित्यं वाङ्मल शान्तये ।। - चारा0शि0पत्र ।
य इदं पठते नित्यं पश्चाध्यापयेद्द्विजम् ।
अस्यार्थं बुद्धयो यो वै ब्रह्मलोकं स गच्छति ।। -चारा0शि0पृ0।। समाप्तिसूचक अंश है ।

4- एकादशोपेन्द्रवज्रं द्वादशं तु जलोद्धतम्,
त्रयोदशाक्षरपदं प्रहर्षवृत्तमुच्यते । - चारा0शि0पत्र 7

पाणिनीय शिक्षा के सदृश इस शिक्षा में भी ऋ तथा र को मूर्धन्य कहा गया है[1]। अस्तु यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा की अपेक्षा कालान्तर की रचना प्रतीत होती है। इसमें वाजसनेयि प्रातिशाख्य को दो स्थानों पर उद्धृत किया गया है[2]। इसमें दस उच्चारण स्थानों का भी परिगणन किया गया है[3]। इसके अतिरिक्त इसमें उन आठ स्थानों का वर्णन किया गया है जिनका पाणिनीय शिक्षा में वर्णन मिलता है साथ ही दो अन्य स्थानों - सृक्व (मुख का कोण) तथा दन्तमूल का भी परिगणन किया गया है[4]।

1- मूर्धन्या ऋटुरषा ज्ञेया दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ।

- चाराoशिo पत्र 2

2- वर्णस्यादर्शनं लोपः । -वाजoप्रातिo 1·141·

"स्वरोऽक्षरम्" इति प्राहुराचार्या अक्षरचिन्तकाः ।

-वाजoप्रातिo 4·99

3- दशस्थानानि वर्णानां कीर्तयन्ति मनीषिणः ।

यतः प्रवृत्तिर्वर्णानां तानि मे गदतः शृणु । उरः

कण्ठः शिरस्तालु दन्ता ओष्ठौ तु नासिका,

जिह्वामूलं तु सृक्कश्च दन्तमूलस्तथैव च ।

- चाराo शिo पत्र 1

4- अष्टौ स्थानानि वर्णानाम् । - पाo शिo 13

ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि को इस शिक्षा का ज्ञान था क्योंकि उन्होंने कम्बलप्रिय चारायणीय शिष्य का उल्लेख किया है[1]।

यद्यपि इस शिक्षा की रचना-स्थली से सम्बन्धित कोई विवरण तो इसमें प्राप्त नहीं होता फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस शिक्षा की रचना उस क्षेत्र में हुई होगी जहाँ स्वरभक्ति के उच्चारण में इ तथा उ स्वरों की प्रधानता रही होगी क्योंकि इस शिक्षा में स्वरभक्ति के उच्चारण में इ तथा उ स्वरों का निषेध किया गया है[2]। अस्तु इस शिक्षा की रचना अर्धमागधी तथा अपभ्रंश के प्रधानता वाले क्षेत्र में हुआ था।

(2) तैत्तिरीय शाखा की शिक्षाएँ

तैत्तिरीय शाखा की शिक्षाओं का ध्वनिविज्ञान के क्षेत्र में महनीय योगदान है। इस शाखा की शिक्षाएँ पाण्डुलिपियों के रूप में ही अधिक उपलब्ध है। जैसा कि विद्वानों का मत है कि इस शाखा की शिक्षाओं संख्या बहुत अधिक है। जिसमें से सोलह शिक्षाओं पर ही प्रकाश डाला जायेगा इन शिक्षाओं में वास्तविक मूलग्रन्थ का पहचान करने के लिए हमें "वेदलक्षणानुक्रमणिका" का आश्रय

1- "कम्बलचारायणीय:" कैय्यट टीका में कम्बलप्रियस्य चारायणीयस्य शिष्य:।

-अष्टा० 1·1·73।

2- स्वरभक्ति: प्रयुञ्जानस्त्रीन् दोषान् वर्जयेद् बुध:।

इकारं वाप्युकारं च ग्रस्तेदोषान् विवर्जनात्।। -चारा०शि० पत्र 9

लेते हैं जिसमें नौ प्रधान शिक्षा तथा तीन गौण शिक्षाओं का उल्लेख मिलता है[1]। जिसमें प्रधान हैं - 1- भारद्वाज 2- व्यास 3- शम्भु 4- कोहलीय 5-पाणिनि 6- बाल्मीकि 7- बोधायन 8- हारीत तथा गौण - §1§ सर्वसम्मत §2§सिद्धान्त तथा §3§ आरण्यक शिक्षाएँ। अब इन शिक्षाओं की रचना- स्थली के सम्बन्ध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। चूँकि इन शिक्षाओं की अधिकांश पाण्डुलिपियाँ दक्षिण भारत में ही उपलब्ध होती हैं। इससे यह प्रतीत होताहै कि इन शिक्षाओं की रचना भी दक्षिण भारत में ही हुई होगी। इसका कारण यह है कि मध्यकाल में वैदिक-अध्ययन का मुख्य केन्द्र दक्षिण भारत ही गया था।

तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित शिक्षाओं का विवरण एवंविध है-

§13§ भारद्वाज शिक्षा -

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध यह शिक्षा तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्धित होने के कारण "संहिता शिक्षा" के नाम से अभिहित होती है। महर्षि भारद्वाज इस शिक्षा के प्रणेता हैं। यह शिक्षा अपेक्षाकृत प्राचीन है। यह शिक्षा भण्डारकर प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान पूना से प्रकाशित है। इसमें 130 श्लोक हैं। जहाँ एक ओर इस शिक्षा का परमोद्देश्य संहिता में प्रयुक्त

1- "भारद्वाज-व्यास-शम्भु-पाणिनि-कोहलीयकम्।
बोधायनो-वसिष्ठश्च वाल्मीकिर्हरितिर्नव ।। 5 ।।" §ये नौ प्रधान शिक्षाएं हैं§

तीन गौण शिक्षाएं-

"सर्वसम्मतमारण्यं तथा सिद्धान्तमेव च।
उपशिक्षा इमें प्रोक्ता लक्षणज्ञानकोविदैः ।।6।।"
-सं0967 §मद्रास, 1905ई0§

पदों की उच्चारण शुद्धता तथा उसके लिए विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन करना है वहीं दूसरी ओर विशिष्ट शब्दों का संकलन भी है । यथा तैत्तिरीय संहिता में "वृजिन्" शब्द का जकार के उदात्त स्वर युक्त होने पर यह अकारयुक्त "वृजन" होता है-वृजने ज उदात्तश्चेव् अकारेण सहोच्यते । एवंविध "पर्श"शब्द अन्तोदात होने पर परशु रूप में परिणत हो जाता है । कुछ ऐसे भी शब्दों का संकलन किया गया है जो किंचित अन्तर के साथ प्रयुक्त हुएहै । यथा तारिषात्[1] का अन्तिम व्यन्जन ङकार तारिषः[2] में प्राप्त नहीं होता । एवंविधइस शिक्षा का विषय-विवेचन व्यावहारिक है । इसमें शिक्षा शास्त्र के सम्बन्धित अन्य विचारों का अभाव है ।

यह शिक्षा प्राचीन प्रतीत होती है । क्योंकि सिद्धान्त शिक्षा" में शिक्षाओं की सूची में "भारद्वाज शिक्षा" का नाम सर्वोपरि है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह शिक्षा व्यास शिक्षा के समकालीन है ।

§14§ <u>व्यास शिक्षा</u> -

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। महर्षि व्यास द्वारा इस शिक्षा के प्रणेता है । यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा के समकालीन प्रतीत होती है । यह शिक्षा पाण्डुलिपि रूप में सरस्वती विहार पुस्तकालय होजखास नई दिल्ली में उपलब्ध है । इसमें 27 प्रकरण है तथा 525 श्लोक हैं । पहला संज्ञा

1- तैत्ति0 शिक्षा । 5,11,4

2- तैत्ति0 शिक्षा ।।।·3,11,4

प्रकरण है । जिसमें व्याकरण के सदृश विविध संज्ञाओं का विवेचन किया गया है । दूसरा प्रगृह्य का प्रतिपादन करता है । तीसरे प्रकरण में द्वित्वागम तथा लोपादि कार्य के विधान के लिए विविध परिभाषायें दी गयी हैं । चौथे प्रकरण से पन्द्रहवें प्रकरण तक दीर्घागम, लोप विकार, रेफ, विसर्ग अव सन्धि से सम्बन्धित विषय का विवेचन किया गया है । सोलहवें में स्वरधर्मविचार किया गया है । सतरहवें में स्वरसन्धिविचार किया गया है । अठारहवें में करस्वरविन्यास का निरूपण किया गया है । उन्नीसवें से इक्कीसवें तक द्वित्व का पूर्वागम तथा निषेध का प्रतिपादन किया गया है । बाइसवें प्रकरण में स्वर व्यन्जन के अङ्गाङ्गिभाव का विवेचन किया गया है । तेइसवें में स्वरभक्ति निरूपण, चौबीसवें में स्थान करणप्रयत्न विचार, पचीसवें में प्लुतस्वर, छब्बीसवें में ओष्ठ्य विकार तथा सताइसवें में कालनिर्णय, उच्चारण फलश्रुति का विवेचन किया गया है । इसका प्रतिपाद्य विषय पाणिनीय शिक्षा के प्रतिपाद्य विषय से अधिकांशतः साम्य रखता है । केवल उच्चारण के सम्बन्ध में दोनों के सिद्धान्तोंमें किंचिद् भिन्नता पायी जाती है । उदाहरणार्थ पाणिनीय में उच्चारणावयव "शिरस" तथा "जिह्वामूल वर्णित है जबकि व्यास शिक्षा में इसके लिए मुख विवर के तीन भागों-नामतः आदि, मध्य तथा अन्त का उल्लेख किया गया है[1]। इसमें र का मूर्धन्य नहीं बल्कि

1- अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठशिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।।
पा०शि०।3§शि०सं०379§से तुल०
कण्ठो वक्त्रादि मध्यान्तं, दन्तमूलान्त नासिकम ।
ताल्वोष्ठमुरः स्थानानि, वर्णानां करणान्यधः ।।

वर्त्स्य कहा गया है[1]। व्यास शिक्षा की व्याख्या जहाँ एक ओर वेंकटराम शास्त्री ने "वेदतैजस" नामक से की है वहीं दूसरी ओर लूडर्स[2] ने विस्तृत रूप से (व्याख्या) की है।

(15) शम्भु शिक्षा -

यह शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय से सम्बन्धित है तथा इसके प्रणेता महर्षि शम्भु हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपेक्षाकृत यह प्राचीन ग्रन्थ है। यह शिक्षा व्यास शिक्षा के समकालीन है। इसके प्रथम पद्य में सरस्वती लक्ष्मी तथा कालिका की वन्दना की गयी है। इसके अतिरिक्त इसमें द्वित्व-भाव, स्वरभक्ति तथा प्रगृह इत्यादि पर भी सम्यक्तया विचार किया गया है। मात्रा तथा स्वराघात से सम्बन्धित इस शिक्षा के पद्य वैदिकाभरण[3] तथा त्रिभाष्य-रत्न"[4] में उद्धृत किये हैं। यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा से पर्याप्त भिन्न ग्रन्थ है।

1- तुलनात्मक अध्ययन: व्यास शिक्षा पृ0 8 से पाणिनीय शिक्षा

2- व्यास शिक्षा, पृ0 107

3- अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः ।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः ।।
यह पद्य शम्भु शिक्षा का छत्तीसवाँ श्लोक है जिसे कि तैत्ति0प्राति0 के 1•40 पर वैदिकाभरण ने अपने भाष्य में अंकित किया है।

4- विधेर्मध्यस्थ-नासिक्यों न विरोधो भवेत् स्मृतः ।
तस्मात् करोति कार्याणि वर्णानां धर्म एव तु ।।
यह पद्य शम्भु शिक्षा का पैंतालीसवाँ श्लोक है जिसे तैत्ति0प्राति0 1•1 पर त्रिभाष्य रत्न में अंकित किया गया है।

इसकी मूल पाण्डुलिपि मद्रास के पाण्डुलिपियों (सं0 944, 1905) में प्राप्त होती है। लूडर्स[1] तथा कीलहार्न[2] ने इस शिक्षा पर पर्याप्त विचार किया किया है। कीलहार्न के अनुसार तो यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा का रूपान्तर-मात्र है।

(16) <u>वासिष्ठी शिक्षा</u> -

यह शिक्षा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्ति0 शाखा से सम्बन्धित है तथा इसके प्रणेता महर्षि वशिष्ठ है। यह शिक्षा "व्यास-शिक्षा" से भी प्राचीनतर प्रतीत होती है[3]। यह शिक्षा हस्तलिखित रूप में सरस्वती विहार पुस्तकालय हौजखास नई दिल्ली में उपलब्ध है। इस शिक्षा में दीर्घ ऌ को छोड़कर 26 स्वरों का वर्णन किया गया है। दुर्भाग्य से इस शिक्षा की एक खण्डित प्रतिलिपि ही प्राप्त हो सकी है[4]। जिसमें मात्र 13 श्लोक हैं। इन समस्त श्लोकों में द्वित्व का विधान किया गया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिकाभरणभाष्य में इस शिक्षा को उद्धृत किया गया है।

1- व्यास शिक्षा की लूडर्सकृत भाष्य, पृ0 111.

2- इण्डियन एन्टिक्वेरी, पृ0 199

3- तदुच्यते वासिष्ठीशिक्षायाम्, ऌवर्णदीर्घं परित्यज्य स्वराः षड्विंशति प्रोक्ता इत्यादिना, इत्यादि ।- तैत्ति0 प्राति0 पृ0 8।

4- संख्या 957, 1905 मद्रास।

(17) हारीत शिक्षा -

यह शिक्षा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है तथा इसके प्रणेता महर्षि हारीत है । यह शिक्षा अपेक्षाकृत अर्वाचीन प्रतीत होतीहै । यद्यपि कि यह शिक्षा अनुपलब्ध है फिर भी इसका नामोल्लेख "पारिशिक्षाटिका" में किया गया है । इसके सिद्धान्त प्रातिशाख्यों में दृष्टिगत होते हैं । तैत्ति० प्राति० में स्वरोत्पत्ति के प्रसङ्ग में इसके श्लोक दृष्टिगत होते हैं ।[1] इस शिक्षा में ऊष्म अघोष की द्विरुक्ति नहीं होती है जैसे कि तैत्तिरीय प्राति० में नहीं होती है[2] ।

(18) कोहलीय शिक्षा -

कृष्णयजुर्वेदीय यह शिक्षा महर्षि कोहली द्वारा रचित है । इस शिक्षा में 79 श्लोक है । जिनमें प्रारम्भिक 41 श्लोकों में स्वराघात से सम्बन्धित विचार प्रस्तुत किये गये हैं । इसमें मुख्यतया स्वरों का विवेचन किया गया है । यह शिक्षा कोहलीय सिद्धान्तों का अनुवर्तन करती है[3] । इस शिक्षा के मतानुसार जटापाठ की वही व्यक्ति व्याख्या कर सकता है । जो प्रातिशाख्यों तथा

1- तै० प्रा० ।।27 ।। तत्र हारीत शिक्षा -
"मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरमे ।।"

2- ऊष्माघोषो हारीतस्य । - हा०शि० 14, 18

3- अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि कोहलीय मतानुगाम ।
स्वरादि निर्णयस्तत्र क्रियते तन्निबोधत ।। 1 ।।

शिक्षाओं का सम्यक् ज्ञान रखता है[1]। इस श्लोक को तैत्ति० प्राति० के पाँचवे अध्याय का चौदहवें श्लोक पर "वैदिकाभरण" द्वारा उद्धृत किया गया है। इसमें अन्य शिक्षाओं से कोई भिन्नता नहीं दिखायी पड़ती है। यह आधुनिक रचना प्रतीत होती है। इस शिक्षा में स्वराघात निर्देशन के लिए केवल दाहिने हाथ से हस्तसंचालन का विधान किया गया है[2]।

§19§ "वाल्मीकि शिक्षा"

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि कृष्ण यजुर्वेदीय यह शिक्षा महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित है। परन्तु दुर्भाग्य से अभी तक इसकी कोई प्रतिलिपि प्राप्त न हो सकी। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर इसकी जानकारी कैसे हुई ? तो तैत्ति० प्राति० में दो स्थलों पर वाल्मीकि के मत को उद्धृत किया गया है। एक स्थल पर वाल्मीकि के मतानुसार ओ अक्षर का स्वर उदात्त होता है[3], दूसरे स्थल पर विसर्गों का जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय

1- प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः सर्वशिक्षाविशारदः ।
बुद्धिशक्तिसमेतो यः स जटां वक्तुमर्हति ।। 55 ।।
- को० शि०

2- स्वरान् हस्तेन विन्यस्येद् विपश्चिद्दक्षिणेन तु ।
श्रेयो विपुलमन्विच्छन् न सव्येन कदाचन ।। 35
- को० शि०

3- उदात्तो वाल्मीकेः - तैत्ति०प्राति० x।४।।।• 6

रूपों में परिवर्तन नहीं होता[1]। अस्तु इससे यह पता चलता है कि वाल्मीकि नामक एक ध्वनिशास्त्रज्ञ था जो कि अपने नाम की एक शिक्षा का रचयिता था।

§20§ पाणिनि शिक्षा -

सम्भवतः इस शिक्षा का एक तैत्तिरीय संस्करण भी है किन्तु इससे सम्बद्ध कोई पाण्डुलिपि अभी प्राप्त नहीं हो सकी है। इसका उल्लेख विधाता मिश्र ने किया है[2]।

§21§ बोधायन शिक्षा -

यह शिक्षा भी अभी उपलब्ध नहीं है। वेदलक्षणानुक्रमणिका में इसका उल्लेख मिलता है[3]।

§22§ सर्वसम्मत शिक्षा -

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्ति० शाखा से सम्बन्धित यह शिक्षा दो रूपों में उपलब्ध होती है - प्रथम शिक्षा में 49 श्लोक है जो कि मद्रास से ओटोप्रैक

1- कवर्गं परश्चाग्निवेश्य- वाल्मीकयोः।

तैत्ति० प्राति० । x· 4

2- डा० विधाता मिश्र-

क्रिटिकलस्टडी आफ संस्कृत फोनिटिक्स पृ० 13।

3- वे० लक्षणानुक्रमणिका पृ० 5।

द्वारा प्रकाशित है तथा द्वितीय शिक्षा में चार अध्याय तथा 170 श्लोक हैं जो कि केशवाचार्य[1] द्वारा प्रणीत है । प्रथम शिक्षा के प्रणेता के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती । मंचिभट्ट द्वितीय शिक्षा के भाष्यकार हैं[2] । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम शिक्षा का भाष्यकार भी कोई अन्य व्यक्ति है क्योंकि दोनों के मंगलाचरण तथा प्रतिपाद्य विषय में भिन्नता है[3] । जैसे मंचिभट्ट "सर्वसम्मत" पद की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि "जिस ग्रन्थ में तैत्तिरीय शाखोपयोगी प्रातिशाख्यादि सभी ध्वनिशास्त्रीय ग्रन्थों में समान तथा स्वीकरणीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया हो[4] ।

1- सूर्यदेवबुधेन्द्रस्य नन्देन महात्मना ।
प्रणीतं केशवार्येण लक्षणं सर्वसम्मतम् ।। - सर्वस०शि०4/12।

2- इति श्री मंचिभट्ट विरचितं सर्वसम्मत शिक्षा विवरणं समाप्तम् ।
-सर्वस० शि०

3- ध्यात्वा सर्वजगन्नाथं साम्बं सर्वार्थसाधकं, व्याख्यायतेऽधुना शिक्षा सर्वसम्मत लक्षणां । -फ्रैंक द्वारा सम्पादित सर्व०शि०का भाष्यकार
गणेश्वरं प्रणम्याहं लोकपालन् ग्रहान् गुरुन् ।
सर्वसम्मत शिक्षाया वक्ष्ये व्याख्यानमुत्तमम् ।। - मंचिभट्ट ।

4- सर्वसम्मतं सर्वेषां तैत्तिरीयशाखोपयोगिनां प्रातिशाख्यप्रभृतीनां सम्मतं समानार्थं लक्ष्यन्ते प्रकाश्यन्तेऽनेनेति लक्षणम् । -मंचिभट्ट ।

प्रेक के भाष्यकार ने "सर्वसम्मत" पद की ऐसी कोई व्याख्या नहीं की है ।
इसके अतिरिक्त केवल दो श्लोकों में प्रथम शिक्षा में स्वराघात तथा मात्रा पर बड़ा ही संक्षिप्त विचार किया गया है जबकि द्वितीय शिक्षा में इस पर तैंतीस श्लोक हैं । इस शिक्षा के अनुसार स्वर से रहित व्यंजन की मात्रा केवल 1/4 मात्रा होती है[1] तथा संयोग के प्रथम अंश एवं ओष्ठ्य स्वर के बाद होने वाला विराम "अर्धमात्रिक" होता है । यह संयोग दो ओष्ठ्य स्वरों के मध्य होना चाहिए[2] । इसका रचना काल अति अर्वाचीन प्रतीत होता है[3] ।

§23§ सिद्धान्त शिक्षा -

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित यह शिक्षा आचार्य श्रीनिवास द्वारा विरचित है तथा जो स्वयं इसके व्याख्याकार भी हैं[4] ।

1- सर्व0शि0 4/95

2- ओष्ठयोः स्वरयोर्मध्ये संयोगादिर्यदि स्थितिः ।
विसर्गाद्-क्षपराद्दूर्ध्वमुभयत्रार्धमात्रिकः ।। - सर्व0शि04/80

3- क्योंकि तैत्ति0प्राति0।।1/5 पर त्रिभाष्यरत्न द्वारा अनेक प्रकार की स्वर-भक्ति के सम्बन्ध में इसके श्लोक उद्धृत किये गये हैं ।प्रेक संस्क0पृ022 ·और भी
कुत्रचित् स्वरयोर्मध्ये द्वित्वं लक्ष्यानुसारतः ।
पूर्वागमस्तथा तत्र ज्ञेयो वर्ण विचक्षणैः ।। -सर्व0शि02/3दोनों ही त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण द्वारा तैत्ति0प्राति0।4/6पर उद्धृत है।

4- श्रीनिवासाध्वरीन्द्रेण चतुष्कुले सुधांशुना,श्लोकाःसिद्धान्तशिक्षायां चतुःसप्ततिरीरिताः।श्रीनिवासाध्वरीन्द्रविरचिता सिद्धान्त-शिक्षा-व्याख्या-समाप्ता ।-सिद्धान्त शिक्षा की समाप्तिसूचक पंक्तियां0

जहाँ तक इस शिक्षा के रचनाकाल का प्रश्न है वह रचयिता द्वारा उद्धृत ग्रन्थों का विवेचन करने से ज्ञात होता है । स्वयं रचयिता ने अपने भाष्य में "त्रिभाष्यरत्न" तथा "वैदिकाभरण" नामक व्याख्याओं एवं भट्टभास्करमिश्र और गंगेश जैसे ग्रन्थकारों का भी नामोल्लेख किया है । बर्नेल के अनुसार भट्टभास्कर मिश्र का समय 950-1000 ई0 के लगभग है[2] तथा कीथ के अनुसार गंगेश का समय 1150-1200 ई0 है[3] । अपने व्याख्या में व्यासादि नौ शिक्षाओं का उल्लेख किया है । इससे यह ज्ञात होता है कि व्यास आदि ग्रन्थकारों से यह रचना अर्वाचीनतर है । तैत्तिरीय संहिता पर भट्टभास्कर कृत व्याख्या को भाष्य कहा है इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सायणकृत भाष्य के अनन्तर ही यह भाष्य लिखा गया होगा । अस्तु इन तथ्यों पर अवलोकनोपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सायण से भी लगभग एक शताब्दी बाद तेरहवीं शताब्दी ई0 में इस शिक्षा की रचना हुई[4] । यह मद्रास से पाण्डु0 1012 सम्पादित है ।

1- पूर्व शब्दान् परामृश्य प्रातिशाख्यं च सर्वशः ।
सिद्धान्त-शिक्षां वक्ष्यामि वेदभाष्यानुसारिणीम्।। -सि0शि0श्लोक सं02
व्याख्या- त्रिभाष्यरत्नैर्वैदिकाभरणादिव्याख्यानपुरःसरतया प्रातिशाख्यं च परामृश्य वेदभाष्यानुसारिणीं भटभास्करादिशोधनजन्यतया विश्वसनीयां-शिक्षां वक्ष्यामि।

2- संस्कृत-पाण्डुलिपि अनुक्रमणिका, तंजौर पृ07.

3- "इण्डियन लॉजिक" पृ033, गंगेश का उल्लेख 7वें श्लोक में किया गया है- "आन्वीक्षिकीं परमकारुणिको प्रणिनायेति गंगेशः"।

4- बर्नेलः वंश ब्राह्मण, पृ06 आदि ।

इस शिक्षा में भी याज्ञवल्क्य शिक्षा के सदृश ध्वनिविज्ञान से भिन्न सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है । इसमें ककारादि क्रम से विभिन्न ध्वनियों वाले शब्दों की सूचियाँ दी गयी है[1] । इसमें वेदों में "त्वम्" का वैकल्पिक रूप "त्वङ्." उच्चारण करने का निर्देश प्राप्त होता है ।

(24) आरण्य शिक्षा -

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित यह शिक्षा तैत्तिरीयारण्यक में स्वराघात पर लिखित एक लघु निबन्ध है । यह एक अति अर्वाचीन कृति है । मद्रास में इस शिक्षा की पाण्डुलिपि सं0 866 उपलब्ध है । जैसा कि इस शिक्षा के प्रथम श्लोक से ही ज्ञात होता है कि यह शिक्षा नौ शिक्षाओं के समुद्र में से उद्धृत अमृत के समान है[2] । इसमें विभिन्न स्थितियों में आने वाले स्वराघात युक्त शब्दों का परिगणन किया गया है । उदात्तादि स्वरों एक, दो तथा तीन आदि संख्या से विस्पष्ट किया गया है[3] ।

1- ककारादिः कभिष्यन्ते स्यादमुं लोकमुत्तरः ।
   कर धातोः कडित्याहुररिवभ्यां परितःकृतम् ।। - सि0शि045

2- गणपतिमभिनन्द्याद्य जानामयत्नम्,
   स्वरपदमिति वर्णोदबोधनं शीतलेन ।
   क्षितिसुरगणहेतोरेतदारण्यशिक्षा-
   मृतमिव नवशिक्षावारिधेरुद्धरामि । - आ0शि0।

3- आद्युदात्तानि वाक्यानि चैक-द्वि-त्र्यादि संख्यया ।
   विविधानि तु वृन्दानि विस्पष्टान्यत्र कृत्स्नशः ।। 2 ।।

§25§ आपिशालि शिक्षा -

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित यह शिक्षा महर्षि आपिशालि[1] द्वारा प्रणीत है । जहाँ तक इसके रचनाकाल का प्रश्न है तो वैदिकाभरण में इस शिक्षा का नामोल्लेख पूर्वक उद्धरण दिया गया है[2]। इस शिक्षा ने कैय्यट को ग्यारह प्रकार के वाह्यप्रयत्नों का परामर्श दिया है । अन्य किसी शिक्षा में वाह्यप्रयत्नों के इन रूपों का वर्णन नहीं पाया जाता । अस्तु इस शिक्षा का काल कैय्यट के समयानुसार ग्यारहवीं शताब्दी माना जा सकता है[3]। इसके रचनाकाल की परिसीमा और अधिक पीछे नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका प्रयोजन शिक्षा एवं व्याकरण में कथित प्रातिशाख्यों के अविरुद्ध वैदिक पाठों की सामग्री को व्यवस्थित करना है[4]। इस शिक्षा की पाण्डुलिपि सं० 864 मद्रास में उपलब्ध है । इसमें वाह्य प्रयत्नों तथा उच्चारण विधि का अपूर्व सुन्दरतम विवेचन किया गया है ।

1- "अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि मतमापिशलेर्मुनेः।
गुरुलघ्वादिविज्ञानं नास्यारम्भप्रयोजनम्।।"- आपि०शि०।

2- शेषाः स्थान-करणा इत्यापिशलशिक्षा वचनात् ।
-तैत्ति०प्राति० 2/47 पर पाण्डुलिपि में वास्तविक पाठ इस प्रकार है-
जिह्वाग्रेण दन्त्यानां§ शेषाः शेषाः सस्थानकरण्याः 24 ।

3- "सिस्टम ऑफ संस्कृत ग्रामर" पृ० 41-बेल्वेल्कर

4- तस्मात् तत्तत् समाम्नाये प्रातिशाख्याविरोधतः ।

§26§ <u>कालनिर्णय शिक्षा-</u>

यह शिक्षा भी कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध रखती है । बर्नेल के अनुसार सम्भवतः इसके प्रणेता सायण है[1] । ह्विटनी[2] और लूडर्स[3] ने इस शिक्षा के विषय में सूचना दी है । यह शिक्षा मद्रास में दो पाण्डुलिपियों में उपलब्ध है । बर्नेल के अनुसार यह 14वीं शताब्दी की रचना है[4] । परन्तु चूंकि "व्यास शिक्षा" ने एक स्थल पर इस शिक्षा से मूल पाठ लिया है । इसलिए इस शिक्षा का काल व्यास शिक्षा के काल से पूर्व अर्थात् 13वीं शताब्दी होना चाहिए। यह प्रातिशाख्यों से बाद की रचना है क्योंकि इसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार प्रातिशाख्यादि शास्त्रों का मनन करके वेद के तत्त्व को समझने के लिए मात्रा का निरूपण करने वाली यह रचना की है[5] । मुक्तीश्वराचार्य ने "काल-निर्णय-दीपिका"नाम से इस शिक्षा सम्यक पर टीका लिखी है । इस शिक्षा में काल चिन्तन किया गया है । इसके अन्तर्गत विराम वर्णांश और खण्डवर्ण के विषय में ही त्रयविध विभाजन करके विवेचन किया गया है । यह शिक्षा कहती है कि जो अनेक वाक्यों में विद्यमान स्वरों और वर्णों के विरामों

1- "ऐन्द्र स्कूल ऑफ ग्रामेरियन्स"पृ० 49.

2- तैत्ति० प्राति० पृ० 355.

3- व्यास शि० पृ० 110,111.

4- "ऐन्द्र स्कूल ऑफ ग्रामेरियन्स पृ० 49.

5- "प्रातिशाख्यादि शास्त्राणि मया वीक्ष्य यथामति ।
वेद तत्वावबोधार्थमिह कालो निरूप्यते ।।"

-का०नि०शि० प्रस्तावना ।

का उच्चारण एक समान नहीं होता है[1]। तीन वृत्तियों के मध्यस्थ मध्यमवृत्ति का आश्रय लेकर ही सबका कालनिर्णय होता है[2]।

§27§ पारिशिक्षा-

यह कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध अन्तिम महत्वपूर्ण शिक्षा है जिसके प्रणेता "पारि" नामक मुनि है। इस शिक्षा के प्रयोजन को लिखते हुए व्याख्याकार ने अंकित किया है कि इस ग्रन्थ की रचना में भारद्वाज, व्यास, पारि शम्भु, कोहल, हारीत बोधायन, वाल्मीकि, आदि शिक्षा ग्रन्थों के रचयिता ऋषियों का अनुसरण किया गया है। जो कि आधुनिक शिक्षार्थियों के लिए दुर्बोध हो गये हैं[3]। इनमें से आठ नाम "वेदलक्षणानुक्रमणिका" में प्रधान शिक्षाओं के नौ रचयिताओं के रूप में परिगणन किया गया है। पारि से पाणिनि तथा चक्र[4]

1- "स्वरवर्णविरामाणां भिन्नवाग्वृत्तिवर्तिनाम।
एकरूप्येण कालस्य कथनं नोपपद्यते।।" - का०नि०शि० 3

2- मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य मया ध्येयं कृतिः कृता:।
प्रातिशाख्ये निषिद्धान्ये यस्मात्सैव हि बोध्येत।। - का०नि०शि०4

3- साम्प्रतिक-जन-दुर्बोध- भारद्वाज-व्यास-पारि-शम्भु-कोहल-हारीत-बोधायन वासिष्ठ-वाल्मीकि प्रभृति मुनिगण-विनिर्मित-शिक्षादिग्रन्थानुसारेण प्रतिजानीते।- -पारि०शि03

4- तनयो विनयोज्ज्वलस्य तस्य प्रथितो वैदिक-वावदूक सिंह।
कृपया महतां स चक्रनामा दीपि वर्णक्रम लक्षणं करोति।।- पारि०शि03।

नाम को इस शिक्षा से जोड़ने का प्रयास किया गया है जो कि सर्वथा अनुपयुक्त है । पाणिनि की सम्भावना तभी समाप्त हो जाती है जब व्याख्याकार ने इस ग्रन्थ का "पारि-शिक्षा"[1] के नामोल्लेख करता है । इसकी रचना "सिद्धान्त-शिक्षा" से पूर्व हो चुकी थी । सम्भवतः इसकी रचना पन्द्रहवीं शताब्दी में हुई होगी जो कि "सिद्धान्त-शिक्षा" का रचनाकाल है । यह शिक्षा मद्रास में पाण्डु० सं० 924 से उपलब्ध है ।

इस शिक्षा में द्वित्व, मात्रा, स्वराघात आदि का विवेचन किया गया है । इस शिक्षानुसार अनुस्वार से पर प्रथम व्यन्जन दित्व होता है । अनुस्वार से पूर्व योगादि वर्ण को जो आगम होता है वह वर्ण द्विरुक्त (दो बार उच्चरित) होता है[2] । इसमें संगीत का षड्जर्षभ आदि सप्तस्वर उदात्तादि से उत्पन्न हुए हैं[3] ।सम्प्रति कुछ ऐसी शिक्षाएं प्राप्त हुई हैं जो कि यजुर्वेद की मात्रा की दृष्टि से उपकारक है -

---

1- सतां मुदं सम्प्रतिपारिशिक्षा-व्याख्यानभूता हृदयंगमेयम् ।
विलक्षणा याजुषभूषणाख्या कृतिर्मदीया वितनोतु कामम् ।।- पारि०शि० ।

2- ह्रस्वानुस्वार स्याद् द्विवर्णम् योगे परे तस्य च मात्रिकः स्यात् ।
योगादिरप्यत्र तथा द्विरुच्यते पूर्वोथिप्य चागमः स्यात् ।। - पारि०शि०

3- गान्धारको मध्यम उच्चजातः षडजर्षभौ द्वौ निहतोदभवौ स्तः,
सर्वंचनो धैवतको निषादः,तयः स्वराश्च स्वरितात्तु जाताः,
-पारि०शि०83 ।

(28) अवसाननिर्णय शिक्षा -

इस शिक्षा के प्रणेता अनन्तदेव है[1]। इसमें यजुर्वेद में मन्त्रों में कहाँ-कहाँ अथवा कितने विराम प्रयुक्त है ? इसका निर्णय किया गया है । इस कथन का आशय यह है कि जो ऋगात्मक मन्त्रों में अर्धर्चादि विराम निर्णीत है किन्तु गद्यात्मक यजुर्वेद के मन्त्रों के उच्चारण में कहाँ-कहाँ इनका प्रयोग करना अनिवार्य है इसका निरूपण किया गया है । सबमें संकलित विरामों की संख्या भी इसमें दिया गया है ।

(29) मनः स्वार शिक्षा -

याज्ञवल्क्य को इस शिक्षा का प्रणेता स्वीकार किया गया है[2] परन्तु शिक्षा के आदि श्लोक से ज्ञात होता है कि इसे किसी व्यक्ति ने विरचित करके अपने नाम की अपेक्षा याज्ञवल्क्य का नाम प्रस्तुत कर दिया[3]। अथवा प्राचीन काल में याज्ञवल्क्य विरचित इस नाम की कोई शिक्षा थी जिसका यह समास रूप है । इस शिक्षा में यजुर्वेद संहिता में जो त्रिपदा ऋचाएं हैं उनमें कौन अन्तोदात्त है, कौन मध्योदात्त कौन आद्युदात्त है कौन तकारान्त अथवा कौन नकारान्त कौन तकारमध्य अथवा कौन नकारमध्य है ? एवम् जो चतुष्पदा ऋचाएं हैं अथवा जितने

1- इत्यनन्तदेवविरचितावसाननिर्णयशिक्षा समाप्ता । -अ0नि0शि0(उपसंहार)

2- इति महर्षि याज्ञवल्क्यकृता शिक्षा समाप्ता । - म0स्वा0शि0(उपसंहार)

3- मनः स्वारं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा निर्मितापुरा,
भगवद्याज्ञवल्क्येन भाषितं लोक हेतवे ।। -म0स्वा0शि0

यजुष् हैं कौन, कितने अथवा कैसे कहाँ अवसान इत्यादि का प्रतिपादन किया गया है । यहाँ पर मध्यपद से ऋक् के पूर्वार्ध का अन्तिम अक्षर का ग्रहण करना चाहिए ।

§30§ यजुर्विधान शिक्षा-

इस शिक्षा में मन्त्रों के विनियोग विधि का विवेचन किया गया है[1] ।

§31§ गलदृक् शिक्षा-

इसमें यजुर्वेद के प्रति अध्याय कितनी और कौन सी ऋचाएँ गलित अथवा अतिक्रमविषयभूत है की परिगणना की गयी है । किसी अध्याय में सर्वथा गलित है ऋचाओं के अभाव को सूचित किया गया है । तात्पर्य यह है कि जो अनेक ऋचाएँ बारम्बार संहिताओं में दृष्ट है तो प्रथमवार पूर्णतया तथा द्वितीय वार प्रतीकमात्र पढ़े जाते हैं ।

§32§ त्रैस्वर्य शिक्षा -

यह याज्ञवल्क्य शिक्षा का संक्षिप्त रूप है । इसमें याज्ञवल्क्य शिक्षा के श्लोक भी संक्षिप्त रूप से संगृहीत किये गये हैं ।

1- मन्त्राणामनुष्ठानकल्पनं वशिष्ठादिभिरनुष्ठितम् व्याख्यास्यामः ।

- यजुर्वि० शि० ।

§33§ लक्ष्मीकान्त शिक्षा -

इस शिक्षा के आदि श्लोक से ही ज्ञात होता है कि इसमें उदात्तादि स्वरों का निरूपण किया गया है[1]। इसमें तैत्तिरीय शाखा में प्रयुक्त आद्युदात्त अन्तोदात्तादि पदों का निर्णय प्राप्त होता है। तैत्तिरीय शाखा से संवलित इसके टीका में स्पष्टतया स्वीकार किया गया है[2]।

§34§ प्लुतानुशासन शिक्षा-

इस शिक्षा के आदि श्लोकानुसार तैत्तिरीय शाखा में कहाँ-कहाँ प्लुत प्रयुक्त हुआ है इत्यादि का ज्ञान होता है[3]।

§35§ प्लुत शिक्षा -

यह दूसरी शिक्षा है। इसमें भी प्लुत का ही विवेचन किया गया है। इसका उल्लेख डॉ० मधुकरपाटक ने अपने ग्रन्थ में किया है[4]।

1- प्रणम्य नारायणपादपङ्कजे, समस्तलोकत्रियार्तिहारिणी
करिष्यति वेदपादानि पाठतो निरूप्य चोच्चस्वरनिर्णयो मया।
-ल०का०शि० ।।

2- तैत्तिरीय वेदपदानि लोकप्रसिद्धपाठानुसारेण तत्त्वत:
परीक्ष्य उत्तादिस्वरनिर्णयो नाम लक्षणं क्रियते । - ल०का०शि०।§व्या०§

3- तैत्तिरीयवेदस्य प्लुतानामनुशासनम्,
यथाश्रुति यथान्याय: सफलं क्रियते । - प्लु०शि० ।

4- पा०शि० शि० स० स० ।। पृ० 245 ।।

§36§ वेदपरिभाषासूत्र शिक्षा-

यह शिक्षा रामचन्द्र द्वारा विरचित है । इसमें चार अक्षरों से संख्याबोधनात्मक सङ्केत करके यजुर्वेद संहिता में प्रत्येक अनुवाक में कितने पद अथवा कितने विसर्ग है, कितने नान्त और कितने मान्त अथवा कितने कटतपङणान्त अथवा कितने अवग्रह तथा कितने प्रगृह्यसंज्ञक पद इत्यादि का निरूपण किया गया है ।

§37§ वेदपरिभाषाकारिकाशिक्षा-

यह शिक्षा उक्त शिक्षा का व्याख्याग्रन्थ ज्ञात होता है, क्योंकि किस वर्ण का किस संख्या से सङ्केत होगा, चार अक्षरों में किस वर्ण से पदादि में किस संख्या का बोध होगा इसका प्रतिपादन किया गया है । उदाहरणार्थ इसमें संख्याविचार को आधुनिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है । चार अक्षरों से पदादियों के संख्या का कथन किया गया है । इसमें अक्षर पद से स्वर विशिष्ट व्यंजन कहे गये हैं । इत्थञ्च चार अक्षरों में चार व्यन्जन और चार स्वर होते हैं । यथा "धा ट का चा" । यहाँ प्रत्येक अक्षर में प्रति अक्षर एक व्यन्जन और एक स्वर है । वहाँ विशिष्ट व्यंजन से अर्थात् सम्पूर्ण प्रथम अक्षर से पदों की संख्या प्रदर्शित होती है । उस विधि से इस प्रकार प्रथम अक्षर में जो व्यन्जन होता है तथा उससे बोध्य जो संख्या होती है उसका दशगुणा करके, उससे उत्तरवर्ती स्वर संख्या के योग से जो संख्या होती है वह उस अनुवाकस्थ पद की संख्या होती है । यथा- 4×10=40, तत्र आ = 2, 40 + 2 = 42 अनुवाकपद की संख्या होती है ।

द्वितीय अक्षर व्यन्जन से तदनुवाकस्थ विसर्गों की संख्या ज्ञात होती है । तृतीय अक्षर व्यन्जन से अवग्रहों की संख्या ज्ञात होती है । तत्रस्थ स्वर से प्रगृह्य संज्ञक पदों की संख्या ज्ञात होती है । चतुर्थ अक्षर व्यन्जन से मकारान्त पदों तथा उसके स्वरों से कटतपङणान्त पदों की संख्या ज्ञात होती है । एवं रीत्या स्वरों से द्वितीय अक्षरादियों अधिकाधिक नवपर्यन्त तक का बोध होता है, जहाँ दशों का बोध आवश्यक होता है । वहाँ तत्स्वरोपरि रेफबोधक कुण्डली देय होती है । वह दशों की बोधिका होती है । एकादश का बोध अथवा विवक्षित होने पर आकारोपरि रेफकुण्डली देय होती है । कुण्डली का अभिप्राय दश होता है, तथा आकार का एकत्व दोनों का सम्मेलन होने पर एकादश होता है । एवंविध जहाँ तेरह से अधिक बोध होता है वहाँ दो व्यन्जन का संयोग होता है । यथा पैंतीस संख्या विवक्षित होने पर "वच" लिखा जाता है । व = एकोनत्रिंशत् (29) + च = पन्चत्रिंशत् (35) संख्या होती है । यहाँ ध्यातव्य है कि दो व्यन्जन के संयोग में आदि व्यन्जन संख्या दश गुना नहीं होता ।

(38) मल्लशर्मशिक्षा -

इस शिक्षा में पैंसठ (65) श्लोक हैं । इसके प्रणेता मल्लशर्मा हैं । यद्यपि आद्य श्लोक से यह शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित शिक्षा प्रतिभासित होती है[1]

1- वेदे वाजसनेयके त्वधिकृताः विप्राश्च ये सत्तमाः ।
तेषामेव कृते कृता, न कुधिया हस्तस्वरप्रक्रिया ।।
-म०श०शि०। ।

तथापि यजुर्वेद को यह उपकृत मात्र किया है । इसमें मुख्यतया हस्तस्वर की चर्चा की गयी है । हस्तस्वर गतिप्रमाण, विसर्गोच्चारणप्रमाण, अंगुलि निःसारण प्रमाण ठं ॥गूं॥ कारसंज्ञा, क्षिप्रविचार, रेखाभि उदात्तानुदात्तादि संज्ञा, तकारादि मात्रों में तर्जन्यङ्गुष्ठा योगादिमुष्ठ्यन्त क्रियायें, विचित्रगतिब्राह्मय स्वरसंक्षेप, रेफविशेषोक्ति, द्विस्वरक्रम, ठकारस्थानों का रङ्गमवारङ्गातिरङ्ग स्वरों का, रङ्गादियों के उच्चारण प्रमाण, ओष्ठमकारोत्पत्ति इत्यादि विषय सुष्ठुरूपेण विवेचित है । इसका रचनाकाल 1724 ई0 है ।

§घ§ सामवेदीय शिक्षा -

अधुना सामवेद की तीन शिक्षाएँ उपलब्ध हैं । जिनका विवरण इस प्रकार है -

§39§ नारदीय शिक्षा -

यह सामवेदीय शिक्षा महर्षि नारद द्वारा प्रणीत है[1] । यह शिक्षा भी अपने कालक्रम के सम्बन्ध में सर्वथा मौन है । इसका कालनिर्णय अधोलिखित बाह्य तथ्यों के अवलोकनोपरान्त किया जा सकता है -

1- इसका एक उद्धरण "त्रिभाष्यरत्न"[2] में प्राप्त होता है जिसकी रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी आँकी गयी है ।

1- शिक्षामाहुर्द्विजातीनां ऋग्यजुःसामलक्षणम् ।
नारदीयमशेषेण निरुक्तमनुपूर्वशः ।। - ना0शि0 2/3

2- तै0त्ति0 प्राति0 1।1/1

2- इससे भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ "संगीतरत्नाकर" में नारद को संगीता का रचयिता स्वीकार किया गया है । ऐसे ही अनेक प्रसङ्ग "मूर्च्छना" आदि पर नारद का नाम लिया गया है । इसका रचनाकाल "त्रिभाष्यरत्न" से कई सौ वर्ष पूर्व माना गया है ।

इस विवेचनोपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि इस शिक्षा के मूल रूप के रचनाकाल की निम्नसीमा पाँचवीं शताब्दी ई० मानी जा सकती है ।

इस शिक्षा में सामवेदीय स्वरों का विषय प्रतिपादन किया गया है[2] । इसके उपदेष्टा भगवान् देवर्षिनारद ने संगीतशास्त्र के प्रतीकभूत वीणा को स्वकरकमलों से धारण करके इस शिक्षा की रचना की है । यह शिक्षा दो प्रपाठकों में विभक्त है । प्रत्येक प्रपाठक आठ कण्डिकाओं में विभक्त है । इसमें 238 श्लोक हैं । प्रारम्भ में स्वर वर्णादियों की शुद्धि सम्बन्धी विचार व्यक्त

1- ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः ।
तौ द्वौ धरातले तत्र यव षड्जग्राम आदिमः
गान्धार ग्राममाचष्टे तदा तं नारदो मुनिः ।
प्रवर्तते स्वर्ग लोके ग्रामोऽसौ न महीतले ।। - संगीत० 1/4
षड्जो मध्यमगान्धारास्त्रयो ग्रामाः प्रकीर्तिताः ।
भूर्लोकाज्जायते षड्जो भुवर्लोकाच्च मध्यमः ।
स्वर्गान्नान्यत्र गान्धारो, नारदस्य मतं यथा । - ना०शि01/2/6-7

2- सामवेदे तु वक्ष्यामि स्वराणां चरितं यथा ।
अल्पग्रन्थं प्रभूतार्थं श्रव्यं वेदाङ्गमुत्तमम् ।। - ना०शि02/1

किये गये हैं । स्वरवर्ण विहीन मन्त्र अभीष्ट सिद्धि में अक्षम होते हैं[1]। शुद्ध पाठक अपने अभीष्ट को प्राप्त करते हैं । वेदों में प्रयुक्त स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, तथा तान-प्रभृति का निरूपण किया गया है । उच्चारणदोष, स्वरों का वर्णविभाग, स्वरों की उत्पत्ति स्थान-सामगान का लक्षण, आर्चिक स्वर, उसके भेद, कम्पनप्रकार, अवग्रह स्वरूप, विवृति सामगान की सफलता हेतु इत्यादि विषयों का प्रतिपादन है । इस पर सोमकर भट्ट की एक टीका प्राप्त होती है ।

(40) <u>लोमशी शिक्षा</u> -

सामवेदीय इस शिक्षा के प्रणेता और रचना-काल दोनों का प्रश्न उलझा हुआ है । जैसा कि इस शिक्षा के नाम से ज्ञात होता है कि लोमश नामक किसी व्यक्ति ने इसका प्रणयन किया था । किन्तु इसके प्रथम श्लोक से ज्ञात होता है कि इसकी योजना गार्ग्य ने की थी[2]। "जातकपद्धति" में ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों के साथ गर्ग और रोमश का नाम भी परिगणित है[3]। इससे यह प्रतीत होता है कि इस शिक्षा की योजना आचार्य गर्ग ने की थी तथा उसी परम्परा के किसी रोमश या लोमश नामक अन्य व्यक्ति ने इसे निष्पादित किया है।

1- मन्त्रोहीन: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात ।।
- ना0शि0 1/5

2- लोमशान्यां प्रवक्ष्यामि गर्गाचार्येण चिन्तिताम् ।- लो0शि0 ।

3- रोमश: पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगु: ।
शौनकोऽष्टादश ह्येते ज्योति:शास्त्रप्रवर्तका: ।।
-मद्रास मेन्युस्क्रिप्ट केटेलाग
2/9/3 8403

इसे आठ कण्डिकाओं में विभक्त किया गया है - ह्रस्वदीर्घप्लुतरङ्गस्वरभक्तियों में वर्णस्थान तथा वर्णोच्चारणविधि का सुन्दर निरूपण किया गया है ।

§41§ गौतमी शिक्षा -

सामवेदीय यह शिक्षा महर्षि गौतम द्वारा प्रणीत है । यह किसी प्रातिशाख्य से उत्तरवर्ती रचना जान पड़ती है । क्योंकि इसमें किसी प्रातिशाख्य का उदाहरण देकर §यु§ ङ्ङ्क्षक्ष्व व्यंजन संयोग की स्थिति को बताया गया है । यह एक गद्यात्मिका शिक्षा है तथा यह दो प्रपाठकों में विभक्त है । इसमें द्वित्व तथा व्यंजनसंयोगादियों का सुष्ठु विवेचन किया गया है । गौतम के अनुसार सात से अधिक व्यंजनों का संयोग नहीं हो सकता ।

§घ§ अथर्व वेदीय शिक्षा -

अथर्ववेदीय शिक्षाओं में केवल एक ही शिक्षा उपलब्ध होती है । जिसका नाम है - §1§ माण्डूकी शिक्षा ।

§42§ माण्डूकी शिक्षा -

अथर्ववेदीय यह शिक्षा महर्षि मण्डूक द्वारा विरचित है[1] । इसका

1- मण्डूकेन कृतां शिक्षां विदुषां बुद्धिदीपिनाम् ।
यो हि तत्वेन जानाति ब्रह्मलोकं स गच्छति ।। -मा0शि0 ।79

रचनाकाल ईसा की पाँचवीं शताब्दी माना गया है[1]। यह शिक्षा युगल किशोर व्यास द्वारा प्रकाशित बनारस संस्कृत सिरीज 1893 के "शिक्षा-संग्रह" में संकलित है। यद्यपि माण्डूकी शिक्षा में मुद्रित संस्करणानुसार 179 श्लोक है किन्तु 127 श्लोक इसके उत्तरार्ध में तथा 129 श्लोक इसके पूर्वार्द्ध में दो बार आने से कहा जा सकता है। यहाँ पर तो 178 श्लोक ही हैं[2]। इस शिक्षा में सोलह प्रकरण हैं। इस शिक्षा में स्वराघात के विषय में विशेष रूप से विचार किया गया है। यद्यपि कि अथर्ववेद से संबंधित यह शिक्षा है पर सामवेद में प्राप्त स्वराघात पर विशेष रूप से विचार किया गया है। यह सामगायन में संगीत में सात स्वरों का,[3] ऋग्यजुष साम के मंत्रों के उच्चारण में हस्तसंचालन का[4] तथा वेदों में, मण्डूक के मतानुसार, संगीत के दो प्रथम तथा दो अन्तिम स्वरों का ही गायन होने का

1- डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा - ए क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनिटिक आब्जर्वेशन्स आफ इण्डियन ग्रामेरियन्स पृ० 63।

2- ऋवर्णरेफ संयुक्तं स्वरितं स्यादनन्तरम्,
ऋकाररेफ संयुक्तं यत्पूर्वं व्यन्जनोदयेत्।
ऋकारे लघु विद्यात् रेफ तद् गुरुसंज्ञकम्,
ऋकाररेफसंयुक्तंयत्पूर्वं व्यन्जनाक्षेत्॥
ऋकारे लघु तद् विद्यात् रेफे तद्गुरुसंज्ञकम्॥ - मा०शि०127, 128, 129

3- सप्तस्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः। - मा०शि० 7

4- ऋग्यजुःसामगादीनि हस्तहीनानि यः पठेत्। -मा०शि०32

कथन करता है[1]। इस शिक्षा के प्रारम्भिक श्लोकों में वृत्तियों के विषय में विचार किया गया है[2]। इस शिक्षा के छठें अध्याय में उच्चारण विधि,[3] पाँचवें सातवें एवं आठवें में उदात्तादि स्वरों[4] का तथा नौवें, दसवें ग्यारहवें एवं बारहवें में स्वरभक्ति[5] आदि पारिभाषिक शब्दावलियों का विवेचन किया गया है।

§च§ सामान्य शिक्षाएँ -

आज उपर्युक्त शिक्षाओं के अतिरिक्त भी कुछ शिक्षाएँ उपलब्ध हैं जो वेद के उपकारक मात्र हैं -

---

1- प्रथमावन्तिमौ चैव वर्तन्ते छन्दसि स्वराः ।
त्रयो मध्या निवर्तन्ते मण्डूकस्य मतं यथा ।। -मा०शि० ।7.

2- तिस्रो वृत्तीरनुक्रान्ता द्रुतमध्यविलम्बिताः ।
यथानुपूर्वं द्रुताप्रथमावृत्तिः प्रशस्यते ।। - मा०शि० ।.

3- मा० शि० 6/4,5,6

4- मा० शि० 5/1, 2, 3, 4, 5 आदि श्लोकों में
मा० शि० 7/1, 2, 3, 4, 5, 6 आदि श्लोकों में
मा० शि० 8/1, 2, 3, 4, आदि श्लोकों में

5- मा० शि० 9/1,2,3,4,5 आदि श्लोकों में
10/1,2,3 आदि श्लोकों में
11/1,2,3 आदि श्लोकों में
12/1,2,3 आदि श्लोकों में

(43) स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा -

यह शिक्षा महर्षि कात्यायन द्वारा विरचित है । इसमें 42 श्लोक हैं । इस शिक्षा में स्वरभक्ति का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया गया है ।

(44) क्रमसन्धान शिक्षा -

संहितापाठ में मन्त्रों में जहाँ पर अवसान होता है वहाँ पर क्रमपाठ में भी अवसान कार्य होना सामान्य नियम है किन्तु कहीं पर संहिता पाठ में भी क्रमपाठ में अवसान होने पर भी क्रमपाठ में परपद से संधान होता है। यथा संहितापाठ में अर्द्ध अद्द में अवसान होता है । वहाँ एव उत्तरार्ध के आद्य पद से पूर्वार्ध के अन्त्य पद का योग नहीं होता है एवं क्रम में भी किन्तु कुछ क्रमपाठ में एव पूर्वार्ध के अन्त्य पद का उत्तरार्ध के आदि पद का पद से योग होता है उन्हीं स्थलों का यहाँ पर परिगणन किया जाता है । ऐसे ।15 स्थल है । ये भी शिक्षाओं के अन्त में कहे गये हैं[1] ।

(45) शौनकीय शिक्षा -

जैसा कि इस शिक्षा के नाम से ही प्रतीत होता है कि इस शिक्षा के रचयिता ऋषि शौनक हैं । इसकी एक प्रति तन्जौर नगर के सारस्वत महल नामक पुस्तकालय में विद्यमान है । इसकी एक व्याख्या भी है[2] । इस शिक्षा में कम्प के

1- "इति पञ्चदशाधिकशतं क्रमसन्धानि, एभ्योऽन्यत्र संहितानुसारेण निर्णयः ।"
-क्रमसं0शि0 (उपसंहार)

2- या शौनककृता शिक्षा वर्णोच्चारणबोधिनी,
अविस्मृत्यै स्फुटं तस्याः श्रुतार्थो लिख्यते मया ।
-शौ0शि0-। (व्याख्यायाम्)

विषय में विचार किया गया है[1]।

§46§ गालव शिक्षा -

महाभारत के उद्धरण से ऐसा ज्ञात होता है कि यह शिक्षा महर्षि गालव द्वारा प्रणीत है[2]। इसका उल्लेख युधिष्ठिरमीमांसक ने भी इतिहास ग्रन्थ में किया है।[3]

§47§ स्वराङ्कुश शिक्षा -

इस शिक्षा में स्वरविवेचन की प्रधानता है[4]। आद्यन्त तक उदात्तादि स्वरों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें पच्चीस श्लोक हैं इसके रचयिता जयन्त स्वामी हैं[5]।

1- "स्थानं कालो विकाराश्च संवृतं विवृतागमो, ईषत्स्पृष्टमघोषत्वं स्वर: कम्प: तथोष्मता ।। घोषा नासिक्य नासिक्या: वर्णधर्मास्त्विमे मता:।"

शौ० शि० 55-60

2- "क्रमं प्रणीय शिक्षाञ्च प्रणयित्वा स गालव: ।।"

-म०भा०§शा०प०343/104

3- संस्कृत व्या० का इति०पृ०।।0

4- स्वरा० शि० । "सरस्वतीं कविवरान् -------ऋष्येयं स्वरनिर्णयम् ।

5- इति जयन्तस्वामिना प्रोक्ता स्वराङ्कुश शिक्षा समाप्ता ।

-स्वरा०शि०§उपसंहार§

§48§ षोडश-श्लोकी शिक्षा-

यह शिक्षा सोलह श्लोकों में वर्णित है । जिसमें वर्णस्वरादियों का विवेचन किया गया है । रामकृष्ण इसके रचयिता है ।

§49§ प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा-

इस शिक्षा के लेखक बालकृष्ण हैं । इसमें प्राचीन ग्रन्थों के मतों को उद्धृत करके स्वरवर्णादि विषयक तथ्यों का उल्लेख किया गया है । शिक्षाविषयों के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के लिए इस शिक्षा की उपयोगिता है ।

§50§ शमान शिक्षा -

यह शिक्षा गद्यात्मक है । यद्यपि कि इसमें यह उल्लेख नहीं है कि यह किस वेद का अनुसरण करती है तथापि ऋग्वेदीय शमान शिक्षा की व्याख्या है ऐसा प्रतीत होता है । इसमें विसर्ग लोपी पदों का संकलन है[1] । इसमें विसर्ग-लोपं सम्भवतः शमान शिक्षा के स्वतन्त्र व्याख्या ग्रन्थ को ही किसी लिपिकार ने शमानशिक्षा इस पद से नामाङ्कित किया है । सर्वप्रथम डॉ० मधुकर फाटक ने अपने ग्रन्थ में इस शिक्षा की चर्चा की है[2] ।

§51§ पदकारिका रत्न माला -

इस शिक्षा के आरम्भ में ही इसके रचयिता का नाम "शंकराचार्य" लिखा गया है । इसके हस्तलिपि में प्रथम श्लोक के चतुर्थ चरण में छः अक्षर कम है ।

1- "अथ संहितायाम् आकारप्लुतपूर्वो घोषवत्यव्यञ्जनोत्तरः सकारपरोविसर्जनीयो येषु पदेषु लुप्यते तानि पदानि प्रवक्ष्यामि ।"- शoशि ।

2- पाoशिo सह समीक्षा । पृo 245 ।।

पदों का लक्षण ही इसका प्रतिपाद्य विषय है[1]।

§52§ स्वराष्टक शिक्षा -

"यथा नाम तथा गुणः" इस न्यायानुसार आठ स्वरों का निरूपण किया गया है। वे स्वर हैं - अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ प्रभृति[2]। यद्यपि गणना करने से तो नव स्वर दृष्टिगत होते हैं किन्तु ऋ लृ सवर्ण होने के कारण एक ही मान लिया गया है।

§53§ पाणिनीय शिक्षा-

इसमें साठ कारिकाएं हैं। यह शिक्षा किसी एक वेद से सम्बन्धित नहीं है बल्कि भाषाविषयक ज्ञानार्थ सभी वेदों के लिए उपकारक है। इसमें शिक्षा-शास्त्रीय विषयों का सन्निवेश किया गया है। वर्णोत्पत्ति, वर्णगणना, वर्णस्थान उदात्तादि, रङ्गविचार, एवं उच्चारणदोष प्रभृति विषयों का सुष्ठु विवेचन किया गया है। कुछ विद्वान् इसे आचार्य पाणिनीयकृत मानते हैं परन्तु अधिकांश विद्वान् इसे पिङ्गलाचार्यकृत मानते हैं।

1- पदका० रत्नमाला०।
"श्रीकान्तं सितलविराजितोत्तमाङ्गम्,
गौरीशं गुरुपदमम्बुजालयं च।
सन्नत्वा सुललितलक्षणम् पदानाम्,
नासारेः प्रक -----------यानः।।"

2- "अ इ उ ऋ लृ ए ओ, ऐ औ इत्यष्टौ स्वराः"।-स्वरा०शि०।62।।

3- "व्याख्याम् पिङ्गलचार्याः सूत्राष्यादौ यथायथम् शिक्षा तदीयाम् व्याख्यास्येपाणिनीयनुसारिणीम्---------तत्र भगवान् पिङ्गलाचार्यः।।"
- शि०सं० 385।

(54) शैशिरीय शिक्षा -

यह शिक्षा प्रायः पाणिनीय शिक्षा का अनुसरण करती है । एक दो स्थान को छोड़कर इसमें पाणिनीय शिक्षा सम्बन्धी विषयों का ही विवेचन किया गया है । पक्षभेद के आधार पर तिरसठ और चौसठ वर्णों की संख्या बतायी गयी है[1]। इसकी विशेषता यह है कि जिस स्थान पर दीर्घ ऌकार परिगणित नहीं किया गया है उस स्थान रङ्ग वर्ण निवेशित है । पाणिनीय शिक्षा में ऌकार को दुःस्पृष्ट शब्द से कहा गया है न कि ऌकार ऐसा कहा गया है किन्तु इस शिक्षा में उसको दुःस्पृष्ट शब्द तथा ऌकार शब्द से निर्देश किया गया है ।

(55) काश्यप शिक्षा -

शिक्षाशास्त्र और पुराणों में काश्यप ऋषि का नाम बहुधा दृष्टिगत होता है । शिक्षाग्रन्थों उसके शिक्षाविषयक सिद्धान्त भी होते हैं । जिस प्रकार जब कैशिक वृत्ति सभी स्वरों में भाषित होता है तथा जब मध्यमा से मध्यमा में उपक्रमित होता है तब कैशिकमध्यमग्रामराग होता है । मध्यमग्राम से उत्पन्न होने के कारण काकलिश्रुति निषाद होता है । पन्चम प्राधान्य पुनः पुनः शेष वर्णों के सामान्य अन्तर से स्थित होते है तब काश्यप मतानुसार मध्यमरागसम्पन्न कैशिक गीत होता है । यहाँ पर कैशिक पद से षड्जः प्रारम्भ होने पर चतुःश्रुति ही जब निषाद होता है तब पन्चमस्थ पर में उपर्यवस्थित उस साधारित सदृश श्रुति ही बोधित होता है । उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार यह कहा जा सकता है कि

1- "त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः सम्भवन्ते मताः,
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा ।"।- शि०शि० ।

जो कश्यप की शिक्षा थी वह इस समय दुर्दैव से उपलब्ध नहीं है[1]।

§56§ क्रमकारिका शिक्षा -

इस शिक्षा में क्रमपाठ के विषय पर किस पद का वेष्ठन होता है इसका ही प्रतिपादन किया गया है। इसमें नब्बे श्लोक हैं। इसके प्रणयिता श्रीशम्भु मिश्र है[2]।

§57§ आत्रेय शिक्षा -

यह शिक्षा आधुनिक प्रकाशित ग्रन्थ है। इस समय यह विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान में संगृहीत है।

§58§ सोमशर्मा शिक्षा -

इस शिक्षा के रचयिता जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है कि श्री सोमशर्मा हैं। ये एक प्राचीन आचार्य हैं। जिसका मात्राविषयक सिद्धान्त याज्ञवल्क्य शिक्षा में प्राप्त होता है। इस शिक्षा में अक्षर के उच्चारणानन्तर जो द्वितीय अक्षर का उच्चारण होता है तब तक दोनों के मध्यस्थ काल ही मात्रा है[3]।

1- "अन्तरस्वरसंयुक्ता काकलिर्यत्र दृश्यते।
तं तुलाधारितं विद्यात् पञ्चमस्थं तु कैशिकम्।।" - ना०शि०1/4/9

2- "प्रत्यक्षं याज्ञवल्क्यस्य श्रीशम्भुमिव विनिर्मिता।
क्रियतां क्रमिकैः कण्ठे कारिका रत्नमालिका।।"

3- "निमेषो मात्राकालः स्याद्विद्युत्कालस्तथापरे।
अक्षरात्तुल्ययोगाच्च मतिः स्यात्सोमशर्मणः।।"

इस सिद्धान्त के अनुसार यह अनुमान किया जाता है कि आचार्यसोमशर्मा की एक शिक्षा है जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है ।

§59§ सम्प्रदाय बोधिनी शिक्षा-

इस शिक्षा के प्रणेयिता आ० गोपालचन्द्रमिश्र हैं । यह एक अर्वाचीन ग्रन्थ है । इसे याज्ञवल्क्य शिक्षा की लघुरूपा ही कही जा सकती है ।

इसके अतिरिक्त कुछ शिक्षासूत्र भी दृष्टिगत होते हैं । जिसमें आपिशालिशिक्षासूत्र, पाणिनीय शिक्षासूत्र, तथा चान्द्रवर्णशिक्षासूत्र हैं । उनका स्वरूप इस प्रकार है -

1- आपिशल शिक्षासूत्र -

ये शिक्षासूत्र बहुत दिनों तक अनुपलब्ध थे । बत्तीस वर्ष पूर्व सरस्वती विहार दिल्ली से श्रीरघुवीर जी ने सम्पादित किया । यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा से भी प्राचीन है । इसमें वर्णोत्पत्ति[1] स्थानकरण प्रयत्न[2], स्थानपीडन, वृत्तिकार आदि शिक्षा का प्रतिपादन किया गया है । यह आठ प्रकरण में विभक्त है ।

1- "आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपेतिनादः
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः सशब्दः ।।-आ०शि०सू०।

2- "स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधाऽनिलवः, स्थानपीडयति, वृत्तिकारः, प्रक्रम एषोऽस्य नाभितलात, -आपि०शि०सू० 2

2- पाणिनीय शिक्षासूत्र -

इस शिक्षासूत्र के दो भाग है - एक वृहद तथा दूसरा लघु भाग है । वृहद् भाग में 120 सूत्र तथा लघु भाग में 77 सूत्र है । इसमें वर्णोत्पत्ति विचार[1] स्थान प्रकरणप्रयत्न तथा स्थानपीडन, वृत्तिकार प्रकम तथा नाभितल प्रकरण का प्रतिपादन किया गया है ।

3- चान्द्रवर्णशिक्षासूत्र-

श्री चन्द्रगोमी एक बौद्ध वैयाकरणी थे । उन्होंने पाणिनीय व्याकरण शिक्षासूत्र का अनुसरण करके एक अपनी शिक्षा की रचना की । इस ग्रन्थ में 15 सूत्र है। स्थानकरणप्रयत्न[2] का प्रतिपादन किया गया है । इस ग्रन्थ में मात्राविचार[3] उदात्तादि स्वरूप का विवेचन किया गया है[4]।

1- पा0शि0 सूत्र ।

2- "स्थानकरणप्रयत्नेभ्यो वर्णा: जायते ।" - चा0शि0सू0 ।

3- "अत्र चावर्णे ह्रस्वो दीर्घः प्लुतः इति त्रिधाभिन्नः।"

- चा0शि0सू03

4- उच्चैरुदात्तः नीचैरनुदात्तः समाचारः स्वरितः ।

-चा0शि0सू047,48,49·

प्रस्तुत प्रबन्ध की योजना

प्रस्तुत प्रबन्ध की योजना, विषयों की उपयोगिता तथा परस्पर सापेक्षता के आधार पर किया गया है । इस प्रबन्ध विषय वस्तु को सामान्य से विशिष्ट तथ्यों के व्यापक समावेश की ओर ध्यान दिया गया है । इस दृष्टि से सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध को कुल दश अध्यायों में समायोजित किया गया है-

प्रथम अध्याय - शिक्षाओं के आलोचनात्मक अध्ययनार्थ सर्वप्रथम शिक्षाग्रन्थ का स्वरूप, उपयोगिता तथा विषय आदि का विवेचन अपेक्षित है । इसलिए इस अध्याय में वेदाङ्ग परिचय शिक्षा का स्वरूप तथा शिक्षाओं का संक्षिप्त परिचय, प्रातिशाख्य का स्वरूप तथा प्रातिशाख्यों का संक्षिप्त परिचय आदि का समायोजन किया गया है ।

द्वितीय अध्याय - वाणी एक वर्ण समुदाय है । फलतः इसके उच्चारण की विधि वर्णोच्चारण विधि में ही निहित है । एतदर्थ प्रथम वर्णों की जानकारी अपेक्षित है । इसलिए इस अध्याय में वर्णों की गणना प्रस्तुत की गयी है ।

तृतीय अध्याय- वाणी के लिए वर्ण के मात्रा का निर्धारण अपेक्षित है । इसलिए प्रस्तुत अध्याय में वर्णों का काल निर्धारण किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय - वाणी के लिए शुद्ध वर्णोच्चारण विधि अपेक्षित है । इसलिए प्रस्तुत अध्याय में वर्णों के स्थान, करण आदि के परिप्रेक्ष्य में सम्यक विचार किया गया है ।

पंचम अध्याय में- शुद्धवर्णोच्चारण के लिए प्रयत्नों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक होता है। इसलिए प्रस्तुत अध्याय में वर्णोच्चारणार्थ मुख विवर में होने वाले आभ्यन्तर तथा वाह्य प्रयत्नों का सम्यक् विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय- समस्त वैदिक वाङ्मय में मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण हेतु "स्वर" का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए इस अध्याय में विविध संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में "स्वर" का ही अध्ययन है जिसमें वैदिक अध्ययन में "स्वर" की उपादेयता, "स्वर" के अर्थ, "स्वर" का स्वरधर्मत्व, "स्वर" का वास्तविक स्वरूप, स्वरभेद, स्वरोच्चारण-विधि, स्वरोच्चारण काल में हस्त-प्रचालन विधि, स्वरांकन विधि आदि विषयों पर आलोचनात्मक दृष्टिपात किया गया है।

सप्तम अध्याय- वर्णान्तर-सान्निध्य से वर्ण का ध्वनि परिवर्तन हो जाता है। शुद्ध मन्त्रोच्चारण के लिए वर्णान्तर-सान्निध्य से वर्ण में होने वाले ध्वनि-परिवर्तन का समुचित ज्ञान आवश्यक है। इसलिए इस अध्याय में सन्धियों के स्वरूप का विवेचन तथा सन्धि द्वारा वर्णों के लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव रूप परिवर्तन का सम्यक् अवलोकन किया गया है।

अष्टम अध्याय - भाषा में वर्णों का उच्चारण एकाकी रूप में न होकर वर्णों की अपेक्षित संयुक्तावस्था में होता है। इसलिए वर्णों के शुद्धोच्चारण हेतु यह जानना आवश्यक हो जाता है कि कौन सा वर्ण किसका अंग होकर उच्चरित होगा। इस प्रक्रिया को "अक्षर-विभाजन" के नाम से जाना गया है। इस हेतु इस अध्याय में अक्षर, अक्षर-विभाजन की आवश्यकता, अक्षर विभाजन के नियम आदि पर विधिवत्-विचार किया गया है।

नवम अध्याय - वाक्य के मात्रा काल का अध्ययन उच्चारणवृत्ति में होता है । प्रत्येक स्वर व्यंजन तथा विवृत्ति का मात्राकाल नियत है । इसलिए जिस वर्ण का जैसा उच्चारण अपेक्षित है वैसा उच्चारण करने के लिए इस अध्याय में उच्चारण के सामान्य तथा विशिष्ट नियमों का सम्यक् विवेचन किया गया है । तत् पश्चात् इस अध्याय में उच्चारण के सम्यक्तया सम्पादनार्थ उपादेय एवं हेय का विवेक आवश्यक होने से गुण तथा दोषों का निरूपण किया गया है ।

दशम अध्याय - व्यंजन वर्णों का अव्यवहित सान्निध्य संयोग कहलाता है । इस अध्याय में संयोग-विषयक उच्चारण वैशिष्ट्यों का विधिवत् विवेचन किया गया है । इस अध्याय में स्वरभक्ति, स्फोटन, अभिनिधान, द्वित्व, यम, रङ्ग, गुङ् का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रयोजन

वैदिक वाङ्मय में ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों के त्रुटिरहित शुद्ध उच्चारण का अतिशय माहात्म्य बताया है क्योंकि इनके अनुसार यह विशुद्ध उच्चारण ही वैदिक मन्त्रों की सत्यार्थकता तथा मन्त्रसम्बद्ध कर्मों की प्रयोजन-साध्यता का प्रबल-आधार है । ये उच्चारण वैशिष्ट्य कुछ सामान्य स्थितियों के अतिरिक्त संहिताओं के विभिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान हैं । इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "शिक्षाग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन" का मुख्य-प्रयोजन वैदिक संहिताओं के उच्चारण सम्बन्धी विधानों का भाषावैज्ञानिकों के परिप्रेक्ष्य में सम्यक्रूपेण आलोचनात्मक अध्ययन करना है । सामान्यतः इस प्रबन्ध का प्रयोजन इस प्रकार है -

1- वैदिक संहिताओं से सम्बद्ध वर्णों तथा उनके उच्चारण में यथार्थतः अपेक्षित स्थान, करण, प्रयत्न एवं काल का सम्यक् और सूक्ष्म अध्ययन करना है क्योंकि इनके बिना शुद्धोच्चारण करना असम्भव है ।

2- शोधप्रबन्ध से सम्बन्धित शिक्षाकारों के वर्णोच्चारण सम्बन्धी विचार केवल कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है अपितु वे शुद्धोच्चारण से उत्पन्न प्रबल एवं पुष्ट प्रमाणिक आधार पर प्रतिष्ठित हैं । जो संहिताओं के अस्तित्व-काल से ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यमान रहे हैं ।

3- उच्चारण-वैशिष्ट्यों के परिप्रेक्ष्य में शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध होने वाली उच्चारण विषयक अनेक विप्रतिपत्तियों से उनकी प्रामाणिकता के विषय में उत्पन्न होने वाले आधुनिकों के सन्देह अधिकाधिक अंश में इस प्रबन्ध के अध्ययन से दूर होंगे ।

4- उच्चारण वैशिष्ट्यों के सम्बन्ध में दृष्टिगत होने वाले अनेक प्रश्नों पर यथासामर्थ्य विचार करते हुए इस तथ्य की ओर संकेत करना है कि हमारे प्राक् दिव्यदृष्टिमनीषियों ने भाषाविज्ञान के विविध पहलुओं पर जितनी सूक्ष्मता एवं सत्यार्थ संयुक्तता से विचार किया है कि इसकी प्राचीनता, दिव्यता एवं सूक्ष्मता का अवलोकन कर पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिक आज भी स्तब्ध रह जाता है ।

5- अनुस्वार के स्वरत्व तथा व्यन्जनत्व के सम्बन्ध में प्राचीन काल से विद्यमान विवाद का यथा सम्भव समाधान प्रस्तुत करके पूर्ववर्ती वैयाकरणों के परस्पर विप्रतिसिद्ध अवधारणाओं का निश्चिततापूर्वक उनमें एक समुचित समन्वय स्थापित करना है ।

6- शिक्षाग्रन्थों का वैदिक कर्मकाण्ड में मन्त्रोच्चारण के सम्बन्ध में अपना एक विशेष स्थान हैं । इसलिए यज्ञकर्म में प्रवृत्त पुरोहित वर्ग के लोगों को वैदिक मंत्रों के उच्चारण का ठीक-ठीक अभ्यास कराकर जिससे यजमान को इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट अप्राप्ति के विषय में प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं की पुष्टि कराना है । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का यही प्रयोजन है ।

7- वर्णोच्चारण के सम्बन्ध में अपने प्राचीन आचार्यों के विचारों का अध्ययन करते हुए वर्तमान समय में उनकी चिन्तन-प्रक्रिया को आगे बढ़ाना भी इस प्रबन्ध का प्रयोजन है ।

{ द्वितीय अध्याय }

वर्ण समाम्नाय

इस अध्याय में वर्ण संज्ञा पूर्वक शिक्षा ग्रन्थों के वर्ण समाम्नाय का विवेचन किया जायेगा । यत्र अकारादि वर्णों का अभ्यास होता है वह वर्ण समाम्नाय पद से ज्ञेय होता है[1]। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी यह प्रतिपादित है कि अकारादि वर्णों का पाठ जिस समाम्नाय में हो उसे वर्ण समाम्नाय के नाम से ज्ञात होता है[2]।

वर्ण-संज्ञा -

शिक्षादि ग्रन्थों में लघु शब्द से अधिकाधिक वर्णों के ग्रहणार्थ किसी न किसी संज्ञा का विधान किया गया है । उनमें से कुछ संज्ञाओं के द्वारा वर्णों का प्रतिपादन किया जा रहा है -

{1} अक्षर {SYLLABLE} -

अक्षर स्वतन्त्र सत्तात्मक है । यह स्वतः उच्चरित है जो नष्ट न हो,

---

1- वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति वर्णाः अकारादयः, समित्युपसर्गस्तत्त्वम् द्योतयति । आम्नायमभ्यासः यत्र समुदितानां वर्णानामभ्यासः क्रियते सः समाम्नायः । - वा0प्रा0 8/1

2- वर्णाः यस्मिन् समाम्नाये पठ्यन्ते सः वर्णसमाम्नायः । - वा0प्रा0 8/1

जो अन्य का अंग होकर न चले उसे अक्षर कहते हैं[1]। महाभाष्य में " न क्षरम्क्षरं विद्यात् अश्नोतेर्वा सरोक्षरम्[2] " इस प्रकार व्याख्या की गयी है[3]। न क्षरति, क्षीयते इति अथवा अश्नुते अर्थं व्याप्नोति इति आदि व्याख्यायें हो सकती है। अकारादि सभी वर्णों की अक्षर संज्ञा की गयी है। अक्षर का अपरिहार्य प्राणतत्व स्वर है क्योंकि व्यंजन स्वतः उच्चरित नहीं हो सकता इसलिए सापेक्ष है किन्तु स्वर निर निरपेक्ष है। व्यंजन की भी अपनी सत्ता है क्योंकि व्यंजन के परिवर्तन से शब्दार्थ भी परिवर्तित हो जाता है। यथा-कूप तथा यूप में स्वरद्वय एक है परन्तु व्यंजन के परिवर्तन से शब्दार्थ भी परिवर्तित हो गया[3]। एवंविध भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार व्यंजन समग्ररूपेण स्वर पर आश्रित नहीं है। परन्तु नारद शिक्षाकार के मतानुसार व्यंजन एक कंठहार में पिरोये गए मणियों के समान हैं तथा स्वर उसके आधारभूत सूत्र के सदृश है[4]। पतंजलि के मतानुसार व्यंजन स्वराघात में भी भागीदार है, यद्यपि कि स्वराघात व्यंजन का गुण नहीं अपितु स्वर का गुण है,

---

1- पारिशिक्षा टीका यजुषभूषण

"न क्षरन्तीत्यक्षराणि, क्षरणमन्यांगतया-चलनम्"- तै०प्रा०1/2 वै०भा०।

2- म० भा० शि० सू० 8

3- ननु "कूपो यूप" इत्यादौ व्यंजन मेवार्थविशेष बोधकमिति स्वरो व्यंजनांगं किं न स्यात् ? व्यंजनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति किन्तु सापेक्षा, स्वरस्तु निरपेक्षः। -तैत्ति०प्राति०1/1

4- स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यमाचार्याः प्रतिजानते। मणिवद् व्यंजनं विद्यात् सूत्रवच्च स्वरं विदुः। -ना०शि०1/3/ना०शि०1/34

किन्तु स्वर सामिप्यवश व्यंजन में स्वर में भी स्वर का गुण उसी प्रकार आ जाता है जिस प्रकार कि दो रक्तवस्त्रों के बीच रखा हुआ श्वेत वस्त्र भी रक्तवत् हो जाता है[1]। वस्तुतः स्वर एक शक्तिशाली नृप के सदृश है तथा व्यंजन एक दुर्बल नृपके सदृश है। दुर्बल नृप बलवान नृप के समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है[2]। अक्षर का स्वरात्मक आधार सुदृढ़ है। परन्तु यदि पर्याप्त प्रतीति के साथ उच्चारित किया जाए तो व्यंजन भी एक स्वतंत्र अक्षर बन सकता है, क्योंकि अक्षर का आधार केवल श्रव्यता नहीं वरन् दीर्घता श्वासशक्ति एवं श्रव्यता तीनों तत्त्व हैं। शिक्षाकारों ने र् तथा ल् के आधार पर व्यंजन को भी स्वतन्त्र अक्षर माना है। वस्तुतः र् ल् कहीं व्यंजन तथा कहीं स्वर होता है। यथा भारद्वाज शिक्षा के अनुसार ल् किसी शब्द के आदि तथा अन्त में कभी भी स्वर नहीं हो सकता, किन्तु मध्य स्थिति में यह स्वरात्मक हो सकता है। यथा- क्लृप्त में[3]। इसके अतिरिक्त "स्वर-व्यंजन शिक्षा में पूर्णतया र के स्वरत्व तथा व्यंजनत्व का विचार किया गया है।

1- व्यंजनस्य गुणाः, अच एते गुणाः, तत्सामीप्यात्तु व्यंजनमपि तदमुपलभ्यते तद यथा द्वयोरक्तयोर्वस्त्रयोर्मध्ये शुक्लं वस्त्रं तद्गुणमुपलभ्यते।

- पाणिनि 1/2/29

2- दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृपः।
दुर्बलं व्यंजनं तदवद हरते बलवान स्वरः।।

- ना०शि० 4/4

3- उदाहृतः क्लृप्तशब्दो न पदाद्यन्तयोः स्वरः। - भा० शि०

§2§ स्वर -

ध्वन्यर्थक स्वृ धातु से अच् प्रत्यय करने सेस्वर शब्द की व्युत्पत्ति होती है[1]। जो शब्द करे, ध्वनि करे उसे स्वर कहते हैं[2]। जिससे व्यंजन उच्चरित होता है उसे स्वर कहते हैं। प्रतिज्ञापरिशिष्ट में स्वारपद की व्याख्या अनन्तदेव ने स्वरार्थ में अण प्रत्यय करके की है[3]। पाणिनि ने स्वर शब्द की व्युत्पत्ति स्वृ धातु से धञ् प्रत्यय करके की है[4]। एक अन्य स्थल पर इसकी व्युत्पत्ति घ प्रत्यय के योग से माना है[5]। वस्तुतः घ तथा घन दोनों ही प्रत्ययों का प्रयोग समान रूप से प्राप्य है। यथा- उपनयनम् उपनायनम्[6] अतिशयनम् अतिशायनम्[7], शिक्षा-शीक्षा, प्रभृति अनेक प्रयोग संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होते हैं। एवंविध स्वर शब्द की व्याख्या भी आचार्यों में बहुप्रकार से की है।

जो स्वतन्त्ररूपेण बिना किसी की सहायता से निरपेक्ष उच्चरित हो, वह स्वर है[8]। जो स्वयं सुशोभित हो उसे स्वर कहते हैं[9]। स्वर की अक्षर

1- "स्वरा इति "स्व"शब्दोपतापयोः"स्वयते व्यञ्जनमिति करणेऽचप्रत्ययः।

-पा०शि०4

2- स्वरः एव स्वारः। स्वार्थेऽण्। - प्र० परि० 1/8

3- स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते इति स्वराः। - ऋ०प्रा०1•3 उव्वट भाष्य

4- अष्टा० 3/3/17

5- अष्टा० 3/3/118

6- मनु० स्मृ० 2/36

7- अष्टा० 5/3/55•

8- स्वरस्तु निरपेक्षः -तै०प्रा०2/297•

9- स्वरोऽक्षरम् - वा०प्रा०1/98•

संज्ञा भी है[1]। अकारादि से ओकार पर्यन्त वर्णों की स्वर संज्ञा होती है[2]। ऋग्वेदप्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट का कथन है कि चूँकि अकारादि वर्ण विना किसी अन्य वर्ण की सहायता से उच्चरित होते हैं इसलिए वे स्वर नाम से ज्ञेय है[3]। तै० प्रा० में स्वयं प्रकाशवान होने से स्वर कहा गया है[4]।

शिक्षा अभिप्राय: उदात्तादि है। स्वर पद से अभिहित है क्योंकि उच्चारणज्ञानार्थ उनका ही महत्त्व है। यद्यपि कि वर्णोच्चारण ही शिक्षाओं का मुख्यविषय है तथापि अकारादि स्वरों का विवेचन उदात्तादि स्वर अकारादियों के रूप में किया गया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में त्रयोविंशति {23} स्वरों का उल्लेख है। यद्यपि कि वाजसनेयि शाखा में दीर्घ ऌकार का निषेध होने से द्वाविंशति{22} स्वरों का ही प्रतिपादन है किन्तु अन्यत्र त्रयोविंशति {23} स्वरों का ही विवेचन है[5]। नारदीय शिक्षानुसार स्वरपद से अकारादियों का ग्रहण किया गया है[6]। पाणिनीय शिक्षा में अकारादय 21 स्वर माना गया है[7]। व्यासशिक्षानुसार

1- य: स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलि: - पारिशिक्षा

2- ओदन्ता: स्वरा: - ऋ० प्रा० 1/1/4

3- "स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते इति स्वरा:" - ऋ० प्रा० {उ०भा०} 1/3

4- "स्वयं राजन्तेनान्येन व्यञ्जन्त इति स्वरा: ।"
-तै०प्रा०{वै०भा०} 1/5

5- स्वरा: ------------। याज्ञ० शि० {उत्तरार्द्ध} 25,

6- स्वरा: {अकारादय:} - ना०शि० 2/5/62

7- स्वरा: विंशतिरेकश्च स्पर्शानाम् पञ्चविंशति:,
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा: स्मृता: - पा०शि०4

अकारादि 19 स्वर हैं[1]। स्वराष्टक शिक्षा में आठ ही स्वरों की परिगणना की गयी है। वे इस प्रकार हैं - अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ[2]। माण्डूकी शिक्षा में भी स्वरपद से अकारादि स्वरों का प्रतिपादन किया गया है। इस शिक्षा में द्वाविंशति स्वर ही मान्य है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि अथर्वप्रातिशाख्य के परिशिष्टरूप वर्णपटल में दीर्घ लृकार का निषेध किया गया है। परन्तु इस विचार से विद्वज्जन सहमत नहीं है क्योंकि अथर्ववेद की कोई भी ऐसी शाखा प्राप्त नहीं होती जिसमें दीर्घलृकार को स्वीकार किया गया है। अस्तु ऐसा प्रतीत होता है कि माण्डूकी शिक्षा में वर्णपटलस्थ द्वाविंशति (22) स्वर ही स्वीकृत है। क्योंकि अथर्ववेद प्रातिशाख्य के परिशिष्टरूप वर्णपटल में दीर्घलृकार का निषेध किया गया है। माहेश्वर सूत्र में 9 स्वरों अइउण् ऋलृक् एओङ् ऐऔच का उल्लेख है। वाशिष्ठी शिक्षा में 26 स्वर[3] आपिशलि शिक्षा में 18 स्वर[4] बताया गया है। षोडशश्लोकी शिक्षाकार[5] ने स्वरों की संख्या 22 तथा वर्णरत्नप्रदीपकार[6]

1- अवर्णे वर्णको वर्णो लृवर्णो लृत्वमेतव,
 ओदोद्रङ्गो क्रमादोभ्योत्स्वरास्स्युर्व्यन्जनान्यथ ।।-व्या०शि० ।। 5 ।।

2- अ इ, उ, ऋ लृ ए, ए ओ औ इत्यष्टौ स्वराः । -स्वर०शि० 62

3- लृवर्ण परिहाराय स्वराषड्विंशतिःप्रोक्ताः - वाशिष्ठी शि०

4- छान्दोगानां सात्यमुग्रराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि-
 -आपि०शि०

5- स्वराः द्वाविंशतिः। समास्तेऽदिद्रुतो ज्ञेया ऋच्चादीर्घ लृपन्चमः ।
 एदेदोदौ तु चत्वारोऽह्रस्वासन्ध्यक्षराणि च । - षो० श्लो० शि०23 ।

6- एकविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः - व०र०प्र०शि०

ने स्वरों की संख्या 21 माना है । उपलेख सूत्र[1] में स्वरसंख्या 12 कही गई है ।

प्रातिशाख्यों में स्वरबोधक अनेक संज्ञायें दृष्टिगत होती हैं ।
ऋग्वेद प्रातिशाख्य में स्वर का समानाक्षर तथा सन्ध्यक्षर रूप में प्रतिपादित है[2] ।
तै० प्रा० में स्वर पद के लिए यम[3] मीमांसा में गेह्य[4] तथा ना० शि० में कृष्टादि[5]
संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है । वाजसनेयि प्रातिशाख्य में अकारादि वर्णों
को स्वर कहा गया है[6] । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में षोडश स्वरों का उल्लेख है[7] ।
ऋक्तन्त्र में चतुर्दश स्वरों का निर्देश है । उनको एवंविध प्रतिपादन किया गया है-
अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ० लृ, ए, ऐ ओ, औ,[8] ।

1- उपलेखसूत्रम् - 1·11

2- "एते स्वराः- - ऋ०प्रा० 1/3

3- तै० प्रा० 23/13, 14, 16

4- यत्र आर्चिकानि पदानि निवर्तन्ते स्तोमा गेह्यारचानयान्ति गेह्याः-
स्वराः । - मी० 2/2/36 {शा० भाष्यम् }

5- तृतीयप्रथमकृष्टान् कुर्वन्त्याह्वरका स्वरान् । - ना०शि०प्रा०प्रपाठक ।।

6- तत्र स्वराः प्रथमम् । अ इति, आ इति आ इ इति एवं लृ स्वरं यावत्
पञ्चदशाः अष्टौ च सन्ध्यक्षराणि । यथा- ए इति ए इ इति-----।
-वा०प्रा० 8/2 16

7- "षोडशादितः स्वराः"- तै०प्रा० 1/5

8- "अ इति, आ इति ------।" ऋ०त०1/2

चतुरध्यायिका में भी स्वर पद का प्रयोग किया गया है[1]। वर्णपटल में द्वाविंशति स्वरों का कथन समानाक्षर तथा संध्यक्षर नाम से किया गया है । जिसमें समानाक्षर एवंविध हैं - अ, आ, आ3, इ ई ई3, उ ऊ ऊ3, ऋ ॠ ऋ3, लृ लृ3 । दीर्घ लृ का निषेध किया गया है[2]। संध्यक्षर इस प्रकार हैं - ए ए3, ओ ओ3, ऐ ऐ3, औ औ3 ।[3]

संस्कृत वाड्•मय में अक्षर शब्द भी बहुधा दृष्टिगत होता है । अस्तु सम्प्रति यह शङ्•का उत्पन्न हो सकती है कि क्या स्वर अक्षर से भिन्न है अथवा अभिन्न है ? वस्तुतः संस्कृत वाड्•मय में अक्षर शब्द अनेकार्थक प्रयुक्त है । ऋग्वेद में अक्षर शब्द ओऽम् अर्थ में प्रयुक्त है ।[4] शतपथ ब्राह्मण में शब्दांश में दृष्टिगत होता है ।[5] प्रातिशाख्यों में अक्षर पद स्वरार्थ, सव्यञ्जन तथा स्वर में प्रयुक्त हैं । ऋक्प्रातिशाख्यकार के मतानुसार सव्यञ्जन स्वर अथवा शुद्धस्वर दोनों ही अक्षर हैं[6]। वाजसनेयि प्रातिशाख्यकार का कथन है कि स्वर ही अक्षर है[7]।

1- लृकारः स्वरःपद्यः, नाद्ये घोषवत्स्वरेषु स्वराणाञ्च । - च0अ0भा01/4, 13, 32•

2- अकारश्च इकारश्च उकार ऋकार एवं च,
ह्रस्वदीर्घप्लुताः सर्वे लृवर्णे नास्ति दीर्घता। - व0 प0 3/3

3- एकारश्च तथैकार ओकार औकार एव च ।
दीर्घमात्रप्लुताः तेषाम् समासन्ध्याक्षराणि च ।।"- व0प03/4

4- ऋचो अक्षरे परमेव्योमन देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति च, इत तद विदुस्त समासिते ।।
-ऋ0सं01/164/39•

5- शत0 ब्रा0 4/3/2/7•

6- उभये त्वक्षराणि सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोक्षरम् ।
- ऋ0प्रा01/19/18/32

7- स्वरोऽक्षरम् । वा0 प्रा0 1/99

ऋक्तन्त्रकार के मतानुसार भी स्वर अक्षर है[1]। चतुरध्यायी में भी स्वर को अक्षर कहा गया है[2]। त्रिभाष्यरत्न का यह कथन है कि व्यंजन स्वर का अंग है। व्यन्जन स्वबलेन उच्चरित नहीं होता बल्कि सतत् स्वर की सहायता से उच्चरित होता है। इसका उच्चारण स्वरसापेक्ष है। जबकि स्वर निरपेक्ष उच्चरित होता है इसलिए निरपेक्षत्वात् स्वर अक्षर नाम से ज्ञेय है[3]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का कथन है कि न क्षरन्तीति अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता वह अक्षर है। क्षरण का तात्पर्य है चलना अर्थात् जो किसी के सहायता के बिना चले वह स्वर है। अस्तु वह अक्षर है[4]। श्रीमद्भागवत गीता में यह उद्धरण मिलता है कि स्वर ही अक्षर है[5]।

नारदीय शिक्षा में एकत्र सव्यन्जन स्वर[6] को तथा अन्यत्र शुद्ध स्वर को अक्षर[7] स्वीकार किया है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने शिक्षा में अक्षर पद से स्वर का बोध कराया है[8]। माण्डूकी शिक्षाकार का कथन है कि सव्यन्जन

1- अक्षरम्। - ऋ0त0 46

2- स्वरोक्षरम्। -च0अ0 1/93

3- व्यन्जनं स्वराङ्गम्। व्यन्जनं न केवलं स्थातुं शक्नोति अतएव सापेक्षम्। स्वरस्तु निरपेक्षरिति। - तै0प्रा02।/।

4- न क्षरन्तीत्यक्षराणि। क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्। तद्भावात् स्वरेष्वक्षरशब्दो दृश्यते।

5- अक्षराणामकारोऽस्मि। भ0गी0।0/33।

6- एह पूर्वं संयुते चाप्युत्तरं क्रमतेऽक्षरम्। -ना0शि0।2/2/।।

7- मात्रिकं वा द्विमात्रं वा स्वर्यते यदिहाक्षरम्। -ना0शि02/2/6

8- अक्षरम् भजते काचित्। -या0शि0{पूर्वार्द्ध} 73

स्वर अक्षर होता है[1]। किन्तु शुद्ध स्वर को भी अक्षर पद से बोधित किया है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों में अक्षर पद से स्वर का ही बोध होता है। किन्तु चूँकि बिना स्वर के व्यन्जन का उच्चारण सम्भव नहीं है। इसलिए सव्यन्जन स्वर को भी अक्षर कह दिया। स्वर तथा व्यन्जन के अक्षरत्व के विषय में विस्तृत विवेचन अक्षर के अन्तर्गत किया जा चुका है इसलिए यहाँ पर और अधिक विषय को दीर्घता प्रदान करना उचित नहीं।

शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों में स्वर का विभागद्वय प्राप्त होता है - 1- समानाक्षर या मूलस्वर (MONOPTHONG)
तथा 2- संध्यक्षर (DIPTHONG)

(1) <u>समानाक्षर</u> -

समान रूप से उच्चरित होने वाले अक्षर को समानाक्षर कहते हैं। अकार से लृकार पर्यन्त स्वरों को समानाक्षर कहा गया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में आदि के नौ अ आ आ3, इ ई ई3, उ ऊ ऊ3 इन स्वरों को समानाक्षर माना है।[3]

1- सयकारं स्मं वाप्यक्षरं स्वरितं भवेत्। -मा०शि०7/5

2- पूर्वं ह्रस्वं परं दीर्घमक्षरं यत्र दृश्यते।" -मा०शि०9/4

3- "अथ नवादितः समानाक्षराणि" -तैत्ति०प्रा०1/2

जबकि ऋग्वेद प्रातिशाख्य में आदि के आठ अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ इन स्वरों को ही समानाक्षर कहा गया है[1]। दो स्वरों की संधि से उत्पन्न न होने के कारण ही ये स्वर समानाक्षर कहे जाते हैं[2]। आधुनिक भाषा वैज्ञानिक प्रो० डेनियल भी उपर्युक्त कारण को स्वीकार करते हैं। उन्होंने समानाक्षर ध्वनियों को (PURE VOWEL) मूल स्वर कहा है[3]। इनके उच्चारण में उच्चारणाङ्गों की स्थिति आद्यन्त एक जैसी ही रहती है। इनके उच्चारण में ऐसा नहीं होता कि करण को उच्चारण-काल में ही स्थिति में परिवर्तन करना पड़े। इनके उच्चारण में सर्वांश में एक ही प्रकार की ध्वनि श्रुतिगोचर होती है।

यद्यपि यह पारिभाषिक शब्द समानाक्षर प्रातिशाख्यों में ही प्राप्य है, शिक्षाओं में नहीं फिर भी चूँकि प्रातिशाख्यों का शिक्षाओं में ही अन्तर्भाव है। इसलिए यहाँ पर समानाक्षर स्वरों का अध्ययन अभीष्ट है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में ऋक् तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की भाँति समानाक्षर पद प्रयुक्त नहीं है। इसमें तदर्थक सिम् शब्द प्रयुक्त है। इस प्रकार समानाक्षर इसमें भी आठ हैं[4]। चतुराध्यायी में समानाक्षर पद दृष्टिगोचर है[5]। किन्तु इसकी संख्या के विषय में मौन है। वर्णपटल में अ आ आ3, इ ई ई3, उ ऊ ऊ3,

---

1- अष्टौ समानाक्षराण्यादितः — ऋ०प्रा० 1/1

2- एकारादयः स्वराः---। तदभावस्तु समानरूपाः अकारादय इतरे स्वराः समानाक्षराणीति। — तै०प्रा० 1/2 वै०

3- एन आउट लाइन आफ इंगलिश फोनेटिक्स, पेज 62

4- सिमादितोऽष्टौ स्वराणाम् — वा०प्रा० 1/44

5- समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः — च०अ० 3/42

लृ लृ लृ3 समानाक्षर पद से बोध्य है[1]।

§4§ सन्ध्यक्षर -

वे वर्ण जो संधि के कारण उत्पन्न हुए हों उन्हें सन्ध्यक्षर कहा जाता है। ऋक् प्रातिशाख्य के भाष्य में कथन है कि अकार की इकार, उकार, एकार तथा ओकार के साथ संधि जिन स्वरों की निष्पत्ति होती है, उन्हें सन्ध्यक्षर कहते हैं[2]। माहेश्वरसूत्र में स्वरों की चार कोटियाँ - §1§ अ इ उ ण् §2§ ऋलृक् §3§ एओङ् §4§ ऐऔच् है। इसमें तृतीय ए ओ तथा ऐ औ में का सन्ध्यक्षरों में परिगणन है[3]। अ + ए=ए अ + उ=ओ गुणीभूत सन्ध्यक्षर हैं। आ + इ=ए ; आ + उ=ओ वृद्धिभूत सन्ध्यक्षर हैं[4]। इसीलिए गुण को तृतीय तथा वृद्धि को चतुर्थ कोटि में पृथक्-2 रखा गया है। किन्तु ए ओ में प्रश्लेषादि क्यात् एकवर्णवद्वृत्ति पूर्णतया प्राप्त होने से इनकी सन्ध्यक्षरता लगभग समाप्त प्राय है[5]। उव्वट ने अ-इ अ-उ, अ-ए तथा अ-ओ से क्रमशः ए ओ ऐ औ को

1- इति वर्णाः प्रोक्ताः तेषामाद्याश्चतुर्दश) समानाक्षराण्युच्यन्ते — — — ।। व॰ प॰ 1/7
एकारादयः स्वराः सन्ध्यक्षराणीत्याख्यायन्ते स्वद्वयसंधिरूपत्वात्-तै०प्रा०1/2

2- अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह संधौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते। -ऋ०प्रा०1/2 पर उ०भा०

3- ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षराणि- सार० वर्णसूत्र 3
ए इति ऐ इति ओ इति औ इति सन्ध्यक्षराणि - ऋ०तं०1•2
एकारादीनि सन्ध्यक्षराणि- कातंत्र 8। -वा०प्रा०4•145

4- द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि - -पा०शि०सू•1•24
सन्ध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णानि एकवर्णवद्वृत्तिः -अ०प्रा०1•40

5- प्रश्लिष्ट वर्णावेतौ §एङ्§ विवृततरावेतौ §ऐच्§ महाभाष्यम् 1•1•§प्रा०1•1•
मात्रासंसर्गादवरेऽपृथक्श्रुती। ह्रस्वानुस्वारव्यतिषङ्गवत्परे-ऋ०प्रा०13•40•41

निष्पन्न माना है । ऋ० प्रा०[1] में संध्यक्षरों की संख्या 4, ओडवलोकी शिक्षा[2] में भी संध्यक्षरों की संख्या 4, मलयगिरितंत्र सूत्र[3] में संध्यक्षरों की संख्या 4 तथा हेमशब्दानुशासन[4] में भी संध्यक्षरों की संख्या 4 बतायी गयी है ।

संध्यक्षर सन्धिजन्य होने से इसका उच्चारण स्थानद्वय से होता है[5] । परन्तु चतुरध्यायिका में कहा गया है कि यद्यपि कि दो अक्षर के संयोग से उत्पन्न स्वर संध्यक्षर होता है फिर भी वह एकवर्णवद् उच्चरित होता है[6] । यद्यपि कि ऋक् प्रातिशाख्य में यह कथन है कि समानाक्षरेत्तर स्वर संध्यक्षर नाम से ज्ञेय है[7] परन्तु वाजसनेयि प्राति० में सिम् स्वर से अन्य स्वर संध्यक्षर बोध्य हैं[8] ।

1- अष्टौ समानाक्षराण्यादितस्ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराणि- ऋ०प्रा०1•2

2- ए ऐ दो दो तु चत्वारोह्रस्वा सन्ध्यक्षराणि च -ओ०श्लो०शि03

3- ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षराणि - मलय० तं०सू03

4- ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् - हेम० श० 1•18

5- संध्यानि संध्यक्षराण्याहुरे एके । द्विस्थानतेषुतथोभयेषु- ऋ०प्रा०13•38•

6- संध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णान्येकवर्णवदवृत्तिः ।

-च०अ० 1•40,

7- ततश्चत्वारि संध्यक्षराणि उत्तराणि - ऋ०प्रा० 1•2

8- संध्यक्षरं परम् - वा०प्रा० 1•45

यद्यपि चतुराध्यायी में संध्यक्षर स्वरूपबोधक नियम प्रतिपादित है, परन्तु इन स्वरों के अस्तित्व के सम्बन्ध में मौन है । उसकी पूर्ति वर्णपटल में की गयी है । समानाक्षर से अवशिष्ट ए ए3, ऐ ए3, आ ओ3, औ औ 3 ये आठ स्वर संध्यक्षर पद से ज्ञेय है[1]। ऋक्तन्त्र में ए ओ, ऐ औ ये स्वर संध्यक्षर होते हैं[2]।

यद्यपि शिक्षाओं में संध्यक्षर पद से ए ओ, ऐ औ स्वरों का उल्लेख नहीं है फिर भी शिक्षाओं में स्वरों के अन्तर्गत इनकी परिगणना की गयी है । शिक्षाओं में संध्यक्षर पद का अभाव यह सूचित करता है कि प्रातिशाख्यों में संहितानियम विस्तारपूर्वक विवेचित है परन्तु शिक्षाओं में ही ये नियम संकलित है । जिसकी वर्णोच्चारण में सहायता मिलती है । जिसका उच्चारण कठिन होता है उसी का नियम शिक्षाओं में सम्यकतया प्रतिपादन है । अतएव शिक्षाओं में प्रायः प्रातिशाख्यों के पारिभाषिक शब्दों का अभाव है ।

§5§ ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत -

क्रमशः एकमात्रिक वर्ण द्विमात्रिक वर्ण तथा त्रिमात्रिक वर्ण को ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत कहा जाता है[3]। चान्द्रवर्णसूत्र में उपरोक्त तथ्य का प्रतिपादन किया गया है[4]। पाणिनी सूत्र भी उपरोक्त तथ्य से सहमत है[5]। यह

1- शेषः संध्यक्षराणि तु - व0प01·7

2- ए इति, ऐ इति ओ इति औ इति" -ऋ0त01·2

3- एकमात्रो भवेद ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते । त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यन्जनं चार्धमात्रिकम् -व0पू0 शि0 23

4- एक मात्रिकः ह्रस्वः द्विमात्रिकः दीर्घः त्रिमात्रिकः प्लुतः-चा0व0सू041-43

5- ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः - पा0सू01·2·26·

वर्णोच्चारण काल को मापने की एक इकाई है । कालभार को मापने का कल्पित मान मात्रा है[1] । काल की सूक्ष्मतम इकाई अणु है[2] । अणु सूर्यरश्मिप्रतीकाशा कणिका है । सूर्यरश्मिप्रतीकाशा कणिका अणुरूपा है । चार अणुओं का कालभार मात्रा कहलाता है[3] । वर्णोच्चारण के समय वर्ण की अणुमात्रा मनस में द्वितीयाणुमात्रा कण्ठ में तृतीयाणु जिह्वाग्र पर और चतुर्थाणु निस्सरण में होती है[4] । एक मात्रिक वर्ण ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ तथा त्रिमात्रिकप्लुत कहा जाता है ।

§6§ गुरु -

प्रत्येक स्थिति में पाया जाने वाला दीर्घ स्वर गुरु होता है । परन्तु ऋ०प्रा० केवल शुद्ध दीर्घस्वर अर्थात् किसी व्यन्जन से न मिले हुए दीर्घ स्वर को ही गुरु स्वीकार करता है[5] । इसके अतिरिक्त यदि किसी ह्रस्वर स्वर के अव्यवहित बाद संयुक्तवर्ण हो अथवा अनुस्वार हो तो वह ह्रस्व स्वर सभी प्रातिशाख्यों के मत में गुरु संज्ञक होता है[6] ।

1- माङ्•माने त्र- टाप् ।

2- इन्द्रियाविषयो योऽसावणुरित्यभिधीयते- शम्भु शि० 46
कालोऽतिसूक्ष्मकोऽणुः स्यात् - व्या०शि०27•2•

3- सूर्यरश्मिप्रतीकाशा कणिका यत्र दृश्यते ।
अणुत्वस्य तु सा मात्रा, मात्रा च चतुराणवत्- लो०शि० 6•6

4- मानसे चाणवं विद्यात् कण्ठे विद्यात् द्विराणवत् ।
त्रिराणवं तु जिह्वाग्रे निःसृतं मात्रिकं विदुः ।। - लो०शि07•8

5- गुरूणि दीर्घाणि । तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि ।
गुरुर्दीर्घम् - ऋ०प्रा०18•4। -ऋ०प्रा० 1•20

6- यद् व्यन्जनान्तं यद् चापि दीर्घं संयोगपूर्वं च तथानुनासिकम् एतानि सर्वाणि

§7§ लघु -

ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार व्यञ्जन सहित ह्रस्व स्वर की ही लघु संज्ञा होती है[1]। अन्य सभी प्रातिशाख्य शुद्ध ह्रस्व स्वर तथा किसी भी व्यञ्जन से युक्त ह्रस्व स्वर को लघु मानते हैं। परन्तु यदि किसी मन्त्र अथवा श्लोक में ह्रस्वस्वर के बाद संयुक्त व्यञ्जन वर्ण हो तब ऐसी स्थिति में आने वाला ह्रस्वस्वर लघु नहीं होता[2]।

1- "लघु सव्यञ्जनं ह्रस्व" - ऋ०प्रा० 18·43

2- 'अव्यञ्जनान्तं यद्ह्रस्वमसंयोगपरं च यत् अनुस्वारं संयुक्तं यत्तल्लघु निबोधत-
-तै०प्रा०22·14

किञ्चित महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों के अनुसार स्वरों की संख्या निम्नोक्त है -

शिक्षानुसार स्वर

याज्ञवल्क्यशिक्षा	पाणिनीयशिक्षा	व्यासशिक्षा	माण्डूकीशिक्षा	पारिशिक्षा
अ आ आ 3	अ आ आ 3	अ आ आ 3	अ आ आ 3	अ आ आ 3
इ ई ई 3	इ ई ई 3	इ ई ई 3	इ ई ई 3	इ ई ई 3
उ ऊ ऊ 3	उ ऊ ऊ 3	ऊ ऊ ऊ 3	उ ऊ ऊ 3	उ ऊ ऊ 3
ऋ ऋ ऋ 3	ऋ ऋ ऋ 3	ऋ ऋ ऋ 3	ऋ ऋ ऋ 3	ऋ ऋ
लृ लृ लृ 3	लृ - -	लृ - -	लृ लृ 3	लृ -
ए ए 3	ए ए 3	ए ऐ	ए ए 3	ए ऐ
ऐ ऐ 3	ऐ ऐ 3		ऐ ऐ 3	ओ औ=16
ओ ओ 3	ओ ओ 3	ओ औ	ओ ओ 3	
औ औ 3-23	ओ औ3=21	आँई ऊँ=19	औ औ3=22	

प्रातिशाख्यानुसार स्वर

ऋक्प्रातिशाख्य	वाजसनेयिप्रातिशाख्य	तैति0प्राति0	ऋक्तन्त्र	चतु0अ0परि0कर्ण
अ आ इ ई	अ आ आ 3	अ आ आ 3	अ आ इ ई	अ आ आ 3
उ ऊ ऋ ॠ	इ ई ई 3	इ ई ई 3	उ ऊ ऋ ॠ	इ ई ई 3
लृ लॄ ए ऐ	उ ऊ ऊ 3	उ ऊ ऊ 3	लृ लॄ ए ओ	उ ऊ ऊ 3
ओ औ=14	ऋ ॠ ऋ3	ऋ ॠ लृ	ऐ औ=14	ऋ ॠ ऋ3
	लृ लॄ लृ 3	ए ऐ ओ औ		लृ लृ 3
	ए ए 3	= 16		ए ए 3
	ए ऐ 3			ऐ ऐ 3
	ओ ओ 3			ओ ओ 3
	औ औ3=23			औ औ 3=22

एवंविध विभिन्न शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों के पर्यालोचनोपरान्त अधोलिखित स्वर दृष्टिगोचर होते हैं -

स्वर - अ आ आ3, इ ई ई3, उ ऊ ऊ3, ऋ ॠ ऋ3, लृ लृ लृ3 ए ए3 ऐ ऐ 3,

ओ ओ 3 औ औ 3 ।

§8§ व्यञ्जन -

"वि" पूर्वक अजि धातु से ल्युट प्रत्यय करने से व्यञ्जन शब्द व्युत्पन्न हुआ है । जो स्वर की सहायता से व्यक्त-स्फुटित या उच्चरित होते हैं उन्हें व्यञ्जन कहते हैं[1]। महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है कि जो स्वयं प्रकाशित होते हैं वे स्वर तथा जो दूसरे §स्वरों§ पर आश्रित हैं, वे व्यञ्जन कहे जाते हैं[2]। ककारादि को व्यञ्जन कहा गया है[3]। स्वरों से अवशिष्ट सभी वर्णों की व्यंजन संज्ञा होती है[4]। ऋक् प्रातिशाख्य का कथन है कि स्वर से अन्य वर्ण व्यञ्जन संज्ञक हैं[5]। वाजसनेयि प्रातिशाख्यानुसार ककारादि वर्णों की व्यञ्जन संज्ञा होती है[6]। ऋक्तन्त्र में भी ककारादि वर्णों को व्यञ्जन संज्ञक कहा गया है[7]।

1- स्वृ शब्दोपतापयोः अच् । स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति -पा०शि०पञ्जिका।
स्वर्यते शब्द्यते व्यञ्जनमेभिः स्वेन राजन्त इति वा-या०शि०
परेण स्वरेण व्यञ्जयते इति व्यञ्जनम्- तै०प्रा० §वैदिक० § 1·6
व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थान् इति व्यञ्जनानि- ऋ०प्रा०1·6
उपरिस्थानिना तेन व्यङ्ग्यं व्यञ्जनमुच्यते - पारि०शि० 11

2- स्वयं राजन्त इति स्वराः अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति-म०भा०1·2·29

3- कादिर्व्यञ्जनम्- है०श० 1·1·10

4- शेषा व्यञ्जनानि- तै०प्रा०

5- सर्वशेषो व्यञ्जनानि- ऋ०प्रा० 1·6

6- व्यञ्जनं कादि - वा०प्रा० 1·47

7- ऋ० तं०1·2

चतुरध्यायी में भी व्यन्जन शब्द का उल्लेख[1] है किन्तु व्यन्जनों की गणना के सम्बन्ध में मौन है । इसका समाधान उसके परिशिष्ट वर्णपटल में किया गया है । इसमें ककारादि वर्णों को व्यन्जन संज्ञक कहा है[2]। व्यन्जन शब्द का उल्लेख यहाँ तक कि गोपथ ब्राह्मण[3] और ऐतरेयारण्यक[4] में भी किया गया है ।

शिक्षाग्रन्थों में व्यन्जन के विषय में विशेष रूप से विवेचन किया गया है । याज्ञवल्क्य शिक्षा मेंग ककारादि वर्णों को व्यन्जन संज्ञक बताया है । इसमें कण्ठ्य जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, तालव्य, मूर्धन्य दन्त्य, ओष्ठ्य यम अनुस्वार विसर्जनीय उपध्मानीय नासिक्य, अनुनासिक्य रङ्ग आदि 45 वर्णों की व्यन्जन संज्ञा की है[5]। नारदीय शिक्षा में ककारादि वर्णों को व्यंजन संज्ञक स्वीकार किया है[6]। गौतमी शिक्षा में स्पर्श अन्तस्थ उष्माण इत्यादि 37 वर्णों को व्यन्जन

1- परस्य स्वरस्य व्यन्जनानि - च0 अ0 1·55

2- काद्यो व्यन्जनं स्मृतम् - व0 प0 1·8

3- अ उ इत्यर्धचतस्रो मात्रा । मकारे व्यन्जनमित्याहुर्या प्रथमा मात्रा ब्रह्मदेवत्या- गो0ब्रा0 1·25

4- ऐ0 आ0 1434

5- स्पर्शान्तः स्थोष्माणः । कण्ठ्यजिह्वामूलीयोपध्मानीयतालव्य मूर्धन्यदन्त्योष्ठ्ययमानुस्वारविसर्जनीयोपध्मानीयनासिक्यानुनासिक्यरङ्गाः - -याज्ञ0 शि0 775

चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ इति -याज्ञ0शि0 154

6- संयोग यत्र दृश्येत व्यन्जनं विरते पदे -ना0शि02 :2·13

संज्ञक माना है[1]। पाणिनीय शिक्षा में 25 स्पर्श[2] चार अन्तस्थ, चार ऊष्माण चार यम, अनुस्वार[3] विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अयोगवाह आदि 42 वर्णों को व्यञ्जन संज्ञक माना गया है। आपिशलिशिक्षा में 45 व्यञ्जनों का उल्लेख है[4]। षोडशश्लोकी शिक्षा में 33 व्यञ्जनों का विवरण मिलता है। इसमें चार यम, अनुस्वार विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आदि का विवेचन किया गया है[5]। वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा में ककारादि से मकारपर्यन्त 25 स्पर्श, चार यादि अन्तस्थ, श, ष, स तथा ह आदि, चार यम, अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय

1- अथ त्रयास्त्रिंशद्व्यञ्जनानि स्पर्शान्तः स्थोष्माणश्चेति-ककारादयोमकार-पर्यन्ताः स्पर्शाः पंचविंशतिश्चत्वारश्चत्वारस्त यरलवाश्चत्वारश्चोष्माणस्ते हशषसाः चत्वारस्ते सयमास्ते कुं खुं गुं घुं इति ।- गो० शि०

2- स्पर्शा पंचविंशतिः । यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः। अनुस्वारो विसर्गश्च कपौ चापि पराश्रयौ । -पा०शि०4-5,38

3- स्वरम् अनुपश्चाद् भवति इति अनुस्वारः। यद् वक्ष्यति दन्तमूल्यः स्वरा ननु - पा०शि० 23

4- तत्र स्थानकरणप्रयत्न ----------आनुनासिक्य भेदाच्च संख्योऽष्टादशात्मकः एवमिवर्णादयः, अन्तःस्थादिप्रभेदाः रेफवर्जिताः सानुनासिकानिरनुनासिकाश्च

-आपि०शि० 1·4,6·1,2,3

5- त्रयस्त्रिंशद्सावर्णाः स्वरा द्वाविंशतिर्यमाः । चत्वारश्च विसर्गोऽनुस्वार ×क ×पास्मिषष्टिकाः ।। - षो० श्लो० शि०

तथा उपध्मानीय इत्यादि वर्णों का प्रतिपादन किया गया है[1]। शैशरीय शिक्षा में 25 स्पर्श वर्ण, चार यम, अनुस्वार, विसर्ग नासिक्य, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय व्यन्जनों का उल्लेख है[2]। पाणिनिशिक्षा में भी 25 स्पर्श, चार अन्तःस्थ, ऊष्माण, विसर्ग अनुस्वार तथा अनुनासिक आदि व्यन्जन वर्णों का उल्लेख है[3]। व्यास शिक्षा में स्पर्श, अन्तःस्थ, शषस ह, अनुस्वार विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय 37 व्यन्जन वर्णों का विवरण प्राप्त होता है[4]। पराशरी, लोमशी,

---

1- ककारादिमकारपर्यन्ताः स्पर्शाः पंचविंशतिः।
चतस्रो यादयोऽन्तस्थाः ऊष्माणः शषसाःसहा ।।
स्पर्शानां पंचमैर्योगे चत्वारश्च यमास्मृताः।
अनुस्वारोविसर्गश्च जिह्वामूलीय एव च ।।
उपध्मानीय इति च दुःस्पृष्टश्च तथापरः।। - व०र०प्र०शि० ।3-15

2- स्पर्शानां पंचविंशतिः यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः।।
अनुस्वार विसर्गश्च ककारश्च तथैव च । दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो नासिक्यं रङ्गमुच्यते ।। जिह्वामूलीय इत्युक्त उपध्मानीयमेव च । - शै० शि०

3- कखौ गघौ ङ·च छ जा झ नौ ट ठ ड ढ ण ताः ।
थदौ धनौ प फ ब भमा स्पर्शाः पंचविंशतिः ।
यवौ रलौ चतस्रोऽन्तस्थाः शषसाः षहाः।।
स्वराः स्पर्शास्तथान्तस्थाः ऊष्माणश्चाथ दर्शिताः।
विसर्गानुस्वारङ्श्चानुनासिक्याः पंचचोदिताः ।। - पा०शि०

4- व्यञ्जनान्यथ ।। 3 ।। कादिमान्ताः स्मृताः स्पर्शा अन्तस्था यादिवोत्तराः जिह्वामूलादिहाताश्च षडूष्माणः उदीरिताः ।। 4 ।। -व्या०शि०3,4

अमोघनन्दिनी तथा माध्यन्दिनीय शिक्षाओं में वर्ण समाम्नाय के विषय में कुछ भी विवरण प्राप्त नहीं होता है। माण्डूकी शिक्षा में यद्यपि कि वर्णों का पृथक् उपदेश नहीं है तथापि सूक्ष्मतया पर्यालोचनोपरान्त 33 स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्माण चार यम, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा तीन अनुस्वार आदि 43 व्यञ्जन वर्णों का उल्लेख किया गया है[1]। क्योंकि इसमें रङ्ग को स्वीकार नहीं कियाहै। प्रयागरत्नमाला में ककारादि हकारान्त व्यञ्जनों का कथन है[2]। हेमचन्द्रशब्दानुशासन में ककारादि व्यञ्जन वर्णों का उल्लेख है[3]।

1- स्पर्शानां करणं स्पृष्टमन्तस्थानामतोऽन्यथा।
यमानां संवृतं प्राहुर्विवृतं च स्वरोष्मणाम् ।। 9 ।।
ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलीयमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्माणः ।। 10/4 ।।
न च रेफानुस्वारो विसर्जनीये तु सर्वत्र।
अनुस्वाराश्च कर्तव्या ह्रस्वदीर्घप्लुतास्त्रयः ।। 8 । 11 ।।
नासादुत्पद्यते रङ्गः ।। 10 ।। -माण्डूकी शिक्षा

2- ककारादिहकारान्ता व्यञ्जनानि हलश्च ते। - प्र०र०मा० 1·19

3- कादिर्व्यञ्जनम् - हे० श० 1·1·10

शिक्षाग्रन्थों के अन्तर्गत आने वाले प्रातिशाख्यों में व्यन्जनवर्णों का सम्यक्तया विवेचन किया गया है । ऋक्प्रातिशाख्य में 37 व्यन्जन वर्णों, अनुस्वार विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आदि का प्रतिपादन किया गया है[1]। इसी प्रकार वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी 42 व्यन्जन संज्ञक वर्णों का उल्लेख किया है[2]। तैत्तरीय प्रातिशाख्य में 33 व्यन्जन, यम, अनुस्वार, विसर्ग जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आदि कुल 44 व्यन्जन वर्णों का उल्लेख प्राप्त होता है[3]।

1- कखौ, गघौ, ङ, च छौ, ज झौ, ञ, ट ठौ, डढौ, ण, तथौ, दधौ न। पफौ, बभौ, म य र ल वा, ह श ष सा, अः ᳵक, ᳶप, अं इति वर्णराशि क्रमश्च ।। -ऋ० प्रा० ।०

2- अथ व्यन्जनानि । किति खिति गिति घिति ङिति । चिति छिति जिति झिति ञिति । टिति ठिति डिति ढिति णिति । तिति थिति दिति धिति निति । पिति फिति बिति भिति मिति । इति स्पर्शाः अन्तःस्था । यिति रिति लिति विति । अथोष्माणः । शिति षिति सिति हिति । अथ अयोगवाहाः । ᳵक इति जिह्वामूलीयः ᳶप इति उपध्मानीयः । अं इत्यनुस्वारः अः इति विसर्जनीयः हुं इति नासिक्य । कुं खुं गुं घुं इति यमाः । एते पन्चषष्टि वर्णाब्रह्मराशिरात्मवचः।

-वा०प्रा०8-25 ।

3- शेषा व्यन्जनानि । आद्या पन्चविंशतिः स्पर्शाः परास्चतस्रोऽन्तस्थाः परे षडूष्माणः । न विसर्जनीय जिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वार नासिक्यानाम्

-तै०प्रा० 5-9, 18

ऋक्तन्त्र में भी वाजसनेयि प्रातिशाख्य के सदृश स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्माण, अयोगवाह, विसर्जनीय उपध्मानीय, अनुनासिक, यम तथा अनुस्वार आदि कुल 43 व्यन्जन वर्णों का विवेचन किया गया है[1]। चतुराध्यायी के परिशिष्ट रूप वर्णपटल में 43 व्यन्जन वर्णों का उल्लेख किया है ।

1- अथ व्यन्जनानि किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः । चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः । टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः । तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः। पिति फिति विति भिति मिति पवर्गः । इति स्पर्शाः । अथान्तःस्था यिति रिति लिति वित्यन्तःस्था । अथोष्माणो हिति शिति षिति सिति योगवाहाः । अथायोगवाहाः। अः इति विसर्जनीयः । क इति जिह्वामूलीयः । प इति उपध्मानीयः । हुँ इत्यनुनासिकः । अथ यमाः । कुँ इति, खुँ इति, गुँ इति, घुँ इति यमाः । अथानुस्वारौ । अं इति आं इति ।

- ऋ० त०

एवंविध शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों के व्यन्जन वर्णों के पर्यालोचनोपरान्त किंचित महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों के मतानुसार अधोलिखित व्यन्जनों का रेखाङ्•कन किया जा सकता है -

शिक्षानुस्वार व्यन्जन

याज्ञवल्क्य शिक्षा	पाणिनीयशिक्षा	वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा	गौतमीशिक्षा	माण्डूकीशिक्षा
क ख ग घ ङ•	क ख ग घ ङ•	क ख ग घ ङ•	क ख ग घ ङ•	क ख ग घ ङ•
च छ ज झ ञ	च छ ज झ ञ	च छ ज झ ञ	च छ ज झ ञ	च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण	ट ठ ड ढ ण	ट ठ ड ढ ण	ट ठ ड ढ ण	ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न	त थ द ध न	त थ द ध न	त थ द ध न	त थ द ध न
प फ ब भ म	प फ ब भ म	फ फ ब भ म	प फ ब भ म	प फ ब भ म
य र ल व	य र ल व	य र ल व	य र ल व	य र ल व
श ष स ह	श ष स ह	श ष स ह	श ष स ह	श ष स ह
चार यम	कुः स्पृष्ट, चार यम	चार यम	चार यम	अं आं आं3
अं आंअनुस्वार	अनुस्वार, विसर्ग	अंअनुस्वारविसर्ग	=37	अनुस्वार चार य
अः≍क≍प नासिक्य	≍क ≍प = 42	≍क ≍प, =41		अः=43≍क≍प
अनुनासिक्य रङ्•ग=45		= 41		अः =43

प्रातिशाख्यानुसार व्यञ्जन

ऋक्प्रातिशाख्य	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	वाजसनेयि प्रातिशाख्य	ऋक्तन्त्र	चतुराध्यायी का परिशिष्ट वर्णपटल
क ख ग घ ङ	क ख ग घ ङ	क ख ग घ ङ	क ख ग घ ङ	क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ	च छ ज झ ञ	च छ ज झ ञ	च छ ज झ ञ	च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण	ट ठ ड ढ ण	ट ठ ड ढ ण	ट ठ ड ढ ण	ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न	त थ द ध न	त थ द ध न	त थ द ध न	त थ द ध न
प फ ब भ म	प फ ब भ म	प फ ब भ म	प फ ब भ म	प फ ब भ म
य र ल व	य र ल व	य र ल व	य र लव	य र ल व
ह श ष स	ह श ष स	ह श ष स	ह श ष स अः	ह श ष स
अः अं	≍क ≍प	≍क ≍प अं	≍क ≍प	अः≍क≍प
≍क ≍प	अं अः	अः नासिक्य (हुं)	अं आं	चार यम
= 37	क, नासिक्य	चार यम	चार यम	अ, नासिक्य अभिनिधान
	चार यम	= 42	= 43	= 43
	कुं खुं गुं घुं			
	स्वरभक्ति=44			

उपर्युक्त शिक्षाओं एवं प्रातिशाख्यों के विश्लेषणोपरान्त अधोलिखित व्यञ्जन वर्ण दृष्टिगत होते हैं -

क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट ठ ड ढ ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श ष, स ह, अः (विसर्जनीय) ≍क ≍ख (जिह्वामूलीय) ≍प ≍फ (उपध्मानीय) अं, आं (अनुस्वार) हुं (नासिक्य) कुं खुं गुं घुं (चार यम) ळ ळ्ह और स्वर-भक्ति ।

एवंविध शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में व्यन्जन विषयक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है क्योंकि इनमें स्वशाखा सम्बन्धित वर्णों को प्रतिपादन किया गया है। अस्तु क्वचित् न्यूनाधिक्य सम्भव है। किसी शिक्षा में जो वर्ण है वे वर्ण दूसरी शिक्षा में नहीं है तथा जो वर्ण दूसरी शिक्षा में वे वर्ण में पहली शिक्षा में नहीं है। यथा नासिक्य अनुनासिक तथा रङ्ग को याज्ञवल्क्य शिक्षा में व्यन्जनान्तर्गत स्वीकार किया है तो पाणिनीय शिक्षा में इन्हें स्वीकार नहीं किया है। कु स्पृष्ट को पाणिनीय शिक्षा में व्यन्जन स्वीकार किया है तो याज्ञवल्क्य शिक्षा में इसे मान्य नहीं किया है। इसी प्रकार अन्य शिक्षाग्रन्थों में भी व्यन्जन वर्णों का न्यूनाधिक्य द्रष्टव्य है। प्रातिशाख्यों में भी परस्पर व्यन्जन वर्णों का न्यूनाधिक्य देखा जा सकता है। यथा चार यम नासिक्य तथा स्वरभक्ति को तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार ने व्यन्जन वर्णों के अन्तर्गत मान्य किया है तो ऋक्प्रातिशाख्य में इन्हें स्वीकार नहीं किया है। चार यम तथा नासिक्य को तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य में व्यन्जन माना गया है तो ऋक्प्रातिशाख्य में नहीं माना गया है। इसका समाधान यही है कि स्थानादि भेद से स्थानादियों में ऐक्यता होने पर भी उसके तारतम्य से तथा स्थानादियों के अन्यथा रूप में शङ्का करने से ही अनन्त वर्ण है। इसका समग्ररूपेण गणना करना दुष्कर है। वस्तुस्थिति यह है कि सभी वर्ण समग्ररूपेण किसी भी भाषा अथवा वेद प्रयुक्त नहीं है। अस्तु कुछ शाखा विशेष विषयक तथा कुछ स्वप्रक्रियापयोगी वर्णों का ही प्रतिपादन किये हैं। यदि प्रसङ्गवश अन्यशाखीय वर्णों का निर्देश कर दिया गया है तो यह उसकी विशेषता है। उसकी न्यूनता नहीं है।

इसी प्रकार रङ्ग तथा यम के सम्बन्ध में भी विचार किया जा सकता है । रङ्ग तथा यम समान्यतया वेदों में ही प्रयुक्त हैं । क्या रङ्ग स्वतन्त्र व्यन्जन है ? इस शङ्का के समाधानस्वरूप विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि अभिनिधान भी कोई वर्ण नहीं है । क्योंकि इसका कोई विवरण प्राप्त नहीं होता । अभिनिधान की उत्पत्ति उच्चारण सौकर्यार्थ किया गया है । अस्तु स्वतन्त्र रूप से उल्लेख न होने के कारण इसे व्यन्जन स्वीकार नहीं किया गया । "एकदेशविवृतमनन्यवद" इस न्यायानुसार ह्रस्व अनुस्वार ही व्यक्तिरूपेय दीर्घत्व तथा प्लुतत्व को प्राप्त होता है । किन्तु उत्पन्न सभी अनुस्वार एक ही होते हैं तीन नहीं । रङ्ग अक्षरसमाम्नाय से विजातीय वर्ण नहीं है बल्कि धर्मविशेष-विशिष्ट रूप अक्षर समाम्नायीय वर्ण शैक्षिकों तथा प्रातिशाख्यकारों द्वारा स्वीकार किया गया है । उसकी धर्मविशेषता अनुनासिकत्व ही है । अस्तु रङ्ग को स्वतन्त्र व्यन्जन रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

सम्प्रति स्वर तथा व्यन्जन की बलवत्ता के विषय में विचार करेंगे । चूंकि स्वर स्वयं उच्चरित होता है[1] इसलिए स्वर को व्यन्जन की अपेक्षा बलवान बताया तथा व्यन्जन स्वर की सहायता से उच्चरित होता है[2] इसलिए व्यन्जन को स्वर की अपेक्षा निर्बल बताया है । परन्तु ऐसी बात नहीं है ।

1- यः स्वयं राजते तत्र स्वरमाह पतन्जलि- पारिशिक्षा

स्वयं राजन्ते नान्येन व्यन्जन इति स्वराः । - तै०प्रा०

स्वयं राजन्ते इतिस्वराः- म०भा० 1•2•29

2- परेण स्वरेण व्यज्यते इति व्यन्जनम् - तै०प्रा० 1•6

यथा - यूप तथा सूप में भी समान स्वर हैं परन्तु व्यञ्जन की भिन्नता के कारण अर्थ भिन्न हो गया । इसलिए व्यन्जन बलवान है । परन्तु दूसरी तरफ विचार किया जाय तो स्वर को उच्चरित होने के लिए किसी के सहायता की आवश्यकता नहीं है । व्यन्जन स्वयं उच्चरित होने के लिए स्वर की अपेक्षा अस्तु निरपेक्षताका स्वर की प्रधानता स्वीकार की गयी है तथा व्यन्जन को स्वर का अङ्ग स्वीकार किया गया है । जिस प्रकार बलवान् नृप सत्वहीन राजा के राष्ट्र का हरण कर लेता है उसी प्रकार स्वर व्यन्जनों को हरते हैं[1] स्वर सूत्रवत् हैं तथा व्यन्जन मणिवत् हैं । यथा मणियों सूत्राधीन होती हैं उसी कार व्यञ्जन स्वराधीन होते हैं[2] । माण्डूकी शिक्षा में भी इसी प्रकार स्वर की प्रधानता स्वीकार की गयी है[3] । नारदीय शिक्षा में यह कथन है कि जहाँ स्वर की प्रधानता है वहाँ व्यन्जन की भी प्रधानता है[4] । अतः स्वर शासक की भाँति प्रधान होता है तथा व्यन्जन शासित की भाँति । स्वर ही शब्द वाक्यनिर्माण में प्रधान कारण है । स्वर कहीं पर व्यन्जन के आगे होकर तथा कहीं पर व्यंजन के पीछे होकर पद, शब्द तथा वाक्य की रचना करता है । व्यन्जनों का जो सौष्ठव दृष्टिगत होता है उसमें स्वर ही हेतु है । शासकत्वात् स्वर अल्प हैं तथा प्रजात्वात् व्यन्जन अधिक हैं । अर्थ वैशिष्ट्य सम्पादनार्थ भी व्यन्जनों को स्वरों का ही अनुवर्तन करना पड़ता है । महाभाष्ये में कहा गया है कि स्वयं प्रकाशित होने से अकारादि स्वरपद से ज्ञेय है । क् ख् ग् इत्यादि वर्ण स्वर का ही अनुवर्तन करते हैं[5] । अम्भत्र व्यन्जन की

1- दुर्बलस्य-यथा राष्ट्रम् हरते बलवान् नृपः ।
एवं व्यञ्जनमासाद्य अकारो हरति स्वरम् ।। - या0शि0{उत्तरार्ध}29,30

2- स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यन्जनन्तेन सस्वरम्
मणिवद् व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत् स्वर ईष्यते ।। -या0शि0{उत्तरार्ध}31

3- मा0शि06·1·3

4- व्यञ्जनान्युनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति स स्वरः

5- स्वयं राजन्ते इतिस्वराः अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति-म0भा01·2·29

तुलना नटभार्या से की गयी है[1]। स्वरों में दूरतर श्रव्यता होने से स्वरों की प्रधानता स्वीकार की गयी है। स्वर की सहायता से ही दूरस्थ किसी जन बुलाया जा सकता है। व्यन्जनों में यह सामर्थ्य नहीं पायी जाती। मात्राओं की न्यूनाधिक्यता भी व्यन्जनों की अपेक्षा स्वरों में ही सम्भव है। उदात्तादि भी स्वर पर ही निर्भर हैं[2]। पतन्जलि ने यह प्रतिपादित किया है कि स्वर विना व्यन्जन का उच्चारण सम्भव नहीं[3]।

किन्तु आधुनिक भाषा वैज्ञानिक इस विचार से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि विश्व में अनेक भाषाओं के अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका स्वर के बिना ही अर्थबोध होता है। इसके अतिरिक्त स ष् ह् इत्यादि का उच्चारण स्वर के बिना ही सम्भव है। अस्तु स्वर व्यन्जन का उच्चारण एक दूसरे के बिना भी कर सकते हैं[4]। यह कथन सर्वथा समीचीन नहीं जान पड़ता क्योंकि भारतीय

1- व्यन्जनानि पुनः नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयम् कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यन्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते ।।- म0भा06•1•2•

2- स्वरः उच्चः स्वरो नीचः स्वर स्वरित एव तु।
स्वरप्रधानं तेस्वर्यमाहुरक्षराचिन्तकाः ।। - भा0शि0 6•।

3- न पुनरन्तरेणाचं व्यन्जनस्योच्चारणं भवति।
अन्वयं स्वल्पि निर्ववनम् अन्वम् भवति व्यन्जनम् ।।- म0भा01•2•30

4- भा0 वि0 - पृ0 339

विद्वानों का यह कथन कि स्वर बिना व्यञ्जन का उच्चारण सम्भव नहीं, उचित ही है क्योंकि यह नियम संस्कृत-भाषा के लिए है न कि अपभ्रंश भाषाओं के लिए। संस्कृत भाषा में कोई भी ऐसा व्यञ्जन नहीं है जिसमें स्वर न हो। यदि इसे अव्याप्ति दोष कहा जाय तो भी यह अनुचित ही है क्योंकि साधुनित्यगुणयुक्त शब्दों का स्वरूप प्रतिपादन ही शास्त्र का लक्ष्य होता है। जिससे भाषा में माधुर्य तथा स्थैर्य का संचार होता है। भाषा सर्वदा एक रूप होती है। जिससे अर्थबोध सरलता पूर्वक हो सकती है। अतः संस्कृत भाषा में संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्मित नियमों अव्याप्ति दोष का आक्षेप उचित नहीं है। यद्यपि कि ज् श ष् इत्यादि व्यञ्जनों का उच्चारण पाश्चात्य भाषाविदों के मतानुसार बिना स्वर के भी सम्भव है। परन्तु अत्यधिक सावधानीपूर्वक उच्चारण करने के बावजूद भी स्वल्प-मात्रिका स्वर ध्वनि अवश्यमेव सुनायी पड़ता है। अतएव पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन पूर्णतया असत्य जान पड़ता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में यह कथन है कि संस्कृत वाङ्मय में अर्द्धमात्रिक व्यञ्जन भी अभीष्ट है[1]। अर्द्धमात्रिक व्यञ्जन का स्वर सहोच्चरित होने पर स्वर का व्यञ्जन में मिश्रण हो जाता है। यथा दुग्ध जल का सम्मिश्रण होने पर दुग्ध का ही प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है। अतएव स्वर की बलवत्ता स्पष्ट है[2]। स्वर व्यञ्जन से बलवत्तर है तथा व्यञ्जन उसका अङ्ग है[3]। व्यञ्जन कदाचित् स्वर का पूर्ववर्ती तथा कदाचित् परवर्ती अङ्ग होता है[4]।

1- व्यञ्जनन्चार्धमात्रिकम् - या०शि०{पूर्वार्द्ध} 16

2- सर्वे स्वराः घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः।

3- व्यञ्जनं स्वराङ्गम् - तै०प्रा० 21/1

4- परस्य व्यञ्जनन्चाङ्गं पूर्वस्याचोऽवसानाम् - व्या०शि०

शैक्षिकों तथा प्रातिशाख्यकारों ने गुणानुसार व्यञ्जन की अनेक संज्ञा प्रदान की है - §1§ स्पर्श §2§ अन्तःस्थ §3§ ऊष्म वर्ण

9- स्पर्श -

यह शब्द स्पृश् स्पर्शे ने धातु से निष्पन्न हुआ है । जिन वर्णों के उच्चारण में उच्चारणावयवों में परस्पर स्पर्श हो उनकी स्पर्श संज्ञा प्रदान की गयी है । इन वर्णों की उच्चारण में मुखस्थ सक्रिय उच्चारणावयव §करण§, निष्क्रिय उच्चारणावयव §स्थान§ का पूर्णरूपेण स्पर्श कर लेता है । जिसके परिणामस्वरूप वायु को कुछ समय के लिए मुख-विवर में रुकना पड़ता है । वायु के अवरोध के पश्चात् स्फोटन होने से इन वर्णों को स्पर्श वर्ण कहा है ।

शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों में ककार से लेकर मकार पर्यन्त व्यञ्जन वर्णों को स्पर्श कहा है । याज्ञवल्क्यशिक्षा में स्पर्श पद से आद्य 25 व्यञ्जन वर्णों का बोध किया है[1]। पाणिनीय शिक्षा में भी ककार से लेकर मकारपर्यन्त 25 वर्णों की स्पर्श संज्ञा दी है[2]। व्यास शिक्षा में ककार से लेकर मकारपर्यन्त वर्णों को स्पर्श संज्ञक कहा गया है[3]। षोडशश्लोकी शिक्षा में भी उपरोक्त कथन का ही अनुवर्तन किया गया है[4]। गौतम शिक्षाकार भी ककार से मकारपर्यन्त व्यञ्जन वर्णों की स्पर्श संज्ञा दी है[5]। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी ककारादि मकारपर्यन्त

1- स्पर्शाः ------------------।। याoशिo§30§25

2- स्पर्शानाम् पञ्चविंशतिः ।। -पाoशिo4/3

3- कादिमान्ताः स्मृताः स्पर्शाः ।। -व्याoशिo7

4- कादयोमान्तिका स्पर्शाः । -षोoश्लोoशिo

5- तत्र ककारादयो मकारान्ताः स्पर्शाःपञ्चविंशतिः।-गौoशिo

व्यन्जन वर्णों को स्पर्श संज्ञक कहा गया है[1]। शैशिरीय शिक्षा में भी प्रारम्भिक 25 व्यन्जन वर्णों की स्पर्श संज्ञा दी है[2]। पारिशिक्षा में भी उपरोक्त मत का अनुवर्तन किया गया है[3]।

प्रातिशाख्यों में भी स्पर्श संज्ञक वर्णों का सम्यक् विवेचन किया गया है। ऋक्प्रातिशाख्यानुसार 25 आद्य व्यन्जन वर्णों की स्पर्श संज्ञा की है[4]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी प्रारम्भिक ककारादि मकारपर्यन्त वर्णों की स्पर्श संज्ञा दी है[5]। वाजसनेयि प्रातिशाख्य भी उपरोक्त कथन से सहमत है[6]।

1- ककारादिमकारपर्यन्ता: स्पर्शा: पंचविंशति:। व०र०पु०शि०।3

2- स्पर्शानां पंचविंशति:। - शै० शि०

3- कखौ गघौ ङ॰ च छ जा झनौ ट ठ ड ढ ण ता: ।
थदौ धनौ पफबभमा स्पर्शा: पंचविंशति: । -पारि शि०

4- तेषामाद्या: स्पर्शा: -ऋ०प्रा०1/7

5- आद्यापन्चविंशतिस्पर्शा: -तै०प्रा०1/7

6- किति खिति गिति घिति ङिति । चिति छिति जिति झिति ञिति । टिति ठिति डिति ढिति णिति । तिति थिति दिति धिति निति । पिति फिति बिति भिति मिति । इतिस्पर्शा: - वा०प्रा०8/8-13

ऋक्तन्त्र में भी ककारादि 25 वर्णों को स्पर्श संज्ञक कहा है[1]। चतुराध्यायी में भी स्पर्श पद का विवरण प्राप्त होता है[2]। किन्तु स्पर्श वर्णों की संख्या के विषय में मौन है। इसकी पूर्ति वर्णपटल में प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि 5 वर्गस्थ 25 वर्णों की स्पर्श संज्ञा है[3]। स्पर्श शब्द का प्रयोग चिरकालीन है। ऐतरेयारण्यक में भी स्पर्श शब्द का विवरण मिलता है[4]। छान्दोग्योपनिषद में भी स्पर्श शब्द का उल्लेख है[5]।

§10§ वर्ग -

स्पर्श वर्णों को 5 वर्गों में रखा गया है[6]। यह विभाजन उच्चारण स्थान के आधार पर किया गया है। एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्ण एक वर्ग में रखे गये हैं। इस प्रकार स्पर्श वर्णों को क्रमशः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग एवं

1- किति खिति गिति घिति ङिति कवर्ग। चिति छिति जिति झिति, ञिति चवर्गः। टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः। तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः। पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः। इतिस्पर्शाः- ऋ0त0 1/2

2- स्पर्शाः प्रथमोत्तमाः, स्पृष्टं स्पर्शानाम् - करणम्। च0अ0 1/6, 29

3- पन्चविंशतिराद्येषा स्पर्शाः वर्गाश्च पन्चकाः। - व0प0 1/8

4- यो वे तां वाचं वेद यस्या एव विकारः स सम्प्रतिविद्विकारो वे सर्वावावसेवा स्पर्शोस्मभिर्व्यज्यमानाः वह्वी नानारूपा भवति। -ऐ0आ0 170

5- सर्वे स्वराः इन्द्रस्यात्मनः सर्व उष्माणः, प्रजापतेरात्मनः सर्वेस्पर्शाः मृत्योरात्मनः।। -छा0उ0 2/22/3

6- स्पर्शानां पन्चपन्चस्युर्वर्गाः। - व्या0शि0

पवर्ग में रखा गया है[1]। ऋक्प्रातिशाख्य में भी आद्य पाँच-पाँच की वर्ग संज्ञा की गयी है[2]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में क्रमशः पाँच-पाँच की वर्ग संज्ञा की है[2]। ऋक्तन्त्र में भी पाँच-पाँच की वर्ग संज्ञा की गयी है[3]।

§1।1§ अन्तःस्थ -

अन्तः मध्ये तिष्ठतीति अर्थात् जो मध्य में स्थित हो । अन्तः पूर्वक स्था धातु से अन्तर्भावी अर्थ में अड्· तथा टाप प्रत्यय करके अन्तःस्थ शब्द की व्युत्पत्ति हुई है । अन्तःस्थ उन व्यन्जनों को कहा जाता है जिनकी स्थिति स्वर और व्यन्जन के मध्यमानी जाती है । अर्थात् ये वर्ण न तो व्यन्जन वर्णों की भाँति पूर्णतः स्वराश्रित होकर ही उच्चरित होते हैं और न तो स्वर वर्णों की भाँति स्वतन्त्र उच्चरित होते हैं । य र ल व ये चार अन्तःस्थ है ।

यद्यपि कि शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों ने अन्तःस्थ शब्द की कई प्रकार से परिभाषा की है फिर भी अन्तस्थ वर्णों के सम्बन्ध में सभी-शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों में मतैक्यता है । शैशरीय शिक्षा में यादि चार वर्णों को अन्तःस्थ संज्ञक कहा गया है[4]। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी यादि चार वर्णों की अन्तःस्थ संज्ञा की है[5]। पाणिनि शिक्षा में कहा गया है कि य र ल तथा व ये चार वर्ण

1- कुचुटुतुपुवर्गास्तदुत्पन्च वर्णसंग्रह । - षो0 श्लो0 शि0 5

2- स्पर्शानामानुपूर्व्येण पन्च पन्च वर्गाः।- तै0 प्रा0

3- ऋ0 त0 1/2

4- चतस्रो यादयोऽन्तस्थाः । - शै0 शि0

5- चतस्रो यादयोऽन्तःस्था - व0र0प्र0शि0 13

अन्तः स्थ संज्ञक है[1]। गौतमी शिक्षा भी उपरोक्त विचारों का ही अनुवर्तन करती है[2]। चान्द्रवर्णसूत्रशिक्षा में भी कहा गया है कि य र ल तथा व अन्तः स्थ संज्ञक है[3]। व्यासशिक्षा का कथन है कि व से उत्तरवर्ती चार वर्णों की अन्तः स्थ संज्ञा होती है[4]। याज्ञवल्क्य शिक्षा में अन्तः स्थ वर्णों को कपिल वर्ण, वैश्य जाति तथा स्त्रीलिङ्ग कहा है[5]।

प्रातिशाख्यों में भी अन्तः स्थ संज्ञक वर्णों सम्यक्तया विवेचन किया गया है। ऋक्प्रातिशाख्य में यह निरूपित किया गया है कि य र ल तथा व इन चार वर्णों की अन्तः स्थ संज्ञा होती है[6]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी य र ल तथा व वर्णों को अन्तः स्थ संज्ञक कहा है[7]। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में अन्तः स्थ पद से य र ल व वर्णों का बोध किया है[8]। ऋक्तंत्र में भी य र ल तथा व वर्णों की अन्तः स्थ संज्ञा दी है[9]। चतुरध्यायिका में यद्यपि कि अन्तः स्थ

1- यवौ रलौ चतस्रोऽन्तस्था: - पारि शि०

2- चत्वारोऽन्तः स्थास्ते यरलवाः - गौ०शि० ।

3- अन्तः स्थाः यरलवाः - चा०व०सू०शि०35

4- अन्तस्थाः वादिवोत्तराः - व्या०शि०4·

5- अन्तः स्था कपिलाः वैश्याः अन्तः स्था तथैव च ।
तथाऽन्तः स्था स्त्रीलिङ्गाः परिकीर्तिताः। - या०शि०{30}1,7,

6- चतस्रोऽन्तः स्थास्ततः । ऋ०प्रा०1/9

7- पराश्चतस्रोऽन्तः स्थाः । तै०प्रा० 1/8

8- अथान्तस्थाः। यिति रिति लिति वित्यन्तस्थाः। वा०प्रा०8/14-15

9- ऋ०त० 1/2

संज्ञक वर्णों का विधान नहीं है फिर भी अन्तः स्थ पद से यरल तथा व वर्णों को ही बोधित किया है[1]। वर्णपटल में भी अन्तः स्थ पद से यरल तथा व वर्णों का बोध किया है[2]। एवंविध दृष्टिगोचर होता है कि अन्तः स्थ संज्ञक वर्णों का प्रयोग शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में समान एवं अतिप्राचीन है। यहाँ तक कि ऐतरेयारण्यक[3] एवं निरुक्त[4] में भी अन्तः स्थ पद प्रयुक्त है।

यद्यपि कि अन्तः स्थ वर्णों के सम्बन्ध में सभी शिक्षा तथा प्रातिशाख्य एकमत हैं। परन्तु इनके उच्चारणस्थान के विषय में एकमत नहीं है। ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट अन्तः स्थ वर्णों का स्थान स्पर्श तथा ऊष्म वर्णों के मध्य माना है[5]। तैत्तिरीय प्रतिशाख्य का वैदिकाभरण जिह्वामध्य से उच्चारण किये जाने के कारण इन्हें अन्तःस्थ मानता है[6]। ऋक्प्रातिशाख्य पदान्त में इनकी स्थिति होने से इन्हें अन्तस्थ मानता है[7]। सिद्धान्तकौमुदी की लक्ष्मीटीका स्पर्श तथा ऊष्म वर्णों के मध्य स्थित होने के कारण इन्हें अन्तः स्थ मानता है[8]।

1- ईषत्स्पृष्टमन्तः स्थानाम्। च0अ01/30

2- चत्वारो यादयोऽन्तस्थाः व0प01/9

3- तस्यैतस्यात्मनः प्राण ऊष्मरूपम् अस्थीनि स्पर्शरूपम् मज्जानः स्वररूपम् मांसं लोहितं इत्येतदन्यच्चतुर्थमन्तस्था रूपम् इति ह स्माह ह्रस्वो माण्डूकेयः ऐ0आ02 4।

4- यद यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तदद्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। निरु02/।

5- स्पर्शोष्मणाम् अन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तः स्था-ऋ0प्रा0{उव्वट} 1/9

6- जिह्वामध्यप्रभृतीनाम् करणानामन्तःअन्यत्वाहारलवाः अन्तः स्थाः इति ज्ञायन्ते -तै0प्रा0{वै0भ0}

7- अन्तेपदान्ते तिष्ठतीत्यन्तः स्थः। - ऋ0प्रा0।3·36

8- स्पर्शस्योष्मणश्च मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तः स्था - सि0कौ038

क से म तक 25 वर्ण स्पृष्ट है, ऊष्म-श ष स ह ये चार अर्ध स्पृष्ट हैं। स्पर्श की दृष्टि स्पृष्ट तथा अर्धस्पृष्ट के मध्य की स्थिति वाले ईषत्स्पृष्ट यरलव चार वर्ण अन्तःस्थाः कहे जाते हैं[1]। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा भी अन्तःस्थ वर्णों को ईषत्स्पृष्ट मानता है[2]। चान्द्रवर्णसूत्र भी अन्तःस्थ वर्णों को ईषत्स्पृष्ट मानती है[3]। अन्तःस्थ पद का कहीं-कहीं स्त्रीलिंग तथा प्रायः पुलिंग में निर्देश है। भाषावैज्ञानिक र ल को अन्तःस्थ नहीं मानते हैं। ये वर्ण स्पृष्ट वर्ण है। इनके अक्षर संघटनाकारी रूप ऋ तथा लृ हैं। अन्तःस्थ को अर्धस्वर या अर्धव्यन्जन भी कहा गया है। इनका उच्चारण स्वर की स्थिति से प्रारम्भ होती है तथा परिणिति व्यन्जन रूप में होती हैं। प्रारम्भ में विवृतत्व और अन्ततः संवृतत्व और स्पृष्टत्व हो जाता है।

§12§ <u>ऊष्म</u> -

ऊष्म वर्ण ऊष्मवायुप्रधान होते हैं[4]। इन वर्णों के उच्चारण के समय वायु वेग की तिव्रता होती है। ऊष्मन् का तात्पर्य गर्मनिःश्वास से है।

1- ईषत्स्पृष्टास्तथाऽन्तःस्थाः - या०शि०2।0

2- अन्तःस्थाः ईषदुत्स्पृशः अर्धस्पृष्टाश्च विज्ञेया ऊष्माणः।

- व०र०प्र०शि०4।

3- ईषत्स्पृष्टत्वमन्तःस्थानाम् - चा०व०सू०26

4- ऊष्मावायुः तत्प्रधानवर्णाः ऊष्माणः। -ऋ०प्रा०1/10 पर उवट भाष्य

श,ष,स,ह इन चार वर्णों की ऊष्मन् संज्ञा होती है। पाणिनीय शिक्षा में शादियों को ऊष्मसंज्ञक माना गया है[1]। आपिशलिशिक्षा सूत्र में तो श ष स ह तथा ᳵक जिह्वामूलीय तथा ᳶप उपध्मानीय वर्णों की ऊष्म संज्ञा दी है[2]। गौतमी शिक्षा में भी ह श ष स वर्णों को ऊष्मपद से बोधित किया है[3]। व्यासशिक्षा में ᳵक जिह्वामूलीय ᳶप उपध्मानीय, श, ष,स,ह इन वर्णों को ऊष्म संज्ञक माना है[4]। शैशरीय शिक्षा में यह कथन है कि श ष स ह वर्ण ऊष्म संज्ञक है[5]। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी श ष स ह की ऊष्म संज्ञा मानी गयी है[6]। याज्ञवल्क्य शिक्षा में शादि ऊष्मसंज्ञक[7] वर्ण तथा माण्डूकी शिक्षा में ऊष्म शब्द का प्रयोग प्रोज्य है[8]।

1- शादयः ऊष्माणः - पा०शि० 4.10

2- अन्तःस्थाभ्यो परे ये वर्णाः षट् ते ऊष्मसंज्ञा भवन्ति- यथा ᳵक श ष स ᳶप ह इति माहिषेय" । जिह्वामूलीयोपध्मानीय श ष सहानां षण्णामूष्मसंज्ञा उक्ताः - आपि० शि०सू० 3.9

3- चत्वारश्चोष्माणस्ते ह श ष साः- गौ०शि० ।

4- जिह्वामूलीयादिहान्ताश्च षडूष्माणः उदीरिताः- व्या०शि०8

5- ऊष्माणश्शादयश्चैव चत्वार इति कीर्तिताः - शै० शि०

6- ऊष्माणः शषसा सहाः - व०र०प्र०शि० 13

7- ऊष्माणाः ऊष्माणोऽस्थाः,ऊष्माणश्च हकारश्च शुद्धाः स्वप्रकीर्तिताः शेषाक्षराणि षण्ढानि प्राहुः लिङ्गविवेकाः ।- या०शि०25,26,27

8- विवृत्तं च स्वरोष्मणाम् - मा०शि० 6/10

प्रातिशाख्यों में भी ऊष्म संज्ञक वर्णों का सम्यक् विवेचन किया गया है। परन्तु सभी प्रातिशाख्य ऊष्म वर्णों की संख्या के विषय में एकमत नहीं है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में श, ष, स ह इन चार वर्णों को ऊष्म संज्ञक माना गया है[1]। ऋक्तन्त्र में भी इन्हीं चार वर्णों को ऊष्म कहा गया है[2]। जबकि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में ≍क, श, ष, स, ≍प तथा ह इन छः वर्णों को ऊष्म संज्ञा प्रदान की है[3]। ऋक्प्रातिशाख्य के मतानुसार अन्तःस्था संज्ञक व्यञ्जनों के बाद में पठित आठ वर्ण ऊष्म कहे जाते हैं[4]। भाष्यकार उवट के अनुसार आठ वर्ण ये हैं - ह, श स, ष अः, ≍क ≍प और अनुस्वार। कातन्त्र में भी शष स ह को ऊष्म संज्ञा प्रदान की है[5]। संस्कृतवाङ्मय में ऊष्म शब्द का प्रयोग चिरकालीन है। ऐतरेयारण्यक में भी व्यञ्जनविशेष ऊष्म का व्यवहार दृष्टिगत होता है[6]। चतुराध्यायिका में यद्यपि कि ऊष्मसंज्ञा की परिभाषा नहीं दी गयी है। फिर भी भाष्यकार ह्विटनी ने श, ष, ष ह विसर्जनीय जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय इन

1- अथोष्माणः। शिति, षिति, सिति, हिति।- वा0प्रा08/16, 17

2- अथोष्माणो हिति, शिति, षिति, सिति योगवाहाः।-ऋ0तं01/2

3- परे षडूष्माणः। - तै0प्रा0 1/9

4- उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः। - ऋ0प्रा01/10

5- ऊष्माणः श ष स हाः - कातंत्र 15

6- पृथिव्याः रूपं स्पर्शाः अन्तरिक्षस्योष्माणो दिवः।

स्वराः अग्ने रूपं स्पर्शाः, वायोरूष्माणः आदित्यस्य।।

-ऐ0आ0259

सात वर्णों को ऊष्म संज्ञक स्वीकार किया है[1]।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में ऊष्म वर्णों की संख्या के विषय में मतैक्यता नहीं है । व्यास शिक्षा तथा आपिशलि शिक्षा ऊष्म वर्णों के अन्तर्गत जिह्वामूलीय एवम् उपध्मानीय को भी स्वीकार करते हैं । परन्तु पाणिनीय एवं गौतमी शिक्षा इसे ऊष्म वर्ण नहीं मानता । इसी प्रकार ऋक्प्रातिशाख्य तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा चतुराध्यायिका जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को भी ऊष्म वर्णों के अन्तर्गत मानते हैं । ऋक्प्रातिशाख्य एवं चतुराध्यायिका में विसर्जनीय को भी ऊष्मसंज्ञक स्वीकार किया है परन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य इसे ऊष्म वर्ण नहीं मानता ऋक्प्रातिशाख्य ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो अनुस्वार की गणना भी ऊष्म वर्णों के अन्तर्गत करता है, जबकि अन्य किसी भी प्राचीन भाषा-वैज्ञानिक ने अनुस्वार को ऊष्मसंज्ञक नहीं माना है । जिह्वामूलीय उपध्मानीय एवं विसर्जनीय के सम्बन्ध में तो यह कहा जा सकता है कि इनके उच्चारण में भी वायुवेग की अधिकता होती है इसलिए इन्हें भी वायु-प्रधान वर्ण मान लिया तथा इन सभी वर्णों के उच्चारण में भी वायु का अवरोध नहीं होता इसलिए इन्हें ऊष्म वर्ण कहना समीचीन है । परन्तु ऋक्प्रातिशाख्य की यह मान्यता कि अनुस्वार भी ऊष्म है यह अत्यन्त चिन्तनयोग्य है । ऊष्मवर्णों के उच्चारण के समय वायु संकीर्ण मार्ग से घर्षण के साथ निकलती है । उच्चारणावयव परस्पर पूर्णतया स्पर्श नहीं करते, न ही वायु का पूर्ण अवरोध ही करते हैं ।

1- ऊष्मणाम्-विवृतञ्च, लकारस्योष्मसु । च०अ० 1/3 । पर ह्विटनीकृत भाष्य ।

स्थान के समीप उपक्रम करने के कारण निःश्वास मार्ग संकीर्ण हो जाता है। निःश्वासवायु घर्षण करती हुई बहिर्निःसृत होती है। इसलिए इन्हें स्पर्श-संघर्षी वर्ण कहते हैं। सीत्कार सदृश होने के कारण इन्हें सीत्कार ध्वनि कहते हैं। वायु की प्रधानता के कारण इन्हें महाप्राण निःश्वासध्वनि कहा जाता है। निःश्वास की संघर्षजन्य ऊष्मता के कारण ये ऊष्मन् हैं[1]।

§13§ सोष्म -

प्रत्येक वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण सोष्म संज्ञक होते हैं[2]। ऊष्माहकारः तेन सहित इति - अर्थात् ऊष्म हकार के सहित उच्चरित होने वाले वर्ण को सोष्म कहते हैं। यद्यपि कि द्वितीय और चतुर्थ वर्ण स्वतन्त्र हैं न कि वर्णसमूह रूप है तथापि द्वितीय वर्ण का उच्चारण प्रथम वर्ण तथा हकार के साथ होता है। एवम् चतुर्थ वर्ण का उच्चारण तृतीय और हकार के साथ होता है। ऋक्प्रातिशाख्य के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं में भी सोष्म संज्ञा के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं है।

1- ध्वनि विज्ञान - डा० हरिशङ्कर त्रिपाठी - पृ० 54

2- युग्मौ सोष्माणौ। - ऋ०प्रा० 13

(14) अयोगवाह -

जिन वर्णों का उच्चारण बिना पूर्ववर्ती स्वर के नहीं हो सकता उन्हें अयोगवाह कहा गया है। किसी स्वर के साथ योग प्राप्त करके ही ये अपना निर्वाह करते हैं। बिना योग के इनका निर्वाह सम्भव नहीं है। अतएव इन्हें अयोगवाह कहा जाता है। जिनका व्याकरणिक प्रत्याहारों में परिगणन नहीं है जो अनुपदिष्ट है तथा भाषा में प्रयुक्त होकर शब्दसंरचना करता है उसे अयोगवाह कहते हैं[1]।

शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों में अयोगवाह के स्वरूप के विषय में मतैक्य नहीं है। कोई योगवाह पद से तथा कोई अयोगवाह पद से बोधित करते हैं। उव्वट ने योगवाह पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो वर्ण अकारादि वर्णों के साथ प्रयुक्त होकर अपनी सत्ता सिद्ध करते हैं उन्हें अयोगवाह कहा गया है[2]। अनन्तभट्ट ने उव्वटकृत अयोगवाह पद की व्याख्या को अमान्य

1- योगवहत्वञ्च इत्थम्। योगेन अकारादिवर्णसमुदायेन सहिताः सन्तः आत्मानञ्च वहन्ते इति योगवाहाः अविद्यमानः योगः प्रत्याहारेषु सम्बन्धः येषां ते अयोगाः अनुपदिष्टत्वाद् उपदिष्टैरगृहीतत्वाच्च। प्रत्याहारसम्बन्धशून्या इत्यर्थः। वाहयन्ति निर्वाहयन्ति प्रयोगमिति वाहाः अयोगश्चेति वाहश्चेति कर्मधारयः। अनुपदिष्टत्वे उपदिष्टैरगृहीतत्वे च सतिश्रूयमाणा इत्यर्थ-सि0कौ0

2- अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः सन्तः एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्तीत्यतश्ययोगवाहाः। - वा0प्रा08/18

घोषित करते हुए अयोगवाह के स्थान पर योगवाह को स्वीकृत किया है । जो अकारादि वर्ण समुदाय सहित अपना वहन करता है, उच्चरित होता है उसे अयोगवाह कहते हैं[1]। किन्तु पाणिनीय शिक्षा में यह कथन है कि जिस वर्णों का वर्णान्तर के साथ संयोग नहीं होता उसे अयोगवाह कहते हैं[2]। महाभाष्य में भी अयोगवाह संज्ञक वर्णों के गणनान्तर इसके स्वरूप के विषय में विचार किया गया है । वर्णसमाम्नाय में जो वर्ण अनुपदिष्ट है उसे अयोगवाह कहते हैं[3]। अनुस्वार अनुनासिक विसर्गादि का प्रयोग पदादि में नहीं होता । विसर्ग का पदान्त में प्रयोग होता है, अनुस्वार और अनुनासिक का नहीं होता है । इससे पराश्रयिता सिद्ध होती है[4]। शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों में जिस प्रकार से अयोगवाह के स्वरूप के विषय में मतैक्य नहीं है उसी प्रकार इसके संख्या के सम्बन्ध में भी । पाणिनीय शिक्षा में अनुस्वार,विसर्ग क जिह्वामूलीय तथा प उपध्मानीय इन चार वर्णों को अयोगवाह संज्ञक स्वीकार किया है[5]। वर्णरत्न प्रदीप शिक्षा में अनुस्वार विसर्ग नासिक्य चार यम (कुं,खुं,गुं, घुं) क जिह्वामूलीय तथा प उपध्मानीय इन नौ वर्णों को अयोगवाह

1- योगवहत्वं चेत्यम् । योगेनाकरादिवर्णसमुदायेन सहिताः सन्तः आत्मानं च वहन्ते इति योगवाहाः । - वा०प्रा० (अ०आ०) 8/18

2- न क्रियते योगः संयोगो वर्णान्तरेण येषां ते अयोगवाहाः ।-

-पा०शि० (पञ्जिकाभाष्य) 22

3- कथं पुनरयोगवाहाः ? यदयुक्ता वहन्ति,अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते इति अयोगवाहाः। - म० भा०

4- संयोगवाहा एवैते निजस्वरविवर्जिता - व०र०प्र०शि०5। अयोगवाह विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः । - पा०शि० 22

5- अनुस्वारो विसर्गश्च कपौ चापि पराश्रयौ । - पा०शि०5

संज्ञा प्रदान की है[1]। ग० भा० शि० सूत्र में भी विसर्जनीय जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य तथा चार यम वर्णों को अयोगवाह संज्ञक माना है[2]। चारणीया शिक्षा ~~शिक्षा~~ में सोलह वर्णों को अयोगवाह संज्ञक[3] तथा पाणिनीय शिक्षासूत्र में आठ वर्णों को अयोगवाह संज्ञक माना है[4]।

उपरोक्त शिक्षाओं में अयोगवाहों की संख्या सम्बन्धी विषमता प्रातिशाख्यों में भी व्याप्त है। ऋक्प्रातिशाख्य में अः विसर्ग, ≍क जिह्वामूलीय ≍प उपध्मानीय तथा अम् अनुस्वार इन चार वर्णों की अयोगवाह संज्ञा प्रदान की है[5]। जबकि वाजसनेयि प्रातिशाख्य में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य तथा चार यम इन नौ वर्णों का अयोगवाह संज्ञा से बोध किया है[6]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी अयोगवाहों की संख्या ग्यारह तथा ऋक्तंत्र में भी अः विसर्जनीय, ≍क जिह्वामूलीय≍प उपध्मानीय, हुँ अनुनासिक, कुँ, खुँ, गुँ, घुँ चार यम तथा अं आं दो अनुस्वार ये दस वर्ण अयोगवाह कहे गये हैं[7]।

1- अनुस्वारो विसर्गश्च नासिक्योऽथ यमस्तथा। जिह्वामूलमुपध्मा च नवैतेस्युः पराश्रयाः। - व० र० प्र० शि० 5

2- विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमाश्च-ग० भा० शि० सूत्र 5

3- अनुस्वारोविसर्गश्च कलपाठः प्लुता यमाः। जिह्वामूलमुपध्यमा च षोडशैते पराश्रयाः।। - चा० शि० 18

4- सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः। ≍क≍पौ कुँ खुँ गुँ घुँ-पा० शि० सूत्र 7·3·5

5- अः ≍क ≍प अम् -ऋ० प्रा० 1·10

6- ≍क इति जिह्वामूलीयः। ≍प इत्युपध्मानीयः। अं इत्यनुस्वारः अः इति विसर्जनीः हुँ इति नासिक्यः। कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इति यमाः। -वा० प्रा० 8·19-14

7- अथायोगवाहाः। अः इति विसर्जनीयः≍क इति जिह्वामूलीय। ≍प इत्युपध्मानीयः। हुमित्यनुनासिकः। अथ यमाः कुं इति खुम् इति गुम् इति घुम् इति अथानन्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। अथानुस्वारो अं आं इत्यनुस्वारो। - ऋ० तं० 1·2

कातन्त्र में भी विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार इन चार वर्णों को अयोगवाह के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है[1]।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि अयोगवाह की संख्या के विषय में शिक्षा तथा प्रातिशाख्य एकमत नहीं है। यद्यपि कि अनुस्वार विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को सभी शिक्षा तथा प्रातिशाख्य एक स्वर से अयोगवाहसंज्ञक मानते हैं परन्तु नासिक्य तथा यम को वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा चारणीय शिक्षा, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य, वाजसनेयि प्रातिशाख्य तथा ऋक्तन्त्र ही अयोगवाह के अन्तर्गत मानते हैं। इसका मुख्य कारण तत्तच्छाखीय उच्चारण स्थान सम्बन्धी भिन्नता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन व्यन्जन प्रकरण के अन्तर्गत किया जा चुका है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में समग्रतया स्वीकृत अयोगवाह अधोलिखित हैं -

अः (विसर्जनीय) ≍क ≍ख (जिह्वामूलीय), ≍प ≍फ (उपध्मानीय) हुँ (नासिक्य) कुँ खुँ गुँ घुँ (चार यम) तथा अं आं (अनुस्वार)।

1- अः इति विसर्जनीयः। ≍क इति जिह्वामूलीयः। ≍प इति उपध्मानीयः अं इत्यनुस्वारः - कातंत्रः 14.19।

(15) विसर्जनीय -

विसर्जनीय ही विसर्ग है । वि पूर्वक सृज सर्गे इस धातु से घञ प्रत्यय करके विसर्ग शब्द की निष्पत्ति हुई है[1]। विसर्ग विसृष्ट होकर पुनः वर्णों से सम्बद्ध नहीं रहता है । इसलिए यह विसर्ग (:) है[2]। वायु के विसर्जन से यह उद्भूत होता है, इसलिए विसर्ग है । तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार के मतानुसार विसर्ग पूर्व स्वरस्थानिक होता है[3]। वाजसनेयि प्रातिशाख्यकार के मतानुसार स्वर के बाद आने वाले विसर्ग की विसर्ग (:) संज्ञा होती है[4]। ऋक्तंत्र में भी विसर्ग पूर्वस्वरान्तस्थानिक होता है[5]। चतुराध्यायिका के अनुसार विसर्ग एक अभिनिष्ट पद है[6]। आश्वलायनगृहसूत्र में भी विसर्ग को अभिनिष्ट नाम से संज्ञापित किया है[7]। हेमचन्द्रशब्दानुशासन में अः को विसर्ग माना गया है[8]। कातन्त्र भी अः को विसर्ग मानता है[9]। सिद्धान्तकौमुदी में भी अः को ही विसर्ग मानता है[10]।

1- "हलश्च" - अष्टा० 3/3/12

2- विसृज्यते पुनः वर्णैः सह न सम्बध्येते इति विसर्गः ।

-का०व्या० पर दुर्ग०सिंहकृत भाष्य 1/1/16

3- पूर्वान्त संस्थानो विसर्जनीयः - तै०प्रा०2/48

4- अः इति विसर्गः - वा०प्रा०2 1/22

5- उरसि विसर्जनीयो वा, वेत्यत्रपूर्वस्वरस्थानिकत्वमपि बोधमिति-ऋ०तं०13

6- विसर्जनीयोऽभिष्टानः - च०अ०1/42

7- अभिनिष्टान्त द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा - आ०गृ०सू०1/13/5

8- अंअः अनुस्वारविसर्गौ-हे०शब्दा० 1/1/9

9- अः इति विसर्जनीयः - का०तं०1/16

10- अष्टा० (सि०कौ०) 1/1/1

अष्टाध्यायी व्याकरण में विसर्जनीय को विसर्ग कहा है[1]। हरिनामामृत व्याकरण[2] तथा मुग्धबोध व्याकरण में[3] भी विसर्ग सम्बन्धी विवेचन किया गया है।

प्रातिशाख्य तथा व्याकरण ग्रन्थों की भाँति शिक्षाग्रन्थों में भी विसर्ग का विस्तृत विवेचन किया गया है। पाणिनीय शिक्षा के मतानुसार विसर्ग विविध रूप से सृष्ट होने से विसर्जनीय कहा जाता है[4]। याज्ञवल्क्य शिक्षाकार के मतानुसार विसर्ग बालवत्स के श्रृङ्ग के सदृश तथा अवयस्क कुमारी के स्तनद्वय के सदृश वर्णान्त विन्दुद्वय को विसर्ग कहा गया है[5]। प्रपञ्चसार में भी उपरोक्त मत का अनुवर्तन करते हुए कहा गया है कि विन्दु सूर्य है और विसर्ग शशि है। अस्तु बिन्दु पुरुष और विसर्ग प्रकृति है[6]। उपरोक्त कथन का अनुवर्तन कातन्त्र में भी किया गया है[7]। याज्ञवल्क्य शिक्षा के मतानुसार विसर्ग बालसर्प के निःश्वास-सदृश होता है[8]। लघुमाध्यन्दिनीशिक्षा के मतानुसार विसर्ग फणिनिःश्वासदृश होता है[9]।

1- खरवसानयोर्विसर्जनीयः -अष्टा० 8/3/15

2- अ इति विष्णुसर्गः- हरि० व्या० 1/16

3- अं अः न्नुर्वी- मु० व्या०

4- विविधं सृज्यते इति विसर्गःऊष्मापरसंज्ञः-पा०शि०{पञ्जिका} 5

5- श्रृङ्गवद्बालवत्सस्य कुमारी कुचयुग्मवत्।

5- उभक्षेपः स्वरो यत्र सविसर्गमुदाहृतः ।। - या०शि०{पूर्वार्द्ध}69·18

6- विन्दुसर्गौ च यौ प्रोक्तौ तौ सूर्यशशिनौक्रमात्।
विन्दुःपुरुष इत्युक्तौ विसर्गः प्रकृतिर्मता ।। -प्रपञ्चसार-3·7,4·19

7- कुमारी स्तनयुगाकृतिर्वर्णो विसर्जनीयसंज्ञो भवति-कातन्त्र पर दुर्गसिंहकृभाष्य 1·1·16

8- बालस्य सर्पस्य निःश्वासो लघुचेतसः।
एवमूष्मा प्रयोक्तव्या हकारपरि वर्जितः।। -याज्ञ०शि०74

9- फणिनिःश्वाससदृशो विसर्गो भवति ध्रुवम् - ल०मा०शि०1·22

शिक्षाओं में प्राय: विसर्ग ऊष्म नाम से प्रसिद्ध है । इसीलिए नारदीया शिक्षा[1] तथा माण्डूकी शिक्षा[2] में विसर्ग को अष्टविध उल्लेख किया गया है।- {1} ओभाव {2} विवृत्ति {3-5} शषसभाव {6} रेफ {7} जिह्वामूलीय {8}उपध्मानीय ।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि प्रातिशाख्य, व्याकरण तथा शिक्षा ग्रन्थ विसर्ग के स्वरूप सम्बन्ध में एकमत है एवं नारदीया तथा माण्डूकी शिक्षा इसे अष्टविध मानते हैं ।

{6} <u>जिह्वामूलीय</u> -

जिह्वामूलशब्द से छ प्रत्यय करने से जिह्वामूलीय शब्द निष्पन्न हुआ है । जो वर्ण जिह्वामूल से उच्चरित होता है । वह जिह्वामूलीय कहलाता है । षोडशश्लोकी शिक्षा के मतानुसार क ख से पूर्व विसर्ग जिह्वामूलीय संज्ञक होती है । यह जिह्वामूलीय अर्ध विसर्ग रूप होता है[3]। विकल्प से इसका लोप का विधान प्राप्त होता है । इसका उच्चारण स्थान जिह्वामूल हैं । पाणिनीय शिक्षा सूत्र में इसे जिह्वय कहा गया है[4]। आपिशलि शिक्षा में भी इसे जिह्वय

1- ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एवच्च ।
जिह्वामुलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण: ।। ना०शि० 2·5·5

2- ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्ट विधोष्मण: ।। मा०शि० 10·4

3- कखत: पफत: पूर्वं क्रमादर्धविसर्गक: ।
जिह्वामूलीयको ज्ञेय उपध्मानीयसंज्ञक: ।। - षो०श्लो०शि० 9

4- जिह्वामूलीयो जिह्वय: -पा०शि०सू० 1·4

कहा गया है[1]। माण्डूकी शिक्षा में भी जिह्वामूलीय का उल्लेख किया गया है[2]। तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुसार भी जिह्वामूल से उत्पन्न होने के कारण जिह्वामूलीय कहा जाता है[3]। यद्यपि कि प्रातिशाख्यों में जिह्वामूलीय के विषय में सविस्तार विवेचन है। परन्तु इसके संख्या के सम्बन्ध में इनमें मतैक्य दृष्टिगत नहीं होता है। ऋक्प्रातिशाख्यानुसार ऌकार ॡकार ᳵक तथा कवर्ग ये सभी जिह्वामूलीय होते हैं[4]। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में ऋकार तथा कवर्ग जिह्वामूलीय कहा गया है[5]। वाजसनेयि प्रातिशाख्य जिह्वामूलीय का करण हनुमूल मानता है[6]। अथर्व-प्रातिशाख्य भी उपरोक्त कथन का समर्थन करता है[7]। सिद्धान्त कौमुदी में भी जिह्वामूलीय का उच्चारण स्थान जिह्वामूल माना गया है[8]। कातंत्र में इसे वज्राकृति वर्ण भी कहा गया है[9]। इसका अंकन ᳵक ᳵख रूप में होता है। इसका

1- कवर्गवर्णानुस्वारजिह्वामूलीयाः जिह्व्याः एकेषाम्। -आपि०शि०सू०2·5

2- "जिह्वामूलम्" - मा०शि०।०/4

3- जिह्वामूलीय जिह्वामूलेन जन्यत्वात् - तै०प्रा० {वै०आ०}2।35

4- ऋ०प्रा०1·41

5- ऋ कौ जिह्वामूले। - वा०प्रा० 1/65

ᳵक इति जिह्वामूलीयः - वा०प्रा० 8/19

6- जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन - वा०प्रा० 1/83

7- जिह्वामूलीयानां हनुमूलम् - अ०प्रा० 1/20

8- जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् - सि०कौ० 1/19

9- वज्राकृतिवर्णो जिह्वामूलीयसंज्ञो भवति - दुर्गसिंह, कातंत्र

उच्चारण ख सदृश होता है ।

(17) उपध्मानीय -

उप उपसर्ग पूर्वक ध्मा धातु से अनीयर प्रत्यय करने से उपध्मानीय शब्द निष्पन्न हुआ है । षोडशश्लोकीशिक्षा के मतानुसार प फ से पूर्व विसर्ग उपध्मानीय संज्ञक होता है[1]। उपध्मानीय भी अर्ध विसर्ग रूप है, जो विकल्प से उच्चरित होता है । यह फ के समान उच्चरित होता है । मुग्ध बोध के मतानुसार इसका सर्प के श्वास के सदृश उच्चारण होता है[2]। अर्थात् फूंक या वायुप्रक्षेप से इसका उच्चारण होता है । इसलिए इसे उपध्मानीय कहा जाता है[3]। याज्ञवल्क्य शिक्षानुसार अधरोष्ठ में ऊपरी दन्तपंक्ति के स्पर्श के पश्चात् वायुप्रक्षेप ध्मान या फूंक मारकर ध्वनि का उच्चारण होता है[4]। चान्द्रवर्णशिक्षासूत्र में भी उपरोक्त कथन का अनुवर्तन मिलता है[5]। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में प को उपध्मानीय माना गया है[6]। ऋक्तन्त्र भी ×प को उपध्मानीय माना है[7] तथा इसका उच्चारणस्थान ओष्ठ को माना है[8]। कातन्त्र के मतानुसार उपध्मानीय का उच्चारण स्थान ओष्ठ है तथा

1- क ख तः प फ तः पूर्व क्रमादर्ध विसर्गकः जिह्वामूलीयको 1/1/17 ज्ञेयः उपध्मानीय संज्ञकः ।। - षो० शि०

2- सर्पश्वासवदुच्चारणम् - दुर्गादास मुग्धबोध 20 ।

3- उपध्मानीयः उपध्मानेन जन्यत्वात्-वैदिकाभरण- तै०प्रा० 2/18

4- अष्टौ ओष्ठ्याः उवर्णकारोपध्मानीयपवर्ग इति-याज्ञ०शि०

5- ओष्ठौ उपध्मानीययोः - च० व०सू० ।

6- प इत्युपध्मानीयः - वा०प्रा० 8/20

7- ऋक्तंत्रम् 1/2

8- ओष्ठे वा प-ऋक्तंत्रम 9।

यह एक गजकुम्भाकृति वर्ण है[1]। यह नादविहीन श्वास है जो परवर्ती वर्ण पर आश्रित है ।

(18) <u>अनुस्वार</u> -

"अनु" उपसर्ग पूर्वक स्वृ धातु से घञ् प्रत्यय के योग से अनुस्वार की निष्पत्ति हुई है । अनु पश्चात् अन्यवर्णानन्तरं, स्वर्यते उच्चार्यते इत्यनुस्वारः अर्थात् वह वर्ण जिसका उच्चारण अन्य वर्ण के पश्चात् होता है । पाणिनीय शिक्षा में भी कहा गया है कि अनुस्वार किसी स्वर के बाद आने वाला वर्ण है[2]। चारायणीय शिक्षा भी अनुस्वार की गणना सोलह पराश्रित वर्णों के अन्तर्गत की है । इस शिक्षा के मतानुसार ये सभी वर्ण अशरीरी है तथा अपने आश्रयभूत किसी स्वर के माध्यम से अपने स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं[3]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मतानुसार अनुस्वार के पश्चात् का आधा भाग स्वर के सदृश उच्चरित होने से अनुस्वार कहलाता है[4]। वाजसनेयि प्रातिशाख्यानुसार भी अं अनुस्वार है[5]। ऋक्तन्त्र अं आं को अनुस्वार मानता है[6]। उपरोक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि

1- उपध्मानीयस्योच्चारणस्थानमोष्ठः।
गजकुम्भाकृतिवर्णः उपध्मानीयसंज्ञो भवति- दुर्गसिंह कातंत्र ।

2- "अनु-स्वृशब्दे" घञ् अनुपश्चात्-स्वरानन्तरमुच्चार्यते इति । स्वरमनु संलीन स्वर्यते शब्द्यते इत्यनुस्वारः। स्वरमनुभवतीत्यनुस्वारः ।
-पा०शि० 1/5 पर पञ्जिकावृत्ति

3- अनुस्वारो विसर्गश्च कंपाठः प्लुताः यमाः। जिह्वामूलमुपध्मा च षोडशैते पराश्रयाः। अशरीरास्तु ये वर्णा विज्ञेयास्तु पराश्रयाः। अन्यं वर्णं समाश्रित्यं दर्शयन्ति निजं वपुः। - चारा०शि० 1/1

4- अनुस्वर्यते पश्चार्द्धे स्वरवदुच्चार्यते इत्यनुस्वारः। -तै०प्रा० 1/18 पर वैदिकाभरणभाष्य

5- अं इत्यनुस्वारः वा०प्रा० 8·2।

6- अथानुस्वारौ अं आं इत्यनुस्वारौ- ऋ०तं० 1/2

शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों के मतानुसार स्वर के आश्रित होकर उच्चरित होने वाला अनुस्वार कहलाता है । वर्णमाला में अनुस्वार "ं" से अंकित करते हैं । अनुस्वार के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन दशम अध्याय में किया जायेगा ।

(19) <u>अनुनासिक</u> -

अनु उपसर्ग पूर्वक णासृ शब्द से अचि प्रत्यय करने से नासा शब्द निष्पन्न होता है । तदनन्तर कनि प्रत्यय करने से अनुनासिक शब्द की व्युत्पत्ति होती है । जो वर्ण नासिका के पश्चात् उच्चरित होता है । उसे अनुनासिक कहते हैं । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मतानुसार जो वर्ण नासिका का अनुवर्तन करता है वह अनुनासिक कहा जाता[1] । इस प्रातिशाख्य के अनुसार अनुनासिक वर्णों का उच्चारण मुख और नासिका दोनों के सहयोग से होता है[2] । वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी यही कथन है कि अनुनासिक वर्णों के उच्चारण में मुख के साथ-साथ नासिका का भी योगदान आवश्यक है[3] । चतुरध्यायिका[4] तथा पाणिनीय शिक्षा सूत्र[5] में भी कथन है । कि मुख तथा अनुनासिक दोनों के सहयोग से अनुनासिक उच्चरित होता है । ऋक्प्रातिशाख्य के मतानुस्वार जो वर्ण अपने स्थान के साथ-

---

1- नासिकामनुवर्तन्त इत्यनुनासिका: - तै0प्रा0 2/30 पर त्रि0

2- नासिकाविवरणादानुनासिक्यम् । - तै0प्रा0 2/52

3- मुखनासिका करणोऽनुनासिक: । - वा0प्रा0 1/75

4- अनुनासिकानां मुखनासिकम् । - च0अ0 1/27

5- मुखनासिकावचनोऽनुनासिक: । - पा0शि0सू0 1/1/8

साथ नासिका से उच्चरित होता है उसे अनुनासिक कहते हैं[1]। शिक्षा तथा प्राति-शाख्यों में अनुनासिक का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है । प्रथम वर्गों के अन्तिम वर्णों के रूप में, द्वितीय स्वर वर्णों के विशेषण के रूप में तथा तृतीय रेफव्यतिरिक्त अन्तस्थ वर्णों के विशेषण के रूप में वर्ग के अन्तिम वर्ण के लिए सभी शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में किया गया है । ऋक्प्रातिशाख्य में वर्गों के अन्तिम वर्ण को अनुनासिक कहा गया है[2]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी उत्तम वर्ण को अनुनासिक कहा है[3]। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कथन है कि वर्गों के जो अन्तिम वर्ण हैं वे उत्तम होते हैं और वे उन्हें ही अनुनासिक कहते हैं[4]। ऋक्तन्त्र[5] तथा चतुराध्यायिका[6] में भी अन्तिम वर्णों को अनुनासिक कहा है । नारदीय शिक्षा[7] में ङ ञ ण न म को उत्तम कहा गया है तथा उत्तमों को ही अनुनासिक कहा है । व्यास शिक्षा में भी उत्तम पद से अनुनासिक का उल्लेख किया गया है[8]। याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी अनुनासिक का उल्लेख मिलता है[9]।

1- नासिकामन यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिकः

-ऋ०प्रा० 1/14 पर उवट भाष्य

2- अनुनासिकोऽन्त्यः । - ऋ०प्रा० 1/14

3- अनुस्वारोत्तमानुनासिकाः । - तै०प्रा० 2/30

4- अनुनासिकाश्चोत्तमाः । - वा०प्रा० 1/89

5- अन्त्योऽनुनासिकाः । - ऋ०त० 2/17

6- उत्तमानुनासिकाः । - च०अ० 1/11

7- "उत्तमोश्चैव"- उत्तमाः ङकारादयः ।। -ना०शि०2/5/10

8- पञ्चमस्योत्तमः क्रमात्" -व्या०शि०10

9- या०शि० {उत्तरार्ध} पृ० 25

द्वितीय स्वर के विशेषण के रूप में अनुनासिक का प्रयोग ऋक्प्रातिशाख्य में अनेकशः प्राप्त होता है[1]। इसमें यह कथन है कि अनुनासिक स्वर से पूर्व उच्चरित होता है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में यह विधान किया गया है कि जिन वर्णों के उच्चारण में नासिका की अपेक्षा की जाती है। वे वर्ण अनुनासिक संज्ञक है[2]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में यह विधान किया गया है कि नकार जब रेफ, ऊष्मवर्ण अथवा यकार में परिवर्तित होता है तब पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है[3]। चतुरध्यायिका में यह कथन है कि नकार तथा मकार के लोप होने पर पूर्वस्वर अनुनासिक हो जाता है[4]। तृतीय अन्तस्थ वर्णों के विशेषण के रूप में अनुनासिक का प्रयोग ऋक्प्रातिशाख्य में किया गया है। इसमें यह विधान किया गया है कि जब मकार के बाद रेफ के अतिरिक्त कोई अन्तःस्थ वर्ण आता है तभी अन्तस्थ वर्ण की सन्धि में मकार अनुनासिक में परिवर्तित हो जाता है[5]।

1- अष्टावाद्यानवसाने प्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान्स्वरान् - ऋ0प्रा01/63
सचादयो या विहिता विवृत्तयः प्लुतोपधान्ता अनुनासिकोपधाः।- ऋ0प्रा02/67

2- नकारस्य लोपरेफोष्मभावे पूर्वस्तस्थानादनुनासिकः स्वरः।
-ऋ0प्रा04/80, 5/26, 9/10, 10/10, 14/9

2- वा0प्रा0 4/53

3- नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्यते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः।-
-तै0प्रा015/1

4- नकारमकारयोः लोपे पूर्वस्यानुनासिकः। -च0अ01/67

5- अन्तस्थासु रेफवर्जं परासु तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु।-ऋ0प्रा04/7

वाजसनेयि प्रातिशाख्य[1] तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[2] में भी यह विचार किया गया है कि अन्तस्थों के मध्य स्थित नकार मकार का अन्तस्थ अनुनासिक हो जाता है । चतुरध्यायिका में भी कथन है कि लकारों के मध्य में नकार मकार होने पर परवर्ती लकार का अनुनासिक हो जाता है[3] । रेफ के अतिरिक्त अन्य अन्तस्था वर्ण य ल् ल के उच्चारण में कोमलतालु थोड़ा नीचे झुककर जब वायु को नासिका-विवर से निकलने के लिए मार्ग प्रदान करता है, तब ये वर्ण अनुनासिक उच्चरित होता है ।

शिक्षाग्रन्थों में वर्णसम्नाय में यद्यपि कि अनुनासिक का गणना की गयी है परन्तु इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है । वर्णसमाम्नाय में अनुनासिक को "ँ" से अंकित करते हैं ।

(20) नासिक्य -

प्रातिशाख्यों में नासिक्य को स्वतन्त्र वर्ण माना गया है । वाजसनेयि प्रातिशाख्य हुँ को नासिक्य मानता है[4] । ऋक्तन्त्र में भी हुँ को माना गया है[5] । चतुरध्यायिका नासिक्य को हकार के साथ स्वीकार करते हैं[6] ।

1- अन्तःस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानाम् । -वा0प्रा04/10

2- अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम् । -तै0प्रा05/28

3- उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिकः । - च0अ02/35

4- हुँ इति नासिक्यः । - वा0प्रा0 8/23

5- हुमित्यनुनासिकः । - ऋ0 तं0 2

6- हकारान्नासिक्येन - च अ0 1/100

ऋक्प्रातिशाख्य ने क़ो नासिक्य तथा साथ ही यम कँ खँ गँ घँ एवं अं अनुस्वार को भी नासिक्य कहा है[1]।

§2।§ यम -

"यम्" धातु से नियन्त्रण करना इस अर्थ में घञ् प्रत्यय करने से यम शब्द की व्युत्पत्ति होती है। यम का तात्पर्य नियन्त्रण है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य "विच्छेद" को यम का अर्थान्तर मानता है[2]। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में कथन है कि अननुनासिक एवं अनुनासिक स्पर्श का संयोग होने पर दोनों वर्णों के मध्य द्वित्व का आगम होता है। इसमें द्वितीय अर्थात् पञ्चम स्पर्श से अव्यवहित पूर्व उच्चरित होने वाला नासिक्य वर्ण यम कहा जाता है[3]। ऋक्प्रातिशाख्य के मतानुसार अननुनासिक स्पर्श अपने यम को प्राप्त होता है यदि बाद में अनुनासिक स्पर्श हो[4]। इसीप्रकार सभी प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में यम के विषय में सम्यक् विवेचन किया गया है जिसका दशम अध्याय में सविस्तार प्रतिपादन किया जायेगा। अभी यमसंज्ञक वर्णों का प्रतिपादन किया जायेगा। वाजसनेयि प्रातिशाख्य

1- इति नासिक्यः। कँ खँ गँ घँ इत्यादयो यमाः।
अं इत्यनुस्वारः। एते नासिक्याः। - ऋ0प्रा0

2- विच्छेदो यम इत्यनर्थान्तरम्। - वा0प्रा0 4/163 §उ0भा0§
विच्छेदो यम इति पर्यायः। - वा0प्रा04/163 §अनन्त भट्ट§

3- स्वरात्संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः तस्यैव यम संज्ञ स्यात्
पञ्चमैरन्वितो यदि। - व0र0प्र0शि0 175

4- स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु।
- ऋ0प्रा06/29 ।

कुं खुं गुं घुं -इन चार वर्णों को यम संज्ञक माना है[1]। ऋक्तन्त्र भी कुं खुं गुं घुं को ही यम कहा है[2]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[3] तथा चतुरध्यायिका[4] में भी उपरोक्त चार वर्णों को ही यम संज्ञक स्वीकार किया गया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा कुं खुं गुं घुं इन चार को ही यम संज्ञक वर्ण मानती है[5]। पाणिनीय शिक्षा में भी उपरोक्त चार वर्णों को ही यम स्वीकार किया गया है[6]। वर्णरत्नप्रदीपिकाशिक्षा में भी कुं खुं गुं घुं-इन चार वर्णों को ही यम संज्ञक मानती है[7]। गौतमी शिक्षा में भी उपरोक्त चार वर्णों को ही यम संज्ञक माना है[8]। शैशरीय शिक्षा भी उपरोक्त चार वर्णों को यम कहा है[9]। षोडशश्लोकी शिक्षा[10] आदि अन्य शिक्षाओं में भी उपरोक्त चार वर्णों को ही यम संज्ञक माना गया है। किसी-किसी शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में यमों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। जिसका सम्यक्तया विवेचन दशम अध्याय में किया जायेगा।

1- कुं खुं गुं घुं इति यमाः। -वा0प्रा08/24

2- कुं इति, खुं इति, गुं इति, घुं इति यमाः। -ऋ0तं0

3- तै0प्रा0 1/1 पर त्रिभाष्यरत्न एवं वैदिकाभरण

4- च0अ0 1/26 पर ह्विटनीकृत-व्याख्या

5- चत्वारो यमाः कुं खुं गुं घुं इति - या0शि0 2।2

6- चत्वारश्च यमाः स्मृताः-पा0शि038

7- कुं खुं गुं घुं इति च ते चत्वारो नात्र पञ्चमः ।। व0र0प्र0शि027

8- यमास्ते कुं खुं गुं घुं इति - गौ0 शि0 2

9- चत्वारश्च यमाः स्मृताः ।। - शै0 शि0

10- यमाः चत्वारः - षो0 श्लो0 शि0 2

(तृतीय अध्याय)

वर्णोच्चारण काल:

वर्णोच्चारण में लगने वाले समय की इकाई को वर्णोच्चारण काल कहते हैं। यद्यपि कि वर्णों के उच्चारण में यथेच्छ शीघ्रता या विलम्ब वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है। फिर भी "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति" इस श्रुति वाक्य के प्रतिपादनार्थ शिक्षा ग्रन्थों में वर्णों के कालसम्बन्धी नियमों का सम्यक् विवेचन किया गया है। वस्तुतः शिक्षा ग्रन्थों में काल सम्बन्धी नियमों का यह विवेचन मध्यावृत्ति को प्रमाण मानकर किया गया है[1]।

मात्रा का मानक-तत्त्व-

उच्चारण में लगने वाले काल के परिमाण को मापने का कल्पित मान मात्रा है। काल की सूक्ष्मतम इकाई अणु है[2]। अणु सूर्यरश्मिप्रतीकाशा कणिका

1- शीघ्रं विलम्बितं मध्यं तिस्रो वाक्यस्य वृत्तयः।
मध्यमां वृत्तिमालम्ब्य एवं कालः सुनिश्चितः।।
प्रातिशाख्यादिषु ह्यत्र वृत्तिस्सा व्यवलम्बिता।।-व्या०शि०। मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य मया चेयं श्रुतिःकृता।प्रातिशाख्यं निषिद्धान्ये यस्मात्तस्मैव बोध्यते।
(का०न०शि०)

2- इन्द्रियाविषया योऽसावणुरित्यभिधीयते - शंभुशि०46।
कालोऽतिसूक्ष्मकोऽणुः स्यात् -व्या०शि०26·2।

है । सूर्यरश्मिप्रतीकाशा कणिका अणुरूपा है । चार अणुओं का कालभार मात्रा कहलाता है[1]। वर्णोच्चारण के समय वर्ण की अणुमात्रा मनस में, द्वितीयाणुमात्रा कण्ठ में, तृतीयाणु मात्रा जिह्वाग्र पर और चतुर्थाणु निस्सरण में होती है[2]। एक मात्रिक वर्णह्रस्व द्विमात्रिक दीर्घ तथा त्रिमात्रिक प्लुत कहा जाता है[3]। शिक्षा ग्रन्थों में मात्रा के कालभर का मानक अक्षिपक्ष्मनिमेष, अक्षिस्पद, विद्युत-स्पंद चाष{नीलकंठ} स्वर, अंगुलिस्फोट अवर्णकाल, ऋवर्ण काल, छकाल, शकाल तथा उकाल कहा गया है[4]।

1- सूर्यरश्मिप्रतीकाशा कणिका यत्र दृश्यते ।
अणुत्वस्य तु सा मात्रा च चतुराणवत् ।। लो०शि० 7.7 ।

2- मानसे चार्णवं विद्यात् कण्ठे विद्यात् द्विराणवत् ।
त्रिराणवं तु जिह्वाग्रे निःसृतं मात्रिकं विदुः ।। लो०शि०7.8

3- एक मात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते । त्रिमात्रस्तु
प्लुतो ज्ञेयो व्यन्जनं चार्धमात्रिकम् ।। व०प्र०शि०23 ।

4- निमेषोमात्राकालः स्यात् विद्युत् कालस्त थापरे । - ना०शि०2.3.।
निमेष काला मात्रा स्याद विद्युत् कालेति चापरे ।
ऋक् स्वरा तुल्य योगा वा मतिः स्यात् सोमशर्मणः ।।

ना०शि०2.3.8

अंगुलिस्फोटनं यावान् तावान् कालस्तुमात्रिकः। - व्या०शि०26.3
अक्ष्णयोर्निमेषमात्रेण यो वर्णः समुदीर्यते ।
स एकमात्रो द्विस्तावान् दीर्घस्तु प्लुत उच्यते ।- मा०शि०।36

घाणस्थध्वनि द्विमात्रिक, शिखीध्वनि त्रिमात्रिक होती है[1]।

शिक्षा ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों के अनुशीलन से मात्रा सम्बन्धी निम्नलिखित चार प्रकार के तथ्य स्पष्ट होते हैं - ﴾1﴿ स्वर-वर्णों का उच्चारण-काल, ﴾2﴿ व्यन्जन वर्णों का उच्चारण-काल, ﴾3﴿ विराम वर्णों का काल एवं अनुस्वार का उच्चारण काल। काल निर्णय शिक्षा में मात्रा-विचारार्थ अखण्डवर्ण-विषय, वर्णांश विषय तथा विराम विषय-तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है[2]। अखण्डवर्णविषय को स्वरमात्राविचार और वर्णांशविषय को व्यन्जनमात्राविचार कह सकते हैं। विराम विषय को छः वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - ﴾1﴿ दो वर्णों के बीच का अन्तराल ﴾2﴿ विवृत्ति ﴾3﴿ यति ﴾4﴿ अर्ध विराम ﴾5﴿ विराम ﴾6﴿ आत्यन्तिक विराम।

<u>स्वरों का उच्चारण-काल -</u>

उच्चारण-काल के आधार पर स्वरों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में रखा गया है। ﴾1﴿ ह्रस्व-स्वर- जिन स्वरों के उच्चारण में सबसे कम समय लगता है, वे "ह्रस्व" स्वर कहलाते हैं।

1- चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेववायसः।
शिखी रौति त्रिमात्रं मात्रणामिति स्थितिः। - याज्ञ०शि०16 लो०शि०7·9
चाषस्तु वदते ----------शिखी त्रिमात्रं विज्ञेय एषमात्रापरिग्रहः॥ माण्डू०शि०
चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रंत्वे वायसः।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम्। - पा०शि०49
ओजाह्रस्वा सप्तमान्ताः स्वराणामन्ये दीर्घाः।-ऋ०प्रा०2·19
मात्रा ह्रस्वः। - ऋ०प्रा०1/27

2- अखण्ड वर्णविषयो वर्णांशविषयोऽपि च। विरामविषयश्चेति त्रिविधः काल उच्यते। अखण्डवर्णाः स्वराः अनङ्गत्वात् वर्णांशविषयो व्यन्जनविषयः॥

(2) दीर्घ-स्वर - जिन स्वरों के उच्चारण में उससे अधिक समय लगता है, उन्हें "दीर्घ" स्वर कहा जाता है । तथा (3) प्लुत स्वर - जिन स्वरों के उच्चारण में सर्वाधिक समय लगता है वे "प्लुत" स्वर कहे जाते हैं ।

(1) ह्रस्वर-स्वर का उच्चारण काल-

अ इ उ तथा लृ ह्रस्व-स्वर कहलाते हैं । ह्रस्व स्वर एकमात्रिक होते हैं[1] । अ[2], उ तथा ऋ[3] एकमात्रिक के मानक के रूप में स्वीकार किये गये हैं । ह्रस्व स्वर एक मात्रिक होकर भी संयोग पर, अनुस्वार पर, पदान्त तथा संयुक्त प्रदाय -इन स्थितियों पर दीर्घवत् उच्चरित होते हैं[4] ।

1- एकमात्रो भवेद् ध्रस्वः । - व0प्र0 शि0 -22 । एकमात्रिको ह्रस्वः ।
एकमात्रो ह्रस्वः । - अ0 प्रा0 1·59 । अमात्रस्वरो ह्रस्वः मात्रा च ।
वा0प्रा0 1·59

2- उकालोज्झ्रस्वदीर्घप्लुताः - पा0 1·2·27 ।

3- ऋक्स्वरा तुल्ययोगा वा । - ना0शि0 2·8 ।

4- ह्रस्व लघु । संयोग गुरू । दीर्घञ्च - पा0 1·4·10-12 ।
ह्रस्वंल्ह वसंयोगे । गुर्वन्यत् - अ0प्रा0 1·51·52
संयोगपूर्वव्यञ्जनान्तावसानगताः स्वराः द्विमात्राः । - वा0प्रा0 4·109
स्वरा संयोगपूर्व ये व्यञ्जनान्तस्तथान्तगाः ।
एषां कालो द्विमात्रः स्यान्न तु दीर्घा हि ते स्मृताः ।।
-व0प्र0शि0 १0

§2§ दीर्घ-स्वर का उच्चारण काल-

आ, ई, ऊ, तथा ॡ दीर्घ स्वर कहलाते हैं तथा ए, ओ ऐ और सन्ध्यक्षरों को भी दीर्घ स्वर कहा जाता है । दीर्घ स्वर द्विमात्रिक होते हैं । दीर्घस्वर ह्रस्वस्वरों के मात्रा वृद्धि के परिणाम हैं[1] । ए ऐ में पूर्वांश अ-आ तथा उत्तरांश इ है । ओ औ में पूर्वांश क्रमशः अ-आ तथा उत्तरांश उ है[2] । ए ओ प्रश्लिष्ट वर्ण तथा ऐ औ विवृत्तर वर्ण है[3] । तैत्ति० प्रा० में अकार की आधी तथा "इ उ" की डेढ़-डेढ़ मात्रा मानता है[4] । इसी तरह ऐ औ में भी उव्वट में

1- मात्रा सह भवेद् दीर्घं ह्रस्वं मात्रां विना भवेत् । - पा०शि०5 ।

ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति वा कालतो नियमा अचि । पा०शि० ।। ।

द्वि मात्रो दीर्घः । - च०अ० 1/61, द्वे दीर्घे । - ऋ०प्रा० 1/29

2- आद्या मात्रा तु कण्ठस्य एकारौकारयो भवेत् ।

तालव्यस्यत्तथौष्ठस्य द्वितीया च यथाक्रमम् ।। - याज्ञ०शि०2·20

अर्धमात्रा तु कण्ठस्य एकारौकारयो भवेत् - ब०प्रा०शि०35 ।

एकसैकारयोस्त्वर्धमात्रा कण्ठ्यस्य भवेत्- प्र०शि० ।

3- प्रश्लिष्टवर्णौ एतौ §ए ओ§ विवृततरार्णौ एतौ- §ऐ औ§ - महाभाष्य-1·1·4

4- अकारार्द्धमैकारौकारयोरादिः । तै०प्रा02·26

संवृतकरणमेकेषाम् । - तै०प्रा० 2·27

इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः । -तै०प्रा० 2·28 ।

उकारस्तूत्तरस्य । - तै० प्रा० 2·29

"अ" की आधी तथा डेढ़-डेढ़ मात्रा एकार और ओकार की मानी है[1]। कालनिर्णय शिक्षा ने यह मात्रा विभाजन एक और एक का माना है[2]। वस्तुतः ऐ औ को आ-इ को आ उ से विकसित मानकर इसमें डेढ़-डेढ़ पूर्वांश तथा आधी-आधी उत्तरांश में माना जा सकता है, किन्तु इससे बचने के लिए ही पूर्वांश की एक तथा उत्तरांश की एक मात्रा माना है।

(3) प्लुत-स्वर का उच्चारण-काल -

आ 3, ई 3, ऊ3, ॠ 3, लृ 3, ए 3, ऐ3, ओ 3, तथा औ 3 प्लुत स्वर कहलाते हैं। प्लुत-स्वर त्रिमात्रिक होते हैं[3]। लोमशी शिक्षा में प्लुत के लिए "वृद्ध" संज्ञा का प्रयोग किया गया है[4]। "वृद्ध" स्वर त्रिमात्रिक होता है[5]।

1- अत्रकेचिदाहुः अकारस्य अर्धमात्रा एकारस्याध्यर्धा एकारे। अकारस्यार्धमात्रा ओकारस्य अध्यर्धमात्रा ओकारे। - उव्वटः।

एकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वामात्रा ताल्वोष्ठयोरुत्तरा।

- वा०प्रा० 1.73।

2- एकारौकारयोरादौ अकारोऽप्येकमात्रकः इववर्णौवर्णयोः शेषौ भवेतामर्धमात्रकौ॥

- का०नि० शि० 6।

3- तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः। ऋ०प्रा० 1/30

त्रिः प्लुतः। - तै०प्रा० 1/36। त्रिमात्रः प्लुतः। - च०अ० 1/62

4- ह्रस्वं दीर्घं तथा वृद्धमभिगीतं तु सामगाः। -लो० शि० 2

5- तिस्रो वृद्धम्। - ऋ०तं० 44।

कतिपय शिक्षा ग्रन्थों में स्वर वर्णों के उपर्युक्त तीन प्रकार के उच्चारणों के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार के उच्चारण का सङ्केत मिलता है। पाराशरी शिक्षा में अर्द्धदीर्घ के लिए "क्षिप्र" शब्द का प्रयोग किया गया है। कोई अन्तर नहीं है[1]।

व्यन्जन-वर्णों का उच्चारण-काल

शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में व्यन्जन को अर्धमात्राकालिक कहा गया है[2]। अथर्वप्रातिशाख्य तथा ऋक्तंत्र व्यन्जन का काल विकल्प के साथ अर्धमात्रिक या एक मात्रिक मानते हैं[3]। नासिक्य तथा संघर्षी व्यन्जनों का काल अन्य

1- क्षिप्रं दीर्घं समाख्यातमङ्गुल्यामेकमन्तरम्। दीर्घस्यार्द्धं भवेत् क्षिप्रं नास्ति दीर्घस्य दीर्घता। यथा संख्या तु दीर्घस्य तथा चोष्मा प्रकीर्तिता:ऊष्मा दीर्घं समत्वं च क्षिप्रं कुर्यात्-तदर्धकम्।। - परा०शि027

मात्रा सह भवेत् दीर्घं ह्रस्वं मात्राविना भवेत्। - परा०शि0 25;

2- व्यन्जनन्चार्धमात्रिकम्। - व०प्र०शि0-22।

ह्रस्वार्धकालं व्यन्जनम्। - मल्लशर्म शि0, अमरेशी 22/याज्ञ०शि01·16।

3- व्यन्जनमर्धमात्रा, तदर्धमणु। परमाण्वर्धाणुमात्रा - वा०प्रा02·59-6।

3- एकमात्रो ह्रस्व:। व्यन्जनानि च। - अ०प्रा० 1·59-60

मात्रार्धमात्रा वा। ऋक्तंत्रम् 2·8।

व्यन्जनों की अपेक्षा अधिक काल लगता है । ओष्ठ्यों तालव्यों तथा दन्त्यों में कालभर क्रमशः न्यून होता जाता है । व्यास शिक्षा में दो संपृक्त व्यन्जनों में प्रत्येक का काल चौथाई-चौथाई मात्रा कहा गया है[1] । सर्वसम्मत शिक्षा स्वरहीन पृथक् व्यन्जन का काल अणु-चौथाई और स्वर-संयुक्त व्यन्जन का काल एकमात्रिक मानती है[2] । पाणिनी शिक्षा ने उष्म व्यन्जन का काल दीर्घ स्वर के बराबर अर्थात् द्विमात्रिक माना है[3] । वैदिकभरणोद्धृत शिक्षा वचन के अनुसार दीर्घ तथा लुप्त स्वर के बाद और स्वर के पूर्व का व्यन्जन अणुमात्रिक होता है[4] । आपिशलि शिक्षा ने स्वरवर्ती नासिक्य व्यन्जन को दीर्घ मात्रिक कहा गया है[5] ।

विराम का काल

उच्चारण का अभाव ही विराम कहलाता है । जब किसी वाक्य अथवा पद का उच्चारण करते समय किसी विशेष स्थल पर थोड़ा रुककर पुनः

1- हलयुक्तं हलुत्तरं तदणुमात्रं प्रकीर्तितम् - व्या०शि०27·4 ।

2- उपस्वर व्यन्जनं नित्यमणुमात्रं प्रयुज्यते । संसर्गाच्चेति बाहुल्यान्मात्राबुधैः प्रकीर्तितम् । - सर्व०शि०94 ।

3- यथासंख्या तु तथा चोष्मा प्रकीर्तिता । ऊष्मा दीर्घ समत्वञ्चाक्षिप्रं कुर्यात्तदर्धकम् ।। - पा० शि० ।

4- दीर्घप्लुताभ्यां परस्य व्यन्जनस्य स्वर परस्य पादमात्रात्वमुक्तम्, -तै०प्रा०1·37।

5- द्विमात्रा उत्तमो ह्रस्वाद अर्धो व्यन्जनान्तरः ।

दीर्घादनन्तरस्तद्वत् मात्रिको व्यन्जनान्तरः ।। आपि०शि० 26 ।

उच्चारण प्रारम्भ किया जाता है, तो उस "अनुच्चारण काल" को विराम कहा जाता है । व्यास शिक्षा में तूष्णीभूतकाल को विराम कहा गया है[1]। यह विराम पाँच रूपों में घटित होता है - ﴾1﴿ अन्तः पदविराम ﴾2﴿ पदान्तपदादिगत ﴾3﴿ यति ﴾4﴿ अर्धविराम तथा ﴾5﴿ पूर्णविराम[2]। अन्तः पद विराम में-स्वरव्यन्जन व्यन्जन-व्यन्जन तथा स्वर-स्वर के बीच के अनुच्चारण काल ग्रहण होता है । दो व्यन्जनों तथा स्वर-व्यन्जन के मध्य अनुच्चार काल परमाणु मात्रिक होता है[3]। दो स्वरों के मध्य अनुच्चारकाल विवृत्ति है[4]। यह अन्तः पद तथा पदान्तपदादिगत द्विविध होती है । ऋक्तंत्र विवृत्ति का अणुमात्रिक कहता है[5]। माण्डूकी शिक्षा इसे एकमात्रिक कहती है[6]। उभयतो दीर्घ-पादोन- मात्रात्मिका:,उभयतो ह्रस्वा

1- विरामस्तूष्णीभूतः कालः । - व्या०शि०।

2- अथ चतस्रः संहिताः पदसंहिताःअक्षरसंहिता वर्णसंहिता अंग संहिता चेति"नाना पदसंहिता संयोगः पदसंहिता-तै०प्रा०।4•1-4 ।
ऋगविरामः पदविरामः विवृत्तिविरामःसमानपदवृत्तिविरामास्त्रिमात्रो द्विमात्रःएकमात्रोऽर्धमात्र इत्यानुपूर्व्येण ।- तै०प्रा०22•13 ।

3- वर्णान्तरं परमाणु-ऋक्तंत्रम् । वर्णान्तरं परमाणुमात्रं भवति माण्डूकी ।•39-40। विरामो वर्णयोर्मध्ये ह्यणुकालो प्यसंधुते-व्या०शि०27•5।

4- स्वरान्तरं तु विवृत्तिः,-ऋ०प्रा०2•3 । उभौ स्वरौ तयोरन्तःसन्धिर्यत्र न दृश्यते । सा विवृतिःस्वरभक्ति पारि०शि०3। ।

5- स्वरयोरर्धमात्रा- ऋक्तंत्रम् - 4•5 ।

6- चतसृणां विवृत्तीनामन्तरं मात्रिकं भवेत् । -माण्डूकीशि० ।•40 ।
भवेत्तां सा पादमात्रा च पिपीलिका स्यात् । पारि०शि०।4।

पादमात्रकाला, होती है । विषमगुणीयस्वरयुता, रामगुणीसस्वरयुता से दीर्घा होती है । पूर्वरूप सन्धिगत अवग्रह, समास के पदों का पदपा० में अवग्रह की मात्रा आधी होती है[1]। माण्डूकी अवग्रह को एक मात्रिक कहती है[2]। विराम का काल एक मात्रिक होता है[3]। नित्यविरति द्विमात्रिक होती है[4]। गाथाओं में भी नित्य-विरति द्विमात्रिक होती है[5]। सामों में नित्यविरति त्रिमात्रिक होती है[6]।

1- समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः । वा० प्रा० 5·1 ।

मात्राह्रस्वस्तावदवग्रहान्तरम् । - ऋ०प्रा० 1·27·28 ।

2- अवग्रहेऽर्धमात्रम् - मा०शि० 13 ।

3- विरामेमात्रा - ऋक्तंत्रम् 4·6 । "विरामेऽन्तरं मात्रिकं भवति । अवसाने तत्" - टीका ।

4- नित्यविरते द्विमात्रम् -ऋक्तंत्रम् 4·7 । नित्यविरते द्विमात्रमन्तरं भवति । अर्धावर्चान्तर्गतेषु " टीका ।।

5- गाथासु - ऋक्तंत्रम् - 4·8 ।

6- त्रिमात्र - सामसु - ऋक्तंत्रम् - 4·9 ।

अवग्रहेऽर्धमात्रं स्यात् कालेमात्रा पदान्तरे ।

अर्धर्चे द्वे तथा पादे त्रिमात्रं स्याद् घान्तरम् ।

- मा०शि० 137 ।

- या०शि० 11-12 ।

अनुस्वार का उच्चारण काल -

अनुस्वार भी अन्य व्यन्जनों के समान व्यन्जन ही है । शिक्षाग्रन्थों में अनुस्वार को ह्रस्व दीर्घ एवं गुरु भेद से तीन प्रकार का माना गया है । ह्रस्व स्वर के पश्चात् उच्चरित होने वाला अनुस्वार "दीर्घ" दीर्घ स्वर के पश्चात् उच्चरित होने अनुस्वार ह्रस्व एवं गुरु अक्षर के बाद में होने पर उच्चरित होने वाला अनुस्वार। "गुरु" संज्ञक होता है[1]। एकमात्रिक स्वर के बाद में आने वाला अनुस्वार दो मात्रा-काल में उच्चरित होता है तथा दो मात्रिक स्वर के बाद में आने वाला अनुस्वार एक मात्राकाल में उच्चरित होता है[2]। संयोग बाद में होने पर ह्रस्व स्वर से

1- ह्रस्वो दीर्घो गुरुश्चेति त्रिविधः परिकीर्तिता । ह्रस्वात्परो भवेद दीर्घो ई स इति दर्शनम् ।। दीर्घात्परो भवेत् ह्रस्वो "मा ˘ सेभ्य" इति दर्शनम् ।
गुरौपरे ह्मनुस्वारो गुरुरेव हि स स्मृतः । -लघुमा०य०शि०13-14

2- अनुस्वारस्तु यो दीर्घदक्षरात् भवेद परः।
स तु ह्रस्व इति प्रोक्तः मन्त्रेष्वेव विभाषया ।। या०शि०142,7·70
अनुस्वारस्योपरिष्टात्संवृतं यत्र दृश्यते ।
दीर्घं तं तु विजानीयात् -श्रोता ग्रावाणेति निदर्शनम ।
अनुस्वारस्तु यो दीर्घादक्षराच्च भवेत्तः।
स तु ह्रस्व इति प्रोक्तो मन्त्रेष्वेवविभाषया ।। च०पारा०शि०21,30
ह्रस्वात्परो भवेद्दीर्घो ---------।
दीर्घात्परो भवेद् ह्रस्वो मा ------।। द्वि०ल०मा०शि०13,
मात्राद्विमात्रोऽनुस्वारो द्विमात्रान्मात्रा एव च।
मात्रिकादपि संयोगे मात्रिकस्तु द्विरूपवात् ।। लो०शि०14,
अनुस्वारो द्विमात्रः स्यादवर्ण व्यंजनोदये ।
ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घा ------ ।। ल०अमो०शि०15,
शिक्षायां तु मात्राद्विमात्रोऽनुस्वारो द्विमात्रन्मात्र एव तु ।
तै०प्रा०1/34पर वै०भा०

बाद में आने वाला अनुस्वार भी दो मात्राकाल के समानकाल में उच्चरित होता है।

1- अनुस्वारस्योपरिष्टात्संयोगो यत्र दृष्यते ।
ह्रस्वं तं तु विजानीयात्संस्थामिति निदर्शनम् ।।
अनुस्वारो द्विमात्रं स्याद्वर्ण व्यंजनोदये ।
ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घ ----------।। या०शि०139,141;
अनुस्वारस्योपरिष्टात्संयोगो दृश्यते यदि ।
ह्रस्वं विजानीयात् ---------------।।
अनुस्वरस्योपरिष्टात्संवृत्तं यत्र दृश्यते ।
दीर्घं तं तु विजानीयात् श्रोता ग्रावाणेति निदर्शनम् ।।
अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्ण व्यंजनादिषु ।
दीर्घं तुं तु विजानीत् -------------।।
अनुस्वाराच्चसंयोगं परतो दृश्यते यदि ।
ह्रस्वं तं तु विजानीयान्मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च ।। च०पारा०शि० 28-32,
अनुस्वारो द्विमात्रःस्याद्वर्णव्यंजनोदये ।
ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घा --------।। अ०र०पू०शि० 145,
मात्राद्विमात्रोऽनुस्वारो द्विमात्रान्मात्रा एव च ।
मात्रिकादपि संयोगे मात्रिकस्तु द्विरूपवत् ।। लो०शि०14,
अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्ण व्यंजनोदये । ल०अमो०शि०
ह्रस्वाद्वा यदि वा ----------।।

॥ चतुर्थ अध्याय ॥

वर्णोच्चारण-स्थानकरणप्रकरण:

शिक्षाग्रन्थों में वर्णोच्चारण की प्रक्रिया में स्थान, करण तथा प्रयत्न इन तीन बातों का ज्ञान आवश्यक बताया गया है[1]। वर्णोच्चारण के स्थान हैं- कण्ठ, तालु, दन्त, मूर्धा, ओष्ठ, नासिका, उरस् और वर्त्स। करण में -जिह्वामूल, मध्य, मध्यान्त, अग्र, उपाग्र, प्रतिवेष्टित उपाग्र, ओष्ठ, दन्त और नासिका का परिगणन होता है। प्रयत्न द्विविध है - आस्यान्त: प्रयत्न[2] तथा अनुप्रदान या वाह्यप्रयत्न। प्रयत्न तथा उसके भेदोपभेदों का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा।

स्थान -

हृदय से श्वास-नलिका द्वारा आती हुई प्रश्वास रूप वायु स्वर-तन्त्रियों के माध्यम से श्वास अथवा नाद अथवा उभयात्मक रूप विकार को प्राप्त

1- स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधाऽनिल:। स्थानं पीडयति वृत्तिकार: प्रक्रमएषोऽथ नाभितलात् स्थानकरणप्रयत्नेभ्यो वर्णा स्त्रिषष्टि: ।-प्रा०शि०सू०1•3

2 उक्ता: स्थानकरणप्रयत्ना:। इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम्। येन निर्वर्त्यन्ते तत्करणम्। प्रयत्नं प्रयत्न: उत्साह: प्रयत्न:।-पा०शि०सू03•7

तत्र स्थानकरणोप्रयत्नेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टि:। -आ०शि०सू04।

प्रयत्नो द्विविध: आभ्यन्तरो बाह्यश्च। - आ०शि०सू05।

2- अस्यत्यनेन वर्णानित्यास्यम्। महाभाष्य।

आस्येभवमास्यम्। - पा०1•1•9।

करके वक्ता के चेष्टा के अनुसार विविध वर्णों की सृष्टि के लिए मुख-विवर में प्रवेश करती हैं। मुख विवर में पहुँचती हुई वायु को वर्ण का स्वरूप प्रदान करने के लिए दो उच्चारणाङ्गों द्वारा विकृत किया जाता है। इस प्रक्रिया में एक अङ्ग दूसरे अङ्ग की ओर चलता है। अर्थात् इस प्रक्रिया में एक अङ्ग अचल एवं निष्क्रिय तथा दूसरा अङ्ग चल एवं सक्रिय होकर कार्य करता है। इनमें जो अङ्ग अचल एवं निष्क्रिय रहता है, उसे "स्थान" कहते हैं तथा जो अङ्ग चल एवं अपेक्षाकृत सक्रिय रहता है उसे "करण" कहते हैं।

स्थान शब्द,- तिष्ठति यत्र वर्णोत्पादको वायुः तद् इति इस व्युत्पत्ति से ष्ठा गतिनिवृत्तौ इति गति अवरोध अर्थ में स्था धातु से अधिकरण अर्थ में ल्युट प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। शब्दोच्चारण के समय ताल्वादियों में अभिघात से जहाँ पर वायु की गति अवरुद्ध होती है उसे स्थान कहते हैं। इस प्रकार ताल्वादि ही वर्णोत्पादक स्थान हैं। तैत्ति०प्रा० के अनुसार स्वरों का उच्चारण-स्थान वह अङ्गविशेष है, जहाँ उच्चारणावयवों का परस्पर उपसंहार होता है[1]। स्वर वर्णों से अन्य व्यन्जन वर्णों का उच्चारण स्थान वह अङ्ग होता है, जहाँ पर उच्चारणावयवों का किन्चित् पारस्परिक स्पर्श होता है[2]। उपसंहार का अर्थ "सन्निकृष्टता" तथा "उपश्लेषविश्लेष" भी किया गया है[3]। स्वरों के उच्चारण में जिह्वादि का जहाँ उपसंहार (सन्निकृष्टता) होता है वहाँ स्वरों का स्थान है, स्वरों से अन्य व्यन्जन के उच्चारण में जिह्वादि से जहाँ स्पर्श होता है वह व्यन्जनों

1- स्वराणां यत्रोपसंहारस्तत्स्थानम्। - तै०प्रा० 2/3।

2- अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत्स्थानम्। - तै०प्रा०2/33

3- द्रष्टव्य है -तै०प्रा० 2/24 एवं 2/3। पर त्रिभाष्य रत्नाकर

का स्थान है। इससे ज्ञात होता है कि जो स्वरों का अस्पृष्टता है, वही व्यन्जनों का स्पृष्टता है, अतः स्वरोच्चारण में जिह्वा और तात्वादियों का सन्निकृष्टतामात्र होता है न कि स्पर्श। व्यन्जनोच्चारण में स्पर्श ही विशेषरूप से अवधेय है। तैत्तिoप्रातिo में स्वर तथा व्यन्जन के उच्चारण स्थान की पृथक्-पृथक् परिभाषा दी गयी है। इसी प्रकार पारिशिक्षा में भी दोनों की अलग-अलग परिभाषा दी गयी है[1]। जबकि सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा और आपिशलि शिक्षा में दोनों की एक परिभाषा दी गयी है[2]। प्रातिशाख्यों में भी स्थान की एक ही परिभाषा गयी है[3]।

स्थान का वर्गीकरण -

पाणिनीय शिक्षानुसार आठ वर्ण-स्थान होते हैं - (1) उरस (2) कण्ठ (3) मूर्धा (4) जिह्वामूल (5) दन्त (6) ओष्ठ (7) तालु (8) नासिका[4]। वर्गों के पंचम वर्ण ङ, न, ण, न, म तथा पुनः अन्तस्थ य, र, ल व

1- अचां यत्रोपसंहारस्तत्स्थानं क्रियतेऽत्र तु। पारिoशिo39
व्यंजनान्तु तत्स्थानं स्पर्शनं क्रियते तदा। पारिoशिo41

2- इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत्र स्थानम्।

- पाoशिoसूo 7/3। आपिoशिo7/3।

3- यस्मिन् तिष्ठति तत्स्थानम्- तैतिoप्रातिo 23•4

अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देन उच्यते। -(उव्वट) ऋoप्राo1•41।

4- अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः शिरस्तथा।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।।

-पाoशिo 13।

से संयुक्त हकार का उच्चारण स्थान उरस होता है, असंयुक्त हकार तथा अकार कण्ठ स्थानीय होते हैं[1]। इ, चवर्ग, य तथा शकार का उच्चारण स्थान तालु, ऋ, टवर्ग, रकार तथा षकार का उच्चारण स्थान मूर्धा, लृकार, तवर्ग लकार तथा सकार का उच्चारण स्थान दन्त होता है[2]। उकार तथा पवर्ग का उच्चारण स्थान ओष्ठ, कवर्ग का जिह्वामूल वकार का दन्त और ओष्ठ स्थान, एकार तथा ऐकार का कण्ठ और तालु स्थान तथा ओकार और औकार का कण्ठ और ओष्ठ स्थान होता है[3]। अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय, उपध्मानीय यम तथा अयोगवाह का आश्रयस्थान ही इनका स्थान है[4]। अर्थात् यह जिसके आश्रय रहते हैं। उनका आश्रय का जो स्थान होगा वही स्थान इनका भी होगा। इस प्रकार जिह्वा-मूल उपध्मानीय जिस क्रम से कवर्ग तथा पवर्ग के आश्रित होगें उसी क्रम से जिह्वा-मूलीय का जिह्वामूल स्थान तथा उपध्मानीय का ओष्ठ स्थान होगा। विसर्ग

1- हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुक्तम् ।
औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुक्तम् ।।
- पा०शि० ।6 ।

2- कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू ।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ।।
- पा०शि०।7 ।

3- जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः ।
ए ऐ तु कण्ठतालव्या ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ।। -पा०शि०।8 ।

4- अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते ।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ।। -पा०शि०22 ।

जो अकाराश्रित होगा उस विसर्ग का कण्ठ स्थान होगा तथा इकारादि के आश्रित होने पर तालु आदि स्थान होगा । अनुस्वार तथा यमों का नासिका स्थान भी इसी प्रकार होगा ।

आपिशल शिक्षा में भी आठ स्थान[1] ही बताये गये हैं परन्तु इसमें कवर्ग कण्ठ स्थान बताया है । अन्य वर्णों का स्थान विचार पाणिनीय शिक्षा के समान ही है । चान्द्रवर्णसूत्रशिक्षा[2] में आपिशल शिक्षा के समान स्थान विचार किया गया है । याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] तथा पाणिनीय शिक्षा के स्थान विचार

1- अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्या । जिह्वामूलीयो जिह्वयः । इचुयशास्तालव्याः । ऋटुरषा मूर्धन्याः । लृतुलसा दन्त्याः । वकारो दन्त्योष्ठ्यः । उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः । अनुस्वारयमा नासिक्याः । एदैतौ कण्ठतालव्यौ । ओदौतौ कण्ठ्योष्ठ्यौ । नमङणानाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च । आपि०शि० ।

2- कण्ठोऽकुहविसर्जनीयानाम् । कण्ठतालुकम् इदेदैताम् । कण्ठोष्ठम् उदोदौताम् । मूर्धा ऋटुरषाणाम् । दन्ता लृतुलसानाम् । नासिकानुस्वारस्य । स्वस्थाननासिका ङञणनमाः । तालिव्चुयशानाम् । ओष्ठावुपध्मानीयानाम् । दन्तोष्ठं वकारस्य । जिह्वामूलं जिह्वामूलीयस्य । चा०सू०शि० ।

3- तत्र द्वावौरसौ "ह्व"इति "म्ह" इति, त्रयःकण्ठ्याः अ आ आ3 इत्यवर्णःहकार-विसर्जनीया इति, षण्मूर्धन्याः टठडढणषा इति, नव तालव्याः इ ई ई3 इति वर्णः च छ ज झ ञ य शा एकारश्चेति । अष्टौ दन्त्याः लृ लृ लृ3 इति लृवर्णःत थ द ध न लकार सकारा इति । नव ओष्ठ्याःउ ऊ ऊ3 इत्युवर्णः पफबभम-कारोपध्मानीया ओकारश्चेति । एको दन्तमूलीयो रेफः । सप्त जिह्वामूलीयाः ऋ ॠ ऋ3 इत्युवर्णं क ख ग घ ङ इति । - याज्ञ०शि० ।

में पर्याप्त वैषम्य है । वर्णरत्नप्रदीपिका[1] शिक्षा में भी याज्ञवल्क्यशिक्षा के समान पाणिनीय शिक्षा से स्थान विचार में पर्याप्त वैषम्य है । माण्डूकीशिक्षा,[2] शैशिरीय शिक्षा[3] चान्द्रवर्णसूत्र शिक्षा[4] तथा षोडशश्लोकी शिक्षा[5] में भी आठ उच्चारण-स्थानों

1- ऋवर्णोऽथ कवर्गश्च जिह्वामूलीय एव च ।
जिह्वामूले भवन्त्येषां जिह्वामूलं च कारणम् । 27 ।।
रेफश्च दन्तमूलोत्थो जिह्वाग्रेण निर्धीयते ।। 30 ।।
वकार ओष्ठासम्भूतो दन्ताग्रकरणः स्मृतः ।। 32 ।। - व0र0प्र0शि0।

2- अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोऽष्ठौ च तालु च ।।
- मा0शि0-7/।।

3- अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरःकण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलन्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।
अकुहाःकण्ठजाःप्रोक्ता उपध्मानीय ओष्ठजः ।
ओष्ठ्या विजानीयाद को दन्त्योष्ठ्य स्तथैव च ।
ए ऐ तु कण्ठतालव्यौ ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ।
- शै0शि0

4- चान्द्रवर्णसूत्र - 2-13 ।

5- हकुविसर्जनीयानां स्यात् कण्ठयिचशु तालुकम् ।
षटुर्कं स्लृतुला दन्तम्पूपध्मानीयमोष्ठजम् ।। ।। ।।
वोन्दष्ठं नमस्यापि नासिकायमयुग्धरः ।
ओदौतोरपि कण्ठोष्ठं त्वेदैतोःकण्ठतालुकम् ।। 12 ।।
जिह्वामूलीयमात्रस्य जिह्वामूलं हि चाष्टमम् ।। 13 ।। षो0श्लो0शि0

का विवेचन किया गया है । ऋ०प्रा० में कण्ठ, वर्त्स्व, उरस्, तालु, मूर्धा, दन्तमूल, ओष्ठ नासिका जिह्वामूल कुल नौ वर्ण स्थान कहे गये हैं[1] । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी कण्ठ, तालु मूर्धा दन्त, दन्तमूल, ओष्ठ, नासिका, मुखनासिकाहनु हनुमूल तथा जिह्वाग्र-ग्यारह स्थान निर्दिष्ट हैं ।

इस प्रकार शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में निर्दिष्ट स्थान-उरस् कण्ठ, तालु, मूर्धा, जिह्वामूल नासिका, दन्त, ओष्ठ, हनु, अभ्यप्रान्त, [illegible], दन्तमूल तथा वर्त्स्य है ।

करण -

उच्चारण के समय मुख विवर में फैली हुई वायु का जिसके व्यापार से ताल्वादि स्थानों में अभिघात होता है, उसे करण कहते हैं । करण शब्द क्रियते ताल्वादिषु स्पर्शनम् अनेन तद् इति व्युत्पत्ति है, कृ धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर करण शब्द की निष्पत्ति हुई है । जिस जिह्वाग्रादि से ताल्वादि स्थान में स्पर्श होता है उसे ही करण कहते हैं । वर्णोच्चारण के समय जिह्वा और तालु का जो संयोग होता है उसमें जिह्वाग्र से तालु का स्पर्श होता है । जिह्वाग्र क्रियाशील रहता है और तालु आदि निष्क्रिय होता है । इसलिए जहाँ क्रियाशीलता है उसे करण कहा गया और जहाँ निष्क्रियता है उसे स्थान कहा गया । दूसरे

1- जिह्वामूलीयः प्रथमश्च वर्गः ।। 18 ।।
तालव्यावेकार चकार वर्गो-विकारैकारौ यकारःशकारः मूर्धन्यो षकारटवर्गौ दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः ।। 19 ।। लकाररेफ लकारारश्च रेफं वर्त्स्यमेके शेषे ओष्ठ्योऽयवाद्य नासिक्यान् नासिक्ययमानुस्वारान् इति स्थानानि ।
- ऋ०प्रा० प्रथम पटल

शब्दों में व्यापार सहित जिह्वाग्र करण है और व्यापार रहित तालु आदि स्थान है । जैसा कि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में कहा गया है कि जो स्पर्श करता है वह करण है, जिससे स्पर्श होता है वह करण है । तैत्ति० प्रातिशाख्यकार ने स्वर तथा व्यन्जन करण के लिए पृथक् पृथक् परिभाषा दी है[1] । पारिशिक्षा में भी स्वर तथा व्यन्जन करण के लिए पृथक्-पृथक् परिभाषा दी गयी है[2] । पाणिनीय शिक्षा में दोनों के लिए एक ही परिभाषा दी गयी है[3] ।

करण का वर्गीकरण

शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों के अनुसार शब्दोच्चारण के समय जिह्वा या अन्य किसी अङ्ग से आस्यगत किसी स्थान का स्पर्श या उपक्रम होता है । जिह्वा का कोई न कोई भाग उपक्रम करता है । ये [illegible] ।। उपक्रमकृतअङ्ग इस प्रकार हैं - (1) जिह्वामूल (2) जिह्वामध्य (3) [illegible] (4) जिह्वाग्र (5) प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र (6) दन्त (7) ओष्ठौ (8) नासिके

1- यदुपसंहरति तत्करणम् । - तैत्ति० प्राति० - 1·2·32
   येन स्पर्शयति तत्करणम् । - तै० प्रा० -1·2·34

2- स्वराणां करणं विद्यादुपसंहरतीति यत् । - पारि०शि०40 ।
   करणं तद्बलां ज्ञेयं स्पर्शयत्यत्र येन तु । पारि०शि० 41 ।

3- येन निर्वर्त्यन्ते तत्करणम् । - पा०शि० सू० ।

(9) नासिकामूल। जिह्वा में जिह्वामूल, तालव्य में जिह्वामध्य, मूर्धन्य में प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र, दन्त्य में जिह्वाग्र, यकार में जिह्वामध्यान्तौ, रेफ में जिह्वाग्रमध्य, ल में जिह्वाग्र, स्पर्शकृत या उपक्रम कृत होकर करण कहलाते है। कई वर्ण ऐसे हैं जो स्वस्थानकरणाः हैं।[1] ऐसे वर्णों में स्थान और करण समान अर्थात्

1-(क) करणमपि जिह्वायतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वाकरणम्। जिह्वामूलेन जिह्वायानाम। जिह्वामध्येन तालव्यानाम्। जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम्। जिह्वाग्राधः करणं वा जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम्। शेषाः स्वस्थानकरणाः।
-आपि0शि02•1-8

(ख) करणम्। जिह्वाग्रं दन्त्यानाम्। जिह्वोपाग्रं शिरस्यानाम्। जिह्वामध्यं तालव्यानाम्। शेषाः स्वस्थानकरणाः। - वा0व0सू015-19

(ग) ऋवर्णोऽय कवर्गश्च जिह्वामूलीय एव च।
जिह्वामूले भवन्त्येषां जिह्वामूलं तु कारणम्।। 27 ।।
इवर्णोऽथ चवर्गश्च ए ऐ कारौ यशौ सह।
तालुस्थाना भवन्त्येषां जिह्वामध्यं तु कारणम्।। 28 ।।
षकारोऽथ टवर्गश्च मूर्धन्याः परिकीर्तिताः।
जिह्वायाः प्रतिवेष्ट्याग्रमेतेषां कारणं स्मृतम्।। 29 ।।
लृलसितोस्मृता दन्त्या जिह्वाग्रकरणा हि ते।
रेफश्च दन्तमूलोत्यो जिह्वाग्रेण विधियते।। 30 ।।
उवर्णोऽथ पवर्गश्च ओ औकारो तथा च वः।
ओष्ठ्या एते स्मृता वर्णा उपध्मानीय एव च।। 31 ।।
समानस्थानकरणा नासिक्योष्ठ्याः प्रकीर्तिताः।
वकार ओष्ठ्यसम्भूतो दन्ताग्रकरणः स्मृतः।। 32 ।।
अवर्णश्च विसर्गश्च हकारश्चापि केवलः।
कण्ठ या वर्णा स्मृता ह्येषां हनुमध्यं तु कारणम्।।33 ।।
यमानुस्वारनासिक्या नासामूलभवा दश।
मुखनासिकाकरणोऽनुनासिक इति स्मृतः।। 34 ।। -व0प्र0शि0

(घ) दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः। रश्च। मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्। तालुस्थानामध्येन। समानस्थानकरणा नासिक्योष्ठ्याः। ओदन्ताग्रैः। नासिकामूलेन यमाः। जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन। कण्ठ्या मध्येन। - वा0प्रा01•76-84।

(ड•) हनुमले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति तालौ जिह्वामध्येन-चवर्गे। जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धानि टवर्गे। जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। ओष्ठाभ्यां पवर्गे। तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे। रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः। दन्तमूलेषु व लकार। ओष्ठान्ताभ्यां

एक ही अङ्ग होता है ।

पाणिनीयशिक्षा में जिस प्रकार वर्णोच्चारण के स्थानों का वर्णन किया गया है उस प्रकार करणों का वर्णन नहीं किया गया है । इसका कारण पाणिनीय शिक्षा[1] में दिया गया है ।

1- वर्णान्नमयते तेषां विभागः पन्चधा स्मृतः ।। 9 ।।
स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नानुप्रदानतः ।। 10 ।।
-पा०शि० 9-10

≬ पंचम अध्याय ≬

प्रयत्न-प्रकरण:

वर्णोच्चारणार्थ मुख विवर में जो विविध चेष्टाएं होती हैं, उन्हें प्रयत्न कहा जाता है । मुख के भीतर होने वाले प्रयत्न को आस्य प्रयत्न या अन्त: प्रयत्न कहा प्रयत्न कहा जाता है । मुख के बाहर अर्थात् स्वरतन्त्रियों में होने वाले प्रयत्नों को बाह्य प्रयत्न कहा जाता है । इस प्रकार प्रयत्नों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है । -≬1≬ आस्य प्रयत्न या आभ्यन्तर प्रयत्न ≬2≬ बाह्य प्रयत्न या अनुप्रदान[1] ।

1- आभ्यन्तर प्रयत्न -

आभ्यन्तर प्रयत्न का तात्पर्य मुख के भीतर होने वाले प्रयत्न से है । वा0प्रा0 पर उवट भाष्यकार ने आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए "आस्य प्रयत्न" एवं "मुखप्रयत्न" संज्ञाओं का प्रयोग किया है[2] । कतिपय प्रातिशाख्यों में आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए करण संज्ञा का प्रयोग किया गया है । सामान्यत: आस्य प्रयत्न

1- प्रयत्नो द्विविध: आभ्यन्तरो बाह्यश्च । - आ0शि0सू05 । च0अ0सू0 ।
प्रयत्नो द्विधा आभ्यन्तरो वाह्यश्च । - शि0को0 1·1·9

2- समानमेकं स्थानं करणमास्यप्रयत्नश्च ----समान मुखप्रयत्न: सतस्य सवर्ण संज्ञो भवति । - वा0प्रा01/4 परउवट ।

स्पृष्ट ईषत्स्पृष्ट, विवृत तथा संवृत इन चार भागों में विभक्त किया जाता है। कुछ वर्णों के उच्चारण में ताल्वादि स्थानों में जिह्वादि करणों का पूर्णतया स्पर्श होता है, कुछ वर्णों के उच्चारण में ईषत्स्पर्श कुछ वर्णों के उच्चारण में दूरस्थता तथा कुछ वर्णों के उच्चारण में समीपस्थता होती है। इस प्रकार स्पर्श ईषत्स्पर्श, दूरस्थता तथा समीपस्थता रूपों में जिह्वादि के चार व्यापार को ध्यान में रखकर सामान्यता आभ्यन्तर प्रयत्न को चार भागों में विभक्त किया गया है[1]। आभ्यन्तर प्रयत्न के विभाग के सम्बन्ध में सभी शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में मतैक्य नहीं है। किसी शिक्षा ग्रन्थ में आभ्यन्तर प्रयत्न का चार विभाग किया गया है तो किसी में छः किसी में सात और किसी शिक्षा ग्रन्थ में आठ भेद किया गया है। शैशिरीय और याज्ञवल्क्य शिक्षा में आभ्यन्तर प्रयत्न का चार-चार विभाग किया गया है। शैशिरीय शिक्षा[2] में स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट विवृत तथा संवृत चार आभ्यन्तर प्रयत्न बताये गये हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] में स्पृष्ट, अस्पृष्ट,

---

1- तत्र ध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थान करणप्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति सा स्पृष्टता यदेषद् स्पृशन्ति तदेषत्स्पृष्टता दूरेण यदा स्पृशन्ति सा विवृतता। समीप्येन यदा स्पृशन्ति सा संवृतता। इत्येषोऽन्तः प्रयत्नः।

-आपि०शि०सू०8·2-6।

2- स्पर्शानां करणं स्पृष्टमन्तस्थास्त्वीषदुच्यते।
स्वराणामूष्मणाश्चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
संवृतश्चेत्यकारस्य सर्ववर्णो निगद्यते। - शै०शि०

3- चतुर्विधं करणं स्पृष्टमस्पृष्टं संवृत, विवृन्चेति। स्पृष्टा स्पर्शाः।
अस्पृष्टा अन्ये। संवृता घोषाः, विवृता अघोषाः। याज्ञ०शि०उत्तरार्ध पृ०150

संवृत तथा विवृत-ये चार विभाग आभ्यन्तर प्रयत्न के किये गये हैं। माण्डूकशिक्षा[1] में भी स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत तथा संवृत-ये चार भेद बताये गये हैं। पाणिनीय शिक्षा[2] तथा वर्णरत्नप्रदीपिका[3] शिक्षा में स्पृष्ट, अस्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, अर्द्ध स्पृष्ट विवृत तथा संवृत- ये छः भेद, आभ्यन्तर के निर्दिष्ट हैं। आपिशलिशिक्षा[4]

1- वर्णानां तु प्रयोगेषु करणं स्याच्चतुर्विधम् ।

संवृतं विवृतञ्चैव स्पृष्टमस्पृष्टमेव च ।। 8 ।।

स्पार्शानां करणं स्पृष्टमन्तस्थानामतोऽन्यथा ।

यमानां संवृतं प्राहुर्विवृतञ्च स्वरोष्मणाम् ।। 9 ।। मा०शि०

2- अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः।

शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः।। 38।।

स्वराणामूष्मणाश्चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।।

तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च ।। 21 ।।

-पाणिनीय शिक्षा-21,38 ।

3- संवृतं विवृतं तद्वदस्पृष्टं स्पृष्टमेव च ।

ईषत्स्पृष्टं चार्धस्पृष्टमास्ययत्नस्तु षड्विधः ।। 39 ।।

अकारः संवृतो ज्ञेयो विवृताश्चेतरे स्वराः।

अस्पृष्टास्यप्रयत्नाश्च स्वराःपूर्वे भवन्ति हि ।। 40 ।।
स्पृष्टाः स्पर्शास्तु विज्ञेया अन्तस्था ईषदुत्स्पृशः।
अर्धस्पृष्टाश्च विज्ञेया ऊष्माणो वर्णविदिभः।। 41 ।।
अलोमध्ये भवत्यर्धमात्रा रेफलकारयोः।
तस्मादस्पृष्टता न स्यात्सम्भवे ऋलृकारयोः।। 42।।

4- आभ्यन्तरस्तावत् स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः 3/4
ईषत्स्पृष्टकरणाः, अन्तस्थाः 3/5
ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः 2 3/6
विवृतकरणाः स्वराः 3/7 ।
तेभ्यो ए ओ विवृततरौ 3/8 ।

सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा[1] तथा चान्द्रवर्णसूत्र[2] में स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत विवृत, विवृततर विवृततम, अतिविवृततम तथा संवृत आठ आभ्यन्तर प्रयत्न वर्णित हैं। ऋक्प्रातिशाख्य[3] तथा ऋक्तंत्र[4] में तीन-तीन आभ्यन्तर प्रयत्न के विभाग किये गये हैं। ऋक्प्रातिशाख्यकार ने स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट तथा अस्पृष्ट तीन आभ्यन्तर प्रयत्न बताया है। ऋक्तंत्रकार स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट विवृत तीन आभ्यन्तर प्रयत्न बताये हैं। शौनक चतुराध्यायी[5] में स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत चार आभ्यन्तर प्रयत्न निर्दिष्ट हैं।

1- अन्यत्यानि एतद्विषयकाणि सूत्राणि आपिशलिशिक्षा वदेत सन्ति। केवलमत्र ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः इत्यतः परं विवृतकरणा वा इति सूत्रम् अधिकम्।

2- तत्र आभ्यन्तरः 21, संवृतत्वं विवृतत्वं, स्पृष्टत्वम् ईषत्स्पृष्टत्वं च 22• संवृतत्वम् अकारस्य 23• विवृतत्वम् स्वराणामूष्मणां च 24• तेभ्यो विवृतत्व मेदोतो: 25• ताभ्यामैदौतौ: 26, ताभ्यामप्याकारस्य 27•स्पृष्टत्वं स्पर्शानाम् 28•ईषत्स्पृष्टमन्त स्थानाम् 29•

3- तद्विशेष करणमस्थितम्।

दुःस्पृष्टं तु प्राश्चकाराच्चतुर्णाम्।

स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्।

नेके कण्ठ्यस्यस्थितमाहुरुष्मणः ।। ।3 ।। ऋक् प्राति0।

4- स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। दुःस्पृष्टमन्तस्थानाम्।

विवृतं स्वरोष्मणाम्। विवृततरमाकारैकारौकाराणाम्।

-ऋ0 तं0।

5- स्पृष्ट स्पर्शाना करणम्। ईषत्स्पृष्टम् अन्तःस्थ नाम। ऊष्मणां विवृत-स्वराणां च। एतेस्पृष्टम्। ऐकारौकारयोर्विवृततमम् ततोऽप्याकारस्य, संवृतोऽकारः।

-शौ0 च0

यद्यपि आभ्यन्तर प्रयत्न की संख्या के विषय में शिक्षाकारों में मतभेद हैं तथापि बारम्बार वर्णोच्चारण में जिह्वा के व्यापार के सम्बन्ध में मतभेद नहीं है । आधुनिक ध्वनि वैज्ञानिकों ने विभिन्न शिक्षा ग्रन्थों में विद्यमान आभ्यन्तरप्रयत्न के विभेद के वैषम्य में समन्वय स्थापित करते हुए आभ्यन्तर को प्रयत्न को षड्विध माना है - (1) स्पृष्ट (2) अर्धस्पृष्ट (3) ईषत्स्पृष्ट (4) अस्पृष्ट (5) संवृत तथा (6) विवृत ।

स्पृष्ट, अर्धस्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट

वर्णोच्चारण के समय जिह्वादि करण वर्णोच्चारण के समीप उपक्रम करता है, या उपसंहृत होता है, स्पर्श नहीं करता है । इस स्थिति में स्वरों का उच्चारण होता है । स्वर अस्पृष्ट वर्ण कहे जाते हैं । दूसरी स्थिति में जिह्वादि करण वर्णोच्चारण स्थान का स्पर्श करना है[1] । इस स्थिति में व्यन्जनों का उच्चारण होता है । व्यन्जन स्पृष्ट होते हैं । स्वर-व्यन्जन के बीच यही स्पर्शास्पर्श ही भेदक तत्त्व है । स्पर्श को-पूर्ण-ईषत् तथा अर्धस्पर्श तीन कोटि में रखा जा सकता है । क से मतक - पन्चपन्चात्मकवर्ग - 25 वर्णों का समूह पूर्ण स्पृष्ट है । य र ल व - चारों अन्तःस्थ-दुःस्पृष्ट या ईषत्स्पृष्ट

1- स्पर्शव्यन्जनोत्पत्तौ तत्तज्जिह्वाग्रादिना करणेन तत्तत्स्थानानां स्पर्श स्पृष्टाः। वर्णोत्पत्त्यधिकरणभूतस्थानानां सम्यक् स्पर्श विनातत्तत्करणे-र्जिह्वाग्रादिभिरुच्चारणादन्तःस्थानाम् ऊष्मणान्च स्पृष्टता ।"

- या०शि० टी०

वर्ण है । श ष स ह -ऊष्माण ये चारों अर्धस्पृष्ट या नेमस्पृष्ट है[1]। इचुयशानां तालुः" से लक्षित वर्णों में इ में जिह्वामध्य तालु का उपक्रममात्र करता है, च वर्ग में जिह्वामध्य पूर्ण स्पर्श करता है । "य" के उच्चारण में जिह्वामध्य ईषत्स्पर्श तथा "श" के उच्चारण में अर्धस्पर्श करता है[2]। ऋक् प्रातिशाख्य में स्पृष्ट को

1- सर्वे [स्वराः] ते स्युरस्पृष्टाः स्पर्शा स्पृष्टा भवन्ति हि । ईषद्
स्पृष्टास्तथान्तः स्था ऊष्माणोऽर्धस्पृशः ।। - या०शि० 209-10
ईषद् अस्पृष्टास्प्रयत्नाश्च सर्वे स्वरा भवन्तिहि ।
स्पृष्टा स्पर्शास्तु विज्ञेया अन्तःस्था ईषत्स्पृशः ।।
अर्धस्पृष्टाश्च विज्ञेया ऊष्माणः वर्णविद्भिः ।।

-व०र०प्र०शि०

अचो स्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेम स्पृष्टाः शलः स्मृताः शेषाः स्पृष्टा
हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः ।।

-पा०शि० 38 ।

आद्याः पन्चविंशतिः स्पर्शाः । - तै०प्रा० 1·7 ।
दुःस्पृष्टमन्तः स्थानम् । - ऋ०प्रा०13·10 ।

2- इचुयशानां तात्वादिकेऽपि तालुस्थानेन सह जिह्वाग्रादीनां
चवर्गोच्चारणे कर्तव्ये सम्यक् स्पर्शः । यकारे ईषत्स्पर्शः शकारेकारयोस्तु
दूरेऽवस्थितिः । तत्वबोधिनी ।

अस्थित तथा अस्पृष्ट को स्थित की संज्ञा भी दी गयी है[1]। पाणिनीयशिक्षा ने इस स्पर्श को "अयः पिण्डवत्" दारुपिण्डवत् तथा ऊर्णापिण्डवत् की उपमा दी है[2]। आधुनिक ध्वनिशास्त्री व्यन्जनों को स्पृष्ट तथा निरन्तर दो वर्गों में रखता है। स्पृष्टों के उच्चारण द्विःस्पृष्टा-द्विगुणमूर्धन्याः- सभी वर्णों के उच्चारण के समय करण उच्चारण स्थान का एक ही बार स्पर्श करता है। ड तथा ढ के उच्चारण में प्रतिवेष्टित जिह्वाग्राधः मूर्धा स्थान का दो बार स्पर्श करता है[3]। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र का उत्क्षेप कठिनता से होता है और साथ ही मूर्धा स्पर्श भी कठिनता से होता है। इसी लिए इन्हें दुःस्पृष्ट भी कहा जाता है[4]।

1- स्पृष्टमस्थितम् - ऋ० प्रा० 13·9।

स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। तत्र अस्थितम् वेदितव्यम्। अस्थितमिति - यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य मध्ये जिह्वा न संतिष्ठते तदस्थितम्। इत्युच्यते- उव्वट। स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्। - ऋ०प्रा०13·10

अस्पृष्टं स्थितं वेदितव्यम्। यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य जिह्वावतिष्ठते तत्र स्थितम् इत्युच्यते-उव्वटः। नैके कण्ठस्य स्थितमाहुरूष्माणः।-ऋ०प्रा०13-129

2- स्थानपीडनप्रकरणम्। तत्र स्पर्शयमवर्णकरो वायुरयः पिण्डवत् स्थानमपीडयति अन्तः स्थवर्णकरो वायुर्दारुपिण्डवत्। ऊष्मस्वरवर्णकरो वायुरूर्णापिण्डवत्- -पा०शि०ष०5।

3- द्विःस्पृष्टता च विज्ञेया उदयोः स्वरमध्ययोः।
पदकाले वियुज्येत द्विःस्पृष्टो न भवेत्तदा।। -व०रा०प्रा०शि०15।

4- दुःस्पृष्टश्चाविज्ञेयः- पा०शि०-5
पाणिनिशिक्षा-ॠ 3 तथा लृ 3 को दुःस्पृष्ट तथा केवर नासिक्यों को दुःस्पृष्ट कहते हैं।

दुःस्पृष्ट का अर्थ यहाँ ईषत्स्पृष्ट जो अन्तःस्थों के लिए प्रयुक्त होता है, कदापि नहीं है। द्विःस्पृष्टताद्योतनार्थ ही ड > ळ > ल तथा ढ > ळ्ह रूप में लिपि में संकेतित है। हिन्दी में ड > ड़ > ड तथा ढ>ळ्ह>ढ-रूप में अंकित है। ऋक्प्रातिशाख्य दो स्वरों के मध्य ड तथा ढ को ळ तथा ळ्ह रूप में परिणत होने का विधान है[1]।

संवृत और विवृत -

संवृति और विवृति वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने की अवस्थाएं हैं। मुख के खुलने की अवस्था को विवृति तथा बंद रहने की अवस्था संवृति कहते हैं[2]। संवृति की अवस्था संवृत प्रयत्न होता है और विवृति की अवस्था में विवृत प्रयत्न होता है। विवृति की अवस्था में मुख में जिह्वा केवल उपक्रम करती, किसी भाग का स्पर्श नहीं करती। इसमें स्वरों और ऊष्मवर्णों का उच्चारण होता है। संवृति की अवस्था में जिह्वा आस्यगत स्थान को स्पर्श करती है। इस स्थिति में स्पर्शों में क से म तक, तथा अन्तःस्थों का उच्चारण होता है।

1- द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः ।।

-ऋ०प्रा० 1.2।-22 ।

2- तत्रध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थानकरणप्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति सा स्पृष्टता यदेषत् स्पृशन्ति तदेषत्स्पृष्टता दूरेण यदा स्पृशन्ति सा विवृतता। समीप्येन यदा स्पृशन्ति सा संवृतता। इत्येषोऽन्तः प्रयत्नः। -

-आपि०शि०सू०8.2.-6

संवृत वर्ण का उच्चारण काल एकमात्रिक तथा विवृत का द्विमात्रिक होता है[1]।

बाह्यप्रयत्न:

जिस प्रकार वर्णोत्पत्ति के पूर्व स्पृष्टतादि आभ्यन्तर व्यापार होते हैं उसी प्रकार वर्णोत्पत्ति के पश्चात् भी श्वास परिवृत्ति के समय कुछ व्यापार होते हैं वे ही बाह्यप्रयत्न कहे जाते हैं। इस प्रकार उच्छ्वास के व्यापार आभ्यन्तर प्रयत्न होते हैं तथा निःश्वास के व्यापार बाह्यप्रयत्न होते हैं। संवारविवारादि बाह्य प्रयत्न कहे जाते हैं। ये वर्णोत्पत्ति के अनन्तर, प्राणवायु के निवृत्त होने के अनन्तर, वायु में उत्पन्न या अनुभूत होते हैं। इसलिए बाह्य प्रयत्न कहे जाते हैं। वस्तुतः ये आस्य के पूर्वभावी प्रयत्न हैं, किन्तु उच्चारण के पश्चात् प्राणवायु के भी विवृत्ति के बाद अनुभूत होने से इन्हें बाह्य कहा जाता है। प्रातिशाख्यों इन्हें अनुप्रदान कहा गया है[2]।

1- संवृतं मात्रिकंज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्। घोषा वा संवृता सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः। स्वराणामुष्मणां चैव विवृतंकरण स्मृतम्। तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैवच ।। ऊष्मणां विवृतं च। स्वराणान्च। एके स्पृष्टम्। एकारौकारयोर्विवृततम्। - पा०शि०20-21।

2- वर्णोत्पत्तेरनुपश्चात् प्रदीयते इत्यनुप्रदानम् अनुप्रदीयतेऽनेन वर्ण इत्यनुप्रदानं मूलकारणम् अनुप्रदीयते जन्यते इत्यर्थः -त्रिभाष्यरत्न तै०प्रा02•8 वायुमनु प्रदीयते इत्यनुप्रदानम् - ऋ०प्रा० 13•। उव्वट

शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में बाह्यप्रयत्न के भेद के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है । किसी शिक्षा ग्रन्थ में बाह्य प्रयत्न के दो भेद तो किसी में तीन भेद, किसी में चार किसी में छः, किसी में आठ तथा किसी शिक्षा ग्रन्थ में ग्यारह भेद किये गये हैं । शैशरीय शिक्षा[1] और पाराशरशिक्षा[2] में बाह्य प्रयत्न के घोष तथा अघोष दो भेद निर्दिष्ट हैं । पारिशिक्षा[3] में वर्णाभिव्यक्ति के अनन्तर श्वास निवृत्ति के समय कण्ठबिल की तीनअवस्थायें वर्णित हैं -
1- विवृत 2-संवृत 3- न अतिविवृत और न हि अतिसंवृत अर्थात् मध्यमावस्था ।
याज्ञवल्क्य शिक्षा[4] में संवार, विवार घोष तथा अघोष ये चार बाह्य प्रयत्न बताये

1- वर्गाणां प्रथमा वर्णाः द्वितीया ऊष्मसंज्ञिताः ।
हकारवर्ज्याश्चाघोषाः शिष्टं घोषवदुच्यते ।। - शै० शि० ।

2- विंशतिर्घोषास्ते गजडदवाः, घझढधभाः,ङञणनमाः, हयरलवाश्चेति ।। 56 ।।
त्रयोदशाघोषास्ते कचटतपाश्च खछठथफाः,शषसाश्चेति ।। 57 ।।-पारा०शि०।

3- नादश्च संवृते कण्ठे श्वासस्तु विवृते सति ।
हकार क्रियते मध्ये वर्णप्रकृतयश्च ताः ।
हकारो हचतुर्थेषु श्वासो घोषेषु चैव हि ।
स भूयान्प्रथमान्त्येषु ह्येतानेव विदुर्बुधाः ।। 30 ।।
प्रथमान्त्येष्वघोषेषु महाप्राण उदाहृतः ।।
अल्पप्राणस्तु प्रथमवर्णेष्वेव प्रकीर्तितः ।। 31 ।। - पारिशिक्षा ।

4- संवृताः घोषाः। विवृता अघोषाः। विंशति घोषास्ते गजडदवाः,घझढधभाः ङञणनमाः,यरलवाः,हकारश्चेति । त्रयोदशाऽघोषास्ते कचटतपाः, खछठथफाः शषसाश्चेति ।। याज्ञ० शि० उत्तरार्द्ध ।5 पृ०

गये हैं । पाणिनीय शिक्षा[1] में बाह्यप्रयत्न के छः भेद-संवार, विवार श्वास, नाद, घोष तथा अघोष, कहे गये हैं । आपिशल शिक्षा[2], सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा[3] तथा चान्द्रवर्णसूत्र[4] में आठ प्रकार के बाह्य प्रयत्न बताये गये हैं । आपिशल

1- घोषा वा संवृताः सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः ।।20।।
अमोऽनुनासिका न हो नादिनो ह झषः स्मृताः ।
ईषन्नादा यणो जश्च श्वासिनस्तु खफादयः ।। 39 ।।
ईषच्छ्वासांश्चरो विद्यात् गोर्धामैतत्प्रचक्षते ।। 40 ।। - पा०शि० ।

2- वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः, श्वासानुप्रदानाः, अघोषाः । वर्गयमानां प्रथमे अल्पप्राणाः इतरे सर्वे महाप्राणाः । वर्गाणां तृतीयचतुर्थाः अन्तस्थाः हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीय चतुर्थौ संवृतकण्ठाः नादानुप्रदानाः, घोषवन्तः । वर्गयमानां तृतीया अन्तस्थाश्चाल्पप्राणाः इतरेसर्वे महाप्राणाः । यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः आनुनासिक्यमेषामधिकोगुणः । -आपि०शि० ।

3- तत्रयदा कण्ठबिलस्य संवृतत्वं तदा नादो जायते । विवृते तु कण्ठबिले श्वासोऽनुजायते । तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते अन्य श्वासनादानुप्रदानं व्यञ्जने नादवद् तत्र यथनाभिस्थलजध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तथा नादध्वनि-संसर्गाद् घोषो जायते । यदा श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वाससंसर्गाद अघोषो जायते । सा घोषवदघोषता । महति वायौ महाप्राणता । अल्पे वायावल्प-प्राणता यत्र प्राणमहाप्राणत्वमूष्माणस्ते । सा ल्पप्राणमहाप्राणता सा ।
-पा०शि०8·7-20।

3- बाह्यः 30। वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाश्च विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः3। ।प्रथमतृतीयपंचमा अन्तस्थाश्चाल्प-प्राणाः32। इतरे महाप्राणाः33। तृतीयचतुर्थपंचमाः सानुस्वारान्तस्थहकाराः संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः 34। -चा०व०सू०

शिक्षानुसार ग्यारह[1] प्रयत्न भी होते हैं- 1- विवार 2-संवार 3- श्वास 4- नाद 5- घोष 6- अघोष 7- अल्पप्राण 8- महाप्राण 9- उदात्त 10-अनुदात्त 11- स्वरित । स्वरों से रहित आठ बाह्य प्रयत्न आपिशल शिक्षा में वर्णित हैं । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[2] ऋक्प्रातिशाख्य[3] तथा ऋक्तन्त्र[4] में भी पाणिनिशिक्षा के समान

1- कालोविवारसंवारो श्वासनादावघोषता ।
घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः ।। 26 ।।
-आपि०शि०का उपान्त्य श्लोक ।

2- संवृते कण्ठे नादः क्रियते 4·विवृते श्वासः 5·मध्ये हकारः 6·तावर्णप्रकृतयः 7·नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु 8·हकारो हचतुर्थेषु 9·अघोषेषु श्वासः 10·भूयान्प्रथमेभ्योऽन्येषु 11·ऊष्मविसर्जनीयप्रथम द्वितीया अघोषाः। न हकारः। व्यञ्जनशेषो घोषवन् । - तैत्ति०प्रा०।✓।

3- वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठ्यस्य खे विवृते संवृते वा । आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम् । उभयं वान्तरोभौ, ता वर्णानां प्रकृतयो वदन्ति श्वासोऽघोषाणामितरेषां तु नादः । सोष्मोष्मणां घोषिणां श्वासनादौ । तेषां स्थानं प्रति नादान्तदुक्तम् । प्रयोक्तुरहीं गुणसन्निपति वर्णीभवन् गुणविशेषयोगाद् । एकश्रुतीः कर्मणाऽऽप्नोति बह्नीरेके वर्णांछारविकारान् न कार्यान् आकुर्योऽर्थ घोषवतामकारम् । एकेऽनुस्मनुनासिकानाम् । सोष्मतां च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन घोषिणां घोषिणेव । अत्रोत्पन्नावपर ऊष्म- घोषो शीघ्रतरं सोष्मसु प्राणमेके ।। 1302-5 ।। -ऋ०प्रा० ।

4- संवृतो घोषवान् । विवृतोऽघोषेषु नादानुप्रदानाः स्वरघोषवन्तः श्वासो- ऽघोषाणाम् । वर्गीयान् प्रथमावुभौ हचतुर्थानां सन्निवेशोऽन्यः ।
-ऋ०तं०

ही वाह्य प्रयत्न-विचार किया गया है । ये तीनों ग्रन्थ वाह्य प्रयत्न के तीन भेद- 1- श्वास 2- नाद 3- श्वासनादोभय ।

उपर्युक्त शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों के आलोचनात्मक अध्ययनोपरान्त वाह्य प्रयत्न के आठ भेद ही समीचीन प्रतीत होता है - 1- संवार 2- विवार 3- नाद 4-श्वास 5-घोष 6- अघोष 7- अल्पप्राण 8- महाप्राण नागेश ने उदात्तानुदात्तस्वरित को भी वाह्य में ही परिगणित किया है । उदात्तादि उच्चारणस्थान के उच्चतम और निम्नतम विन्दु पर करण के उपक्रम या स्पर्श करने पर होते हैं । अतएव इन्हें वस्तुतः आस्यप्रयत्न में परिगणित करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।

संवार-विवार तथा नाद-श्वासः -

प्रयत्न प्रेरित प्राणवायु के ऊर्ध्वनिष्क्रमण के समय स्वरतन्त्रियों की तीन अवस्थाएं होती हैं । ओष्ठाकार दोनों झिल्लियों के परस्पर मिले रहने को संवार कहते हैं ।[1] जब स्वरतन्त्रियाँ दूर-दूर रहती हैं तो उसे विवार कहते है ।[1] इसके बीच की स्थिति को निष्क्रिय अवस्था कहते हैं । संवार की स्थिति में प्राणवायु तन्त्रियों से घर्षण करते हुए ऊपर आती है,तब नाद उत्पन्न होता है । विवारावस्था में प्राणवायु स्वरतन्त्रियों से घर्षण किए बिना ऊपर आती है,तो श्वास होता है ।

1- कण्ठविलस्य संकोचःसंवारःउद्योत-प्रा0।•।•9

स इदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमुत्क्रामन् मूर्ध्नि प्रतिहतो निवृत्तो यदा कोष्ठमभिहन्ति तदा कोष्ठेऽभिहन्यमाने गलबिलस्य विवृतत्वाद् विवारः संवृतत्वाद् संवारो जायते । तौ संवारविवारौ ।-आपि0शि0सू08•7-8 ।

संवार विवार वस्तुत: स्वरतन्त्रियों की अवस्था विशेष के द्योतक मात्र हैं। स्वरतन्त्रियों के बन्द होने और खुलने को संवार विवार कहते हैं, जबकि अधरोष्ठ के बन्द होने खुलने को संवृत-विवृत कहते हैं। संवृत-विवृत का संवार विवार से भिन्न आस्यप्रयत्न में परिगणित होते हैं। संवार विवार इसके भी पूर्व की स्वरतन्त्रियों की अवस्थाएं हैं। इनका प्रत्यक्षीकरण ध्वनि के उच्चरित होने के बाद होता है। वायु के मूर्धा में प्रतिघात तथा निवर्तन के अनन्तर वायु में नाद और तदाश्रित घोष का प्रत्यक्षीकरण और घोष के आधार पर संवार का अनुमान होता है।

अल्पप्राण-महाप्राण एवं अघोष-सघोष:

प्रयत्न प्रेरित प्राणवायु के आधिक्य से महाप्राण ध्वनियों का तथा प्राण की न्यूनता होने पर अल्पप्राण ध्वनियों का उच्चारण होता है[1]। वर्गों में द्वितीय चतुर्थ ध्वनियां महाप्राण होती है शेष सब अल्पप्राण। वर्गों की द्वितीय ध्वनियों ख छ ठ थ फ-अघोष, अल्पप्राण तथा वर्गों की चतुर्थ ध्वनियां घ झ ढ ध भ-सघोष महाप्राण हैं। अघोष महाप्राण-ख छ ठ थ फ में "ह" अघोष विसर्ग का अंश होता है। इसी प्रकार सघोष महाप्राण घ झ ढ ध भ में ऊष्म "ह" का अंश होता है।[2] किन्तु ऊष्मों में ह तथा "ह" को पृथक विश्लेषित नहीं किया जा

1- अल्पे वायावल्पप्राणता महति महाप्राणता जायते-महाप्राणत्वादूष्मत्वम् - आ०पि०शि०सू०8.16-19।

2- प्रथमतृतीयपञ्चमान्त: स्थाश्चाल्पप्राणा:। इतरे महाप्राणा-च०अ०सू०30-3।

द्वितीय चतुर्था: सोष्माण:। -ऋ०प्रा०2.10।

युग्मो सोष्माणौ-ऋ०प्रा०1.13। उत्तरेष्टा ऊष्माण: [श ष स ह अ: क प अ:] - ऋ०प्रा० 1.10

सकता है । क्योंकि छ केवल "क ह" अथवा घ - ग् ह" का संयोग कदापि नहीं है । क्-ह, ग-ह, के पृथक्त्व की कल्पना असंभव है । ऋक्प्रातिशाख्य ऊष्मों के उच्चारण में प्राणवायु के बहि निःसरण में अपेक्षाकृत गतिमयता का विधान करता है[1]।

1- ऊष्मा वायुस्तेन सह वर्तन्त इति सोष्माणः । अतिशयार्थ वचन महाप्राण इत्यर्थः-उव्वटः §वा०प्रा० 1·54§
ऊष्मन् = शषसह, विसर्ग क प, सोष्माः = महाप्राणाः ।
सोष्मता च सोष्मणामाहुः सस्थानेन- ऋ०प्रा० 13-16 ।

§ षष्ठ अध्याय §

स्वर-प्रकरण

शिक्षाग्रन्थों में स्वराघात के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। सभी शिक्षाग्रन्थों ने अपनी-अपनी संहिताओं से सम्बन्ध स्वर-प्रक्रिया का सविस्तार सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विवेचन किया है। प्राचीन काल से ही वैदिक मन्त्रोच्चारण के लिए स्वराघात का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जिस प्रकार वैदिक मन्त्रों के शुद्ध पाठ के लिए तथा उनके समुचित अर्थबोध के लिए मात्रादि रूप काल, स्थान आभ्यन्तर प्रयत्न आदि का महत्व है, उसी प्रकार स्वराघात का भी महत्व है। मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करने से इष्टफल की प्राप्ति के स्थान पर अनिष्ट फल प्राप्त हो जाता है। जैसा कि अमोघानन्दिनी आदि शिक्षाओं में कहा गया है कि "स्वर तथा वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्याप्रयुक्त होकर अभीप्सित अर्थ को प्रदान नहीं करता है। वह मन्त्र वाक्कुलिश होकर यजमान का विनाश कर देता है। जिस प्रकार से इन्द्र शत्रु "वृत्र" शब्द स्वर के अपराध से गलत ढंग से समुच्चारित होकर यागकर्ता का विनाश किया[1]। "नारदीय शिक्षा" में स्वर के महत्व के

1- मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
अपि च द० - मा०य० शि० 1, म०शि०शि० 6, अमो० शि० 122;
ना० शि० शि० सं० पृ० 395, पा०शि० 52.

सम्बन्ध में कहा गया है कि यज्ञों में स्वर तथा वर्ण से हीन प्रयुक्त होने वाले मन्त्र यजमान की आयु, प्रजा और पशु आदि का विनाश कर देते हैं[1]। इसी प्रकार "याज्ञवल्क्य शिक्षा" में कहा गया है कि स्वरभ्रष्ट व्यक्ति वेद के फल को नहीं प्राप्त कर पाता है[2]। इस प्रकार वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में कहा गया है कि स्वरों के विधिवत ज्ञान से रहित अतएव मिथ्योच्चारण करने वाला व्यक्ति मन्त्रोच्चारण के प्रयोजन से तो वियुक्त होता ही है, साथ ही वह स्वयं अपना विनाश भी करता है[3]। परन्तु याज्ञवल्क्य शिक्षानुसार जो स्वरयुक्त वर्णों प्रयोग करता है, वह ऋगादि से पूत होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है[4]। इसलिए अमोघानन्दिनी शिक्षा में कहा गया है कि वेदपाठी सदैव सम्यक् विचार कर वाणी का सस्वर

1- प्रहीणः स्वर वर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते ।
यज्ञेषु यजमानस्य रुषत्यायुः प्रजा पशून ।।
नाο शिο {शिοसंοपृο397}

2- स्वरभ्रष्टो न वेदफलमश्नुते । याज्ञο शिο 25,
स्वरहीनं तो यो धीते मन्त्रं वेदविदो विदुः ।
न साधयति यज्ञषि भुक्तमप्यंजनं यथा ।। याοशिο41,

3- मन्त्रो यः स्वरतो हीनो वर्णतो वाऽपि कुत्रचित् ।
निष्फलं तं विजानीत्तथैवाशुभसूचकम् ।। वοरοप्रοशिο 6.

4- स्वरवर्णप्रयुञ्जानो हस्तेनाधीतमाचरन् ।
ऋग्यजुः सामभिः पूतः ब्रह्मलोक माप्नुयात् ।। याज्ञοशिο42,

उच्चारण करते हैं[1]। इस शिक्षा में कहा गया है कि "स्वर" वाणी का आभूषण हैं। जिस प्रकार से रूप सम्पन्न होने पर भी वस्त्रहीन नारी आदर न प्राप्त करके हेय मानी जाती है उसी प्रकार वाणी भी स्वरहीन होने पर सार्थक होते हुए भी आदर नहीं प्राप्त करती है। वह उसी प्रकार सुशोभित नहीं होती है जिस प्रकार प्राणहीन शरीर।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अभीष्ट फल की प्राप्ति तथा सभा मध्य सम्मान प्राप्त करने हेतु "स्वर-ज्ञान" आवश्यक है। "स्वर-ज्ञान" की उपादेयता को न केवल शिक्षाग्रन्थों ने ही स्वीकार किया अपितु अधिकांश वैयाकरणों एवं भाष्यकारों ने स्वीकार किया है। जिसमें भगवान् पतंजलि,[2] मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी[3] वेंकटमाधव,[4] भर्तृहरि,[5] साहित्यदर्पणकार आचार्य

1- प्रमदारूप सम्पना दारिद्र्यस्येन योषिता।
स्वरहीना यथा वाणी वस्त्रहीनस्तु योषिता।
एवं वर्णा न शोभन्ते प्राणहीनाः शरीरिणः।
वेदपाठी सदा सम्यग्विवायुयेवं पुनः पठेत्।। अमो०शि०।26,।27,

2- यदि पूर्वपदप्रकृति स्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः अथ समासान्तोदात्तत्वं ततः तत्पुरुषः इति। पा०महा०

3- अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति ? उच्यते अर्थावबोधनार्थम्।
मी०भाष्यम् तृतीयवर्णक ।/2/3।,

4- अर्था भेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वरः।
यदा न तं स्वरं पश्येत् अन्यार्थं तदानयेत्।।
अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन् स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थं स्फुटा इति।। स्वरानु० 17,18,

5- सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः।। वा०प०{पुण्य राजटीका} पृ०216,

विश्वनाथ[1] तथा कलिकाल में विलुप्त वेद-विद्या के पुनरुद्धारक असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न महान् तत्ववेत्ता स्वामी दयानन्द सरस्वती[2] का नाम प्रशंसनीय है। महाभाष्यकार पतंजलि ने तो यहाँ तक लिखा है कि वेदाभ्यास कराते समय उदात्त स्वर के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने पर खण्डिकोपाध्याय शिष्यों के मुख पर चाँटा लगाकर उनका उच्चारण शुद्ध कराते थे[3]।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वैदिक मन्त्रों के शुद्धोच्चारण के लिए "स्वर-ज्ञान" अत्यावश्यक है। जिस प्रकार मन्त्रों के शुद्धोच्चारण के लिए "स्वर ज्ञान" आवश्यक है उसी प्रकार पदों के वास्तविक अर्थ-ज्ञान के लिए "स्वर-ज्ञान" नितान्त आवश्यक है। यथा- "भातृव्यस्यवधाय" में आया हुआ "भ्रातृव्य" पद के "शत्रु" तथा "भतीजा" ये दो अर्थ होते है। इस प्रसंग में कौन सा अर्थ उचित होगा- यह संदेहजनक है। भतीजे के दायभाग के हरण का इच्छुक चाचा इस मन्त्र को प्रमाण प्रस्तुत करके यह कहे कि "भतीजे" को नष्ट करने में कोई पाप नहीं है क्योंकि "वेद" इस मन्त्र द्वारा भतीजे के वध की अनुमति प्रदान करता है, तो यह सर्वथा अनुचित होगा, क्योंकि इसका स्पष्टीकरण "स्वर" का सम्यक् बोध करने पर हो जाता है। आद्युदात्त "भ्रातृव्य" पद का अर्थ "शत्रु" होता है, जबकि

1- स्वरस्तु वेद एव विशेष प्रतीतिकृत। सा० दर्पण परि० 3,

2- वेदार्थोपयोगितया संक्षेपः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते।

-ऋग्वेदादि भा०भू०पृ०374,

3- उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते, खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति। -अष्टा० 1/1/1 पर पा०महा० ,

अन्तस्वरित "भ्रातृव्य" पद का अर्थ "भतीजा" होता है[1]।

शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में "स्वर" शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग कहीं पर "वर्णविशेष" के अर्थ में,[2] कहीं पर "षड्जादि ध्वनि-विशेष" के अर्थ में[3] और कहीं "उदात्तादि विशिष्ट उच्चारण-धर्म" के अर्थ में

1- अष्टा० 4/1/144-145,

2- विवृतकरणाः स्वराः-आपि०शि० 3।7, स्वराः द्वाविंशतिः। समास्ते-ऽदिदुतो ज्ञेया षच्चार्दीर्घ लृपंचमः। एदैदोदौ तु चत्वारोऽह्रस्वा सन्ध्यक्षराणि च। षो०श्लो० 23, स्वराः विंशतिकश्च। लृकारो प्लुतएव च। पा०शि० 4
अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ इत्यष्टौस्वराः। स्व०अष्ट० शि० 62
एकविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थ चिन्तकैः। व०र०प्र०शि०
लृ वर्णपरिहाय स्वराष्ड् विंशतिः प्रोक्ताः। वा०शि०
एते स्वराः - ऋ०प्रा० 1/3,
तत्र स्वराः प्रथमम्- वा०प्रा० 8/2,
षोडशादितः स्वराः- तै०प्रा० 1/5
अ इति आ इति स्वराः-ऋ०तं० 1/2,
तत्र चतुर्दशादौ स्वराः -का०तं० 1/1/2,

3- षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यस्तथा।
पंचमो धैवतश्चैव निषादः सप्तमः स्वरः ।। ना०शि० 1/2/4,
षड्जर्षभगान्धारो मध्यमः पंचमस्तथा।
धैवतश्च निषादश्च स्वराःसप्तेह सामसु ।। माण्डू०शि० 8,
अपि च द्र०- ऋ०प्रा० 13/44, तै०प्रा० 23/12

हुआ है[1]। शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त अन्य वैदिक तथा लौकिक ग्रन्थों में भी "स्वर" वर्ण अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं पर "वाक्" अर्थ में,[2] कहीं "प्राण" अर्थ में,[3] कहीं "सूर्य" के अर्थ में,[4] कहीं सोम अर्थ में,[5] कहीं "प्रणव" आदि अर्थों में[6] प्रयुक्त हुआ है।

1- द्रष्टव्य है -

पा०शि० याज्ञ०शि०, आपि० शि०, ना०शि०, ऋ० प्रा०,

वा० प्रा०, तै० प्रा०, ऋ० तं० आदि में।

2- अधि स्वरे। ऋ० सं० 8/72/7;

स्वरश्च - मा०य० सं० 1/8/1;

3- प्राणः स्वरः - ता०ब्रा० 7/1/1, 17/12/2

प्राणो वै स्वरः- ता०ब्रा० 24/11/9;

4- एष ह वै सूर्यो भूत्वाऽमुष्मिन् लोके स्वरित।

तद्यत् स्वरति तस्मात् स्वरः। गो०ब्रा० 1/5/14;

5- यदाह स्वरो सीति सोमं वा एतदाह। गो०ब्रा०1/5/14,

6- यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।

अत्रस्वरः प्रणवार्थे दृष्टः॥ आपि०शि०सू० 3/7;

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि वैदिक वाङ्•मय में "स्वर" का अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है । परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में "स्वर का उदात्तादि उच्चारण-धर्म के अर्थ में ही अपेक्षित है । वस्तुत: स्वर का दो अर्थ होता है । प्रथम संज्ञा रूप में प्रयुक्त "स्वर" का अर्थ-शब्द विशेष पर जोर देकर किये जाने वाले उच्चारण से है । द्वितीय क्रिया रूप में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ-किसी अक्षर पर जोर देकर उच्चारण करने से है । इस प्रकार यह स्पष्टहोता है कि "स्वर" किसी अक्षर-विशेष को विशेष बल के साथ उच्चरित करने को कहते हैं । इस प्रकार उच्चरित "अक्षर" पर एक विशेष बल का आघात होता है । इसीलिए "स्वर" के लिए "बलाघात" या "स्वराघात" का प्रयोग किया जाता है ।

उदात्तादि स्वरों का स्वरूप एवं उनके प्रकार

शिक्षाग्रंथों के मतानुसार "स्वर का स्वरूप "संगीतात्मक है । स्वर में लयात्मिका, संगीतात्मकता आरोहावरोह और माधुर्य तथा कोमलता होती है । संगीत के सुरग्राम के सात स्वर तीन स्वराघातों से ही चलते हैं- उच्च अर्थात् उदात्त, नीच अर्थात् अनुदात तथा समाहार अर्थात् स्वरित । अक्षर को स्वर कहा जाता है । उदात्तादि स्वर अक्षरों या स्वर वर्णों के धर्म हैं । इसीलिए उदात्तादि स्वर स्वर वर्णों के आश्रय में रहने वाले हैं । ऋ०प्रा० में ऐसा ही उल्लेख मिलता है[1]। उदात्तादि स्वरों का स्वर वर्ण के साथ धर्मधर्मी सम्बन्ध होता है[2]। प्रत्येक "अक्षर"

1- उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचया एवक्षरेषु स्थिता: । ऋ०प्रा०3/2 पर उ०भा०

2- स्वराणामक्षरे: धर्मधर्मीसम्बन्धो न व्यंजने: । ऋ०प्रा०3/2 पर उ०भा०

किसी न किसी स्वर से युक्त होता है। व्यंजन स्वतः उच्चरित होने में सक्षम न होने के कारण किसी न किसी स्वर के आश्रित रहता है। अतः वह जिस स्वर के आश्रय में रहता है, उसके समान स्वर वर्ण वाला माना जाता है। जैसा कि वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में कहा गया है कि व्यंजन जिस स्वर वर्ण का अंग होता है उसी के उदात्तादि स्वर से सस्वर होता है[1]। इसी प्रकार अन्य याज्ञवल्क्यादि शिक्षाओं में भी कहा गया है कि स्वर, उच्च, नीच तथा स्वरित तीन प्रकार का होता है जिनसे व्यंजन सस्वर होते हैं[2]। परन्तु यदि उपर्युक्त तथ्य पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि जो बिना किसी के सहयोग के स्वयं उच्चरित होता है उसे "स्वर" कहते हैं परन्तु उदात्तादि स्वतः उच्चरित न होकर अक्षर का आश्रय लेकर उच्चरित होता है। इसलिए उदात्तादि को "स्वर कैसे माना जाय ? इस प्रकार उदात्तादि का स्वरूप के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न हो सकता है। परन्तु यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि उदात्तादि के स्वर के वास्तविक स्वरूप को "बलाघात" रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः "बलाघात" उदात्तादि का वास्तविक स्वरूप रहा होगा परन्तु कालान्तर में उदात्तादियों के सदैव अक्षराश्रित होकर उच्चरित होने से स्वरों तथा उदात्तादि के परस्पर आश्रयाश्रयी सम्बन्ध होने के कारण उदात्तादि के लिए लक्षणया "स्वराघात" एवं स्वर जैसे पदों का व्यवहार प्रारम्भ हुआ होगा तथा कालान्तर में "स्वर"

1- यत् व्यंजनं च यस्याङ्गं तत्तेन सस्वरं भवेत् । व०र०प्र०शि०49,
अपि च द्र० - व्यंजनं स्वरेण सस्वरम् । वा०प्रा० 1/107

2- स्वरो उच्चः स्वरो नीचः स्वरो स्वरित एव च ।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यंजनं तेन सस्वरम् ।। याज्ञ०शि०।18·
अपि च द्र०-व०र०प्र०शि०86·प्रा०प्र०शि० 13;

पद ही उदात्तादि का वाचक माना जाने लगा होगा ।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि स्वरोच्चारण में "अक्षर" पर लगने वाला बल ही उदात्त, अनुदात्त का मुख्य जनक है । जब इस बल विशेष की अधिकता होती है तब उदात्त एवं जब इसकी न्यूनता होती है तब अनुदात्त होता है तथा दोनों स्वरों के बीच की स्थिति में अक्षर पर लगने वाले बल की न अधिकता होती और न हि न्यूनता तब स्वरित होता है । इस प्रकार मुख्यतः तीन स्वर होते हैं - उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित । जिस स्वर का उच्चारण उच्च स्वर से होता है उसे "उदात्त" जिस स्वर का उच्चारण निम्न स्वर से होता है उसे "अनुदात्त" तथा जो उदात्त एवं अनुदात्त के मेल से बनता है उसे "स्वरित" कहते हैं[1] । अर्थात् गात्रों के उर्ध्वगमन से जो स्वर उत्पन्न होता है वह "उदात्त" कहलाता है । जो स्वर गात्रों के निम्नगमन से उच्चरित होता है उसे "अनुदात्त" कहते हैं तथा दोनों प्रयत्नों के सम्मिश्रण से उच्चरित स्वर "स्वरित कहलाता है । दूसरे शब्दों में जिस वर्ण का उच्चारण करने पर गात्रों का निग्रह, स्वर की दारुणता और कण्ठ की संवृतता होती है वह उदात्त कहलाता है । जिस वर्ण के उच्चारण में गात्रों की शिथिलता स्वर की स्निग्धता और कण्ठ की विवृतता होती है उसे अनुदात्त कहते हैं ।

1- उच्चैरुच्चार्यते यस्तु उदात्त उदाहृतः ।
नीचैरुच्चार्यते यस्तु सोऽनुदात्तोऽभिधीयते ।।
नीचत्वे स्वरितं प्रोक्तस्तयोः सन्धान उच्यते ।। को०शि०
अपि च द्र० -
उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः । चा०व०सू०

स्वर-भेद के सम्बन्ध में शिक्षाग्रन्थों में पर्याप्त मतभेद है । जहाँ पर याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तीनों स्वरों का उल्लेख मिलता है । इसी प्रकार आपिशलिशिक्षा,[2] तथा वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा,[3] में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तीन स्वरों का उल्लेख किया गया है वहीं पर माण्डूकी शिक्षा,[4] स्वराष्टक शिक्षा,[5] शैशरीय शिक्षा[6] तथा कौहली शिक्षा[7] उदात्त, अनुदात्त स्वरित तथा प्रचय-इन चार स्वरों का उल्लेख किया गया है । परन्तु नारदीय शिक्षा[8] में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित प्रचय तथा निघात-इन पाँच स्वरों का उल्लेख किया गया है । "याज्ञवल्क्य शिक्षा" में जहाँ एक ओर तीन स्वरों का

1- उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च तथैव तत्र । याज्ञ0शि01,

2- उदात्तानुदात्तस्वरसन्निपातात् स्वरित इति । आपि0शि022,

3- स्वरो उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च ।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यंजनं तेन सस्वल ।। व0र0प्र0शि086
अपि च द्र0-याज्ञ0शि0।18, प्रा0पु0शि0।3,

4- उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचयस्तथा ।
चतुर्विध स्वरो दृष्टः स्वरचिन्ताविशारदैः ।। माण्डू0शि0

5- उदात्तानुदात्तस्वरित प्रचयाः स्वराः । स्व0अष्ट0शि02/।

6- उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचयस्तथा ।। शै0शि0

7- उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचयस्तथा।
इति चत्वार भागो हि स्वराः प्रोक्ता मनीषिभिः ।। कौ0शि0

8- उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा ।
निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पंचधा । ना0शि0{शि0सं0पृ0422}

उल्लेख है वहीं सात स्वरों का भी उल्लेख मिलता है । ये सात स्वर इस प्रकार हैं - 1- षड्ज 2-ऋषभ, 3- गान्धार, 4-मध्यम 5-पंचम, 6- धैवत तथा 7-निषाद। इसमें कहा गया है कि गान्धर्व वेद में कथित जो षडजादि सात स्वर हैं, उन्हें ही वेद में उदात्तादि स्वर जाना चाहिए[1] । इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए इस शिक्षा में कहा गया है कि षड्जादि सात स्वरों में निषाद और गान्धार, उदात्त रूप हैं, ऋषभ, और धैवत ये दो स्वर अनुदात्त रूप हैं और शेष षड्ज, मध्यम और पंचम नाम वाले स्वर स्वरित रूप है[2]। नारदीयशिक्षा से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है[3]। पाणिनिशिक्षा में तो स्पष्ट कहा गया है कि षड्जादि सात स्वरों की उत्पत्ति उदात्तादि तीन स्वराघात से होतीहै, जिनमें निषाद और गान्धार स्वरों की उत्पत्ति उदात्त से षड्ज और ऋषभ स्वरकी उत्पत्ति अनुदात्त स्वराघात से तथा शेष तीन, पंचम धैवत और निषाद स्वरों की उत्पत्ति स्वरित स्वराघात से होती है[4]। सामगानों में भी सात स्वरो (यमों)का प्रयोग

1- गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः।
    त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उदात्तादयः स्वराः।। याज्ञ०शि०6,

2- उच्चौ निषादगन्धारौ नीचावृषभधैवतौ ।
    शेषास्तु स्वरिताः ज्ञेयाः षड्जमध्यमपंचमाः ।। याज्ञ०शि०7

3- उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ ।
    स्वरितप्रभावा ह्येते षड्जमध्यमपंचमाः ।। ना०शि०(शि०सं०पृ०423)
    अपि च द्र०पा०शि०12,

4- गान्धारको मध्यमपंचजातः षड्जर्षभौ द्वौ निहतोद्भवौ स्त । स पंचमो
    धैवतको निषादःत्रय स्वराश्च स्वरितात्तु जाताः।। पाणि०शि०83,

होता है जिन्हें क्रमशः क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्र और अतिस्वार्थ कहा गया है। इनका सम्बन्ध भी उदात्तादि स्वराघातों से ही है। ऋ०प्रा० में इन्हें "यम" कहा गया है[1]। भाष्यकार उवट कहते हैं कि गान्धर्व वेद में जो षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम धैवत और निषाद है तथा सामगानों में जो क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्र और अतिस्वार्थ हैं ये सभी "यम" कहलाते हैं[2]। तै० प्रा० में उदात्तादि स्वरों को "यम" कहा गया है[3]। अन्य प्रातिशाख्यों में भी सात स्वर भेदों का उल्लेख मिलता है[4]। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी सात स्वरों का ही उल्लेख किया है[5]। परन्तु ऋ०प्रा०मूलतः तीन

1- सप्तस्वरा ये यमास्ते। ऋ०प्रा० 13/44.

2- येते सप्त स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपंचमधैवत निषादाः स्वरा इति गान्धर्ववेदे समाम्नाताः तथा सामसु----क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्रादिस्वार्याः इति ये यमा नाम वेदितव्याः। ऋ०प्रा०13/44 पर उ०भा०

3- यमाः स्वरा उदात्तादय इति यावत्। तै०प्रा० 23/11 पर त्रिभा०

4- सामसु सप्तस्वरानाहुः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपंचम धैवत निषादत्।
वा०प्रा०1/27 पर उ०भा०

4- सप्तस्वराः भवन्ति-उदात्त, अनुदात्ततर, अनुदात्तः अनुदात्ततरः, स्वरितः स्वरिते ये उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः एकश्रुति सप्तमः।
अष्टा०1/2/33 पर पा० महा०

ही स्वरों को स्वीकार किया है[1]।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि शिक्षाकारों तथा प्रातिशाख्यकारों ने तीन पांच सात आदि स्वरों का उल्लेख किया है किन्तु वे स्वर मूलतः तीन ही है - 1-उदात्त 2-अनुदात्त तथा 3- स्वरित ।

उदात्त का स्वरूप एवं उच्चारण-प्रक्रिया -

शिक्षाग्रन्थों में उदात्त के उच्चारण-विधि के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है । कोहलीय शिक्षा में कहा गया है कि जिस स्वर का उच्चारण उच्चस्वर से होता है वह "उदात्त" है[2]। अर्थात् जिस स्वर का उच्चारण ऊपर उठाकर किया जाय उसे "उदात्त" कहते है । कोहलीय शिक्षा में इसके लिए "आयाम" शब्द का प्रयोग किया गया है । उवट ने गात्रों के ऊर्ध्वगमन को "आयाम" कहा है[3]। आयाम के साथ उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है । "याज्ञवल्क्य शिक्षा

1- उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः । ऋ0प्रा0 3/1

2- उच्चैरुच्चार्यते यस्तु स उदात्तः उदाहृतः ।
आयामो दृढता सौक्ष्म्यं गात्रेऽङ्गेषु तथागले ।।
उच्चत्वकारकानेतानाहुः प्राज्ञा विशेषतः । को0 शि0

3- आयामेन ऊर्ध्वगमनेन गात्राणाम् । ऋ0प्रा0 3/1 पर उ0 भा0

में कहा गया है कि वायु के ऊर्ध्वगमन के साथ शरीर के वक्षस्थल का कण्ठ का तथा मुखमध्य का "आयाम" होता है।[1] "कोहलीय शिक्षा" में उदात्तस्वरोच्चारण में गात्रों में दीर्घता या दृढ़ता, स्वरदारुण्य अर्थात् कठोरता, अणुता या सौक्ष्म्यता तथा गलविवर स्वर के उच्चारण स्थानरूपी वृत्त के उच्चतम बिन्दु पर करण के उपक्रम से उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है । इसी प्रकार का कथन तै० प्रा० में भी मिलता है[2]। वस्तुतः "उच्चैः का वास्तविक अर्थ होता है गात्रों की दीर्घता, स्वर की कठिनता, तथा कण्ठ विवर की संवृतता ही स्वर की उच्चता का कारण है । अर्थात् उदात्त के उच्चारण के समय उच्चारणांगों को ऊपर खींचा जाता है ध्वनि को कठोर बनाया जाता है तथा कण्ठविवर को संवृत अवस्था में लाया जाता है । सर्वसम्मत शिक्षा,[3] व्यास शिक्षा,[4] पारिशिक्षा[5] तथा शैशिरीय शिक्षा[6]

1- वायोरूर्ध्वं गच्छतः शरीरस्य वक्षःस्थलस्य कण्ठस्य मुखमध्यस्य च आयामो भवति । याज्ञ० शि०

2- आयामो दारुण्यमणुता स्वस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य । तै०प्रा० 22/9;
'आयामो गात्राणां दैर्घ्यम् दारुणं स्वरस्य कठिनता, अणुता स्वस्य गलविवरस्य संवृतता । एतानि नामधेयानि शब्दस्योच्चैः करणानि शब्दमुच्चैरुदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः । तै०प्रा०22/। पर त्रिभा०

3- यदेतद्दीर्घदीर्घत्वमङ्गानां दृढता च या ।
कण्ठाकारस्य कृशता निमित्तान्युच्च जन्मनि ।। सर्व० शि०

4- यद गात्रदैर्घ्यं दृढता च या ध्वनेस्तथाणुता कण्ठबिलस्य या च । एतानि कुर्वन्ति शब्दमुच्चैः। पारि०शि० 8।

5- नीचस्वरोऽनुदात्तः स्यादुच्चैश्चोदात्तः उच्यते । शै०शि०

आपिशल[1] आदि शिक्षाओं में ऐसा ही उल्लेख मिलता है । पा०शि० सूत्र में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है[2]। कैयट का कथन है कि "उदात्त" स्वर के उच्चारण में उच्चाराङ्गों का ऊपरी भाग वायु-संयोग के कारण क्रियाशील होता है[3]।

अनुदात्त का स्वरूप एवं उच्चारण प्रक्रिया -

कोहलीय शिक्षा में कहा गया है कि जिस स्वर का उच्चारण निम्न स्वर से होता है उसे "अनुदात्त" कहते हैं । अर्थात् जिस स्वर का उच्चारण स्वर ऊपर उठाकर न किया जाये वह अनुदात्त कहलाता है । इस शिक्षा में कहा गया है कि गात्रों की प्रस्रुत,प्रसृता, मृदुता तथा स्थौल्य "अनुदात्त" के उच्चारण में कारक हैं[4]। गात्रों के अधोगमन को प्रसृता कहा जाता है । ऋ०प्रा० में इसके लिए

1- सर्वांगानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठ विलस्य-चाणुत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते ।
आपि०शि०8/20,

2- तत्र यदानुसारि प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां निग्रहः कण्ठ विलस्य चाल्पत्वं, स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् क्षैर्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते । पा०शि० सू० 8/21;

3- उच्चैरुदात्तः । अष्टा० 1//29 ऊर्ध्वभागावाच्छिन्न वायुसंयोगेनेत्यर्थः नागेशः । एकस्मिन् ताल्वादिये स्थाने ऊर्ध्वाधारयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाणः अष्टा० 1/2/29 पर पा०महा० पर कैयट ।

4- नीचैरुच्चार्यते यस्तु सोऽनुदात्तोऽभिधीयते ।।
प्रसृता मृदुता स्थौल्यं गात्रादेः कारकं विदुः ।। को०शि०

"विश्रम्भ" शब्द आया है। "विश्रम्भ" के साथ उच्चरित स्वर अनुदात्त कहा जाता है[1]। "विश्रम्भ" गात्रों का अधोगमन या "अन्ववसर्ग" को कहते हैं। "अन्ववसर्ग" शब्द तै० प्रा० में गात्रों के अधोगमन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1]। अन्वव सर्ग का अर्थ "मार्दव" है। "मार्दव" मृदुता या स्वरस्निग्धता को कहते हैं। अनुदात्त को "मार्दव" कहते है। गात्रों की शिथिलता, स्वर की स्निग्धता तथा कण्ठविवर की सरलता, के कारण अनुदात्त का उच्चारण होता है। अर्थात ये सभी "अनुदात" के उच्चरित होने के लिए कारक हैं। सर्वसम्मत शिक्षा,[3] व्यासशिक्षा[4] तथा शैशरीय शिक्षा,[5] पारि शिक्षा[6] तथा आपिशलि[7] शिक्षा में भी

1- विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्। ऋ०प्रा०3/। पर उ०भा०

2- नीचैरनुदात्तः। तै०प्रा० 1/39, वा०प्रा० 1/107,

अन्ववसर्गो मार्दवम् उरुता खस्येति नीचैःकराणि। तै०प्रा०22/10

अन्ववसर्गो गात्राणां विस्तृता। मार्दवं स्वरस्य स्निग्धता। स्वस्य उरुता कण्ठस्य स्थूलता इत्येतानि साधनानि शब्दस्य नीचैः कारणानि शब्दं नीचमनुदात्तं कुर्वन्ति इत्यर्थः। तै०प्रा०1/39 पर त्रिभा० र०

3- ह्रस्वत्वं यच्च देहस्य त्वङ्गानां मृदुता च या।
कण्ठाकाराममहत्वं च नीचजन्मनि हेतवः।। सर्व० शि०

4- उच्चारणेऽनुदात्तस्य देहस्य ह्रस्वता भवेत्। व्या०शि०

5- नीचस्वरोऽनुदात्तः स्यात्। शै०शि०

6- यद्ह्रस्वता या मृदुता स्वरस्य या विस्तृता कण्ठ विलस्य चेताः। कराणि शब्दं निहतंच नित्यम्। पारि० शि० 82.

7- यदा तु मन्द्रः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्रंसनं कण्ठविलस्य महत्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति, तमनुदात्तं प्रचक्षते। आपि०शि० 8/21.

ऐसा ही उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा सूत्र में भी उल्लेख मिलता है[1]। वस्तुतः अनुदात्त के उच्चारण में तीन बातें घटित होती है - (1) प्रसृता या अन्ववसर्ग या ह्रस्वता या गात्रों की विस्तृता या गात्रों की शिथिलता। (2) मृदुता या मार्दव या मन्द्र या स्वरों की स्निग्धता। (3) स्थौल्य या कण्ठ की स्थूलता या कण्ठविवर की सरलता। "प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा" में कहा गया है कि नीच स्वर से अनुदात्त का उच्चारण किया जाता है[2]। पाणिनि का भी यही मत है[3]। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अनुदात्त के उच्चारण में गात्रों को आरामदेह की अवस्था में रखकर स्निग्ध स्वर से कण्ठ को आराम से विस्तारित करके अनुदात्त का उच्चारण किया जाता है।

स्वरित का स्वरूप और उच्चारण-प्रक्रिया -

"वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा" में स्वरित के स्वरूप के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। इस शिक्षा के मतानुसार जिस स्वर में उदात्त तथा अनुदात्त दोनों स्वर-धर्मों का समावेश होता है, उसे "स्वरित" कहा जाता है[4]। इसी प्रकार

1- यदा मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्राणां प्रसन्नत्वं कण्ठबिलस्य च बहुत्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात्स्निग्धता भवति। तमनुदात्तं प्रचक्षते।
पा0शि0सू08/22;

2- नीचैरनुदात्तः। प्रा0प्र0शि02/3
अधोभागे निष्पन्नः स्वरोऽनुदात्तः स्यात्। प्रा0प्र0शि02/3

3- नीचैरनुदात्तः। अष्टा0 1/2/30

4- उभयवांश्च स्वरितः एकीभावोऽन्ययोर्भवेत्। व0र0प्र0शि090,

"याज्ञवल्क्य शिक्षा" में कहा गया है कि "उदात्त" एवं "अनुदात्त" के संयोग से स्वर "स्वरित" कहलाता है।[1] इसी प्रकार "पाणिनीय शिक्षासूत्र" में "उदात्त" तथा अनुदात्त के सन्निकर्ष से निष्पन्न स्वर को "स्वरित" कहा गया है।[2] "चान्द्रवर्ण" शिक्षा सूत्र में उदात्त तथा अनुदात्त स्वरों के धर्मों के समाहार को स्वरित कहा गया है।[3] "आपि०शिक्षा" में भी "उदात्त" तथा "अनुदात्त" के सन्निपात से उत्पन्न स्वर को "स्वरित" कहा गया है।[4] इसी प्रकार कोहलीय शिक्षा[5] में भी "उदात्त" तथा "अनुदात्त" के सन्धान से उत्पन्न स्वर को स्वरित कहा गया है। "शैशरीय शिक्षा" में भी उदात्त तथा अनुदात्त स्वरों के धर्मों के समाहार को स्वरित कहा गया है।[6] इसी प्रकार का उल्लेख व्यास शिक्षा में भी प्राप्त होता है।[7] "नारदीय शिक्षा" में "स्वरित" स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि उच्च स्वर तथा नीच स्वर के मध्य एक साधारण श्रुति होती है उस स्वार को ही शैक्षिक लोग "स्वरित" कहते हैं।[8] प्रातिशाख्यकारों में स्वरित के

1- उदात्तानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते। याज्ञ०शि० 228;

2- उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात् स्वरित इति। पा०शि०सू०8/23

3- समाहारः स्वरितः। चन्द्र०शि० सू०

4- उदात्तानुदात्तस्वरसन्निपातात् स्वरित इति। आपि०शि० 8/22,

5- नीचत्वे स्वरितं प्रोक्तस्तयोः सन्धान उच्यते। को० शि०

6- नीचस्वरोऽनुदात्तः स्यादुच्चैर्वोदात्त उच्यते।
स्वरितं तत्समाहारस्तदैक्यं प्रचयः स्मृतः॥ शै०शि०

7- भवेत्तत्र समाहारः स्वरितश्चोच्चनीचयोः। व्या०शि०

8- उच्चनीचस्य यन्मध्ये साधारणमिति श्रुतिः।
तं स्वारं स्वरसंज्ञायां प्रतिजानन्ति शैक्षिकाः॥ ना०शि०-{शि०सं०पृ०423}

स्वरूप के सम्बन्ध में परस्पर मतभेद हैं। ऋ0प्रा0 के मतानुसार स्वरित का उच्चारण आक्षेप से होता है।[1] इसके भाष्यकार उवट के अनुसार "आक्षेप" गात्रों के "तिर्यक गमन" को कहते हैं। अर्थात् गात्रों के तिर्यक् गमन के साथ उच्चरित स्वर, स्वरित कहलाता है।[2] इसका अभिप्राय यह है कि वायु के आघात से जब उच्चारणावयवों का तीर्यग्गमन (तिरछे जाना) होता है तभी स्वरित स्वर की निष्पत्ति होती है। परन्तु तै0 प्रा0 एवं अष्टाध्यायी में उदात्त और अनुदात्त के समाहार को स्वरित माना गया है।[3] अर्थात् उदात्त एवं अनुदात्त के मेल से "स्वरित" निष्पन्न होता है। परन्तु यहाँ पर उदात्त और अनुदात्त के संयोग के विषय में शंका होती है कि "स्वरित" में यह संयोग नीरक्षीरवत् माना जाय या जतु-काष्ठवत् माना जाय या किसी अन्य प्रकार का। इस सम्बन्ध में ऋ0प्रा0 के भाष्यकार उवट का कहना है कि जिस प्रकार त्रपु एवं ताम्र से कांसा नामक नवीन धातु निष्पन्न होता है उसी प्रकार से "उदात्त" एवं "अनुदात्त" के संयोग से "स्वरित" नामक स्वर निष्पन्न होता है।[4] स्वरित के स्वरूप के सम्बन्ध में इसी प्रकार का उल्लेख वा0प्रा0 के भाष्यकार में भी किया गया है।[5]

1- उदात्तानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।
आयाम विश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते ।। ऋ0प्रा0 3/1।

2- आक्षेपो नाम तीर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम् । ऋ0 प्रा0 3/1 पर उ0भा।

3- समाहारः स्वरितः । तै0प्रा0 1/40, अष्टा0 1/2/31,

4- यथा त्रपुताम्रयोः संयोग सति कांसस्य धात्वन्तरस्योत्पत्तिरेवमिहापि ।
-ऋ0प्रा03/5 पर उ0भा0,

5- यथा त्रपुताम्रयोः संयोग धात्वन्तरस्य कांसस्योत्पत्तिः----------
एवमुदात्तानुदात्त संयोगे स्वरितोत्पत्तिः। वा0प्रा01/26 पर उ0भा0,

स्वरित के सम्बन्ध में उवट द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त दृष्टान्त युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है क्योंकि कांसे में त्रपु और ताम्र का संयोग उसके प्रत्येक भाग में समान रूप से होता है जबकि "स्वरित" में उदात्त और अनुदात्त के धर्मों का संयोग सभी भागों में समान रूप से नहीं होता है बल्कि उसके आदि भाग में उदात्त तथा उत्तर भाग में अनुदात्त होता है। इसे प्रायः सभी प्रातिशाख्यकारों ने स्वीकार किया है। जैसा कि ऋ० प्रा०[1] में कहा गया है कि उस "स्वरित" की आधी मात्रा अथवा सम्पूर्ण स्वरित का आधा भाग उदात्त से उदात्ततर (उच्चतर) उच्चरित होता है तथा स्वरित का परवर्ती अवशिष्ट अनुदात्त अंश "उदात्त" के समान सुना जाता है। भाष्यकार उवट कहते हैं कि दो स्वरों उदात्त तथा अनुदात्त से निष्पन्न उस स्वरित को पृथक् करके उसकी प्रकृति (उदात्त तथा अनुदात्त) को दृष्टि में रखकर उसका कथन किया जाता है। ह्रस्व स्वर वाले स्वरित के आदि में आधी मात्रा को उदात्त से उदात्ततर (उच्चतर) उच्चरित होता है, यथा- "त्र्यम्बकम्"=त्रिऽअम्बकम्। दीर्घ अक्षर वाले "स्वरित" का आधा भाग अर्थात् एक मात्रा उदात्त से उच्चरित होता है यथा- "तेऽवर्धन्त"। दो मात्रा, वाले (दीर्घ) स्वर वर्ण का यह उदात्त अंश है। स्वरित का परवर्ती अवशिष्ट अनुदात्त चाहे आधी मात्रा वाला हो और चाहे एक मात्रा वाला हो, वह उदात्त के समान सुनाई पड़ता है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "उदात्त" और "अनुदात्त"

1- तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा।
अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः। ऋ०प्रा०3/4-5

2- तस्य स्वरितस्य स्वरस्य पृथक्कृत्य द्विस्वरसंभूतस्य व्युत्पाद्य कथनं क्रियते उदात्ताद् उदात्ततरा आदौ अर्धमात्रा वेदितव्या। अर्धमेव वा द्विमात्रस्यस्वरस्यायमुदात्तांशः कथितः। स्वरितस्य परःशेष अनुदात्तःयद्यर्धमात्रो यदि मात्रिकः स उदात्तश्रुतिः उदात्तवच्छ्रूयते। ऋ०प्रा०3/4-5पर उ०भा०

के सम्मिश्रण से जायमान "स्वरित" की उत्पत्ति त्रपु {सीसा} और ताम्र सम्मिश्रण से जायमान कांसा नामक धातु के समान मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है क्योंकि कांसे प्रत्येक अवयव में त्रपु और ताम्र का सम्मिश्रण समान रूप से अविभाज्य होता है । इसके विपरीत "स्वरित" के प्रत्येक अंश में उदात्त और अनुदात्त धर्मों का सम्मिश्रण समान रूप से अविभाज्य नहीं होता । स्वरित के आदि भाग में उदात्त अंश और बाद में अनुदात्त अंश होता है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कांसे में त्रपु और ताम्र का सम्मिश्रण नीर-क्षीर के समान होता है जबकि स्वरित में उदात्त और अनुदात्त धर्मों का सम्मिश्रण तिल-ताण्डुल अथवा जतुकाष्ठ के समान होता है ।

उपरोक्त कथन की पुष्टि तै०प्रा०[1], वा०प्रा०[2] तथा चतुराध्यायिका[3] से प्राप्त उल्लेख से भी होता है । नारदीय शिक्षा[4] तथा कोहलीय शिक्षा[5] से

1- तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादिनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वम् ।
उदात्तसमः शेषः अनन्तरो वा नीचैस्तराम् ।।
उदात्तसमो वा । आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः ।।
तै०प्रा० 1/4-46;

2- तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम्" वा०प्रा० 1/126,

3- तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् । च०अ० 1/2/32,

4- मात्रिकं वा द्विमात्रं वा स्वर्यते यदिहाक्षरम् ।
तस्यादितोऽर्धमात्रा वै शेषं तु परतो भवेत् ।। ना०शि० {शि०सं०पृ०432}

5- तस्य तु स्वरितस्याद्यमर्धमुच्चैस्तरां विदुः ।
शेषस्यार्धस्य नीचत्वं किंचित्त्वादन्यमिष्यते ।।
केचिदस्यादिमं भागमुदात्तसदृशं विदुः ।
अनुदात्तसमश्शेष एतावन्तो द्विधा स्मृताः ।। को०शि०

भी ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उदात्त तथा अनुदात्त का सम्मिश्रित स्वर होने के कारण इसका उच्चारण उच्चारणस्थानों के उच्चतम या निम्नतम भाग से न करके मध्य भाग से किया जाता है । इस प्रकार इसका उच्चारण तिर्यक्रूपेण किया जाता है ।

स्वरित-भेद (प्रकार)

शिक्षाग्रन्थों में स्वरित-भेद के सम्बन्ध पर्याप्त उल्लेख किया गया है परन्तु शिक्षाग्रन्थों में स्वरितभेद के सम्बन्ध में मतवैविध्य है । किसी शिक्षा में आठ किसी में सात, किसी में पाँच भेदों का उल्लेख मिलता है । याज्ञवल्क्य शिक्षा में आठ स्वरितभेद का उल्लेख मिलता है[1] । जो इस प्रकार हैं - 1-जात्य 2-अभिनिहित 3-क्षेप्र, 4- प्रश्लिष्ट 5- तैराव्यंजन, 6-तैरोविरामक, 7-पादवृत्त तथा 8-ताथाभाव्य। इसी प्रकार वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[2] में भी स्वरित के आठ भेदों का उल्लेख मिलता है

1- अष्टौ स्वरान्प्रवक्ष्यामि तेषामेव च लक्षणम् ।
जात्योऽभिनिहितः क्षेप्रः प्रश्लिष्टश्च तथापरः ।।
तैरोव्यंजनसंज्ञश्च तथा तैरोविरामकः ।
पाद वृत्तो भवेद् तत ताथाभाव्य इति ।। याज्ञ०शि० 75,76

2- अष्टौ स्वरान्प्रवक्ष्यामि तेषामेव च लक्षणम् ।
जात्योऽभिनिहितः क्षेप्रः प्रश्लिष्टस्तदनन्तरम् ।।
तैरोव्यंजन एवाथ तैरोविराम एव च ।
पादवृत्तस्ततस्तद्वत्ताथाभाव्यस्तथाष्टमः ।।
व०र०प्र०शि० 56,57.

स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा[1] में भी स्वरित के सात प्रकार का बतलाया गया है । परन्तु प्रश्लिष्ठ को भी स्वरित के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है । स्वराङ्कुश-शिक्षा[2] में स्वरित को सात प्रकार का कहा गया है । जो इस प्रकार हैं - 1. जात्य, 2. अभिनिहित, 3. क्षैप्र, 4- तैरोव्यंजन, 5. तिरोविराम, 6. प्रश्लिष्ट तथा 7. पादवृत्त । इस शिक्षा में ताथाभाव्य को स्वरित के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया गया है ।[3] इसी प्रकार कौहली शिक्षा[4] तथा नारदीय शिक्षा[45] में भी स्वरित को सप्तविध माना गया है । परन्तु स्वराष्टक शिक्षा में स्वरित को

1- तैरोविरामः क्षैप्रश्च तैरो व्यंजनकस्तथा ।
भाव्योऽभिनिहितो जात्यः पादवृत्तश्च सप्तमः ।।
प्रश्लिष्ट इति विज्ञेया प्रोच्यन्ते लक्षणान्यथ । स्व0भ0ल0शि02,3,

2- जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रस्तैरोव्यंजन एव च ।
तैरोविरामः प्रश्लिष्टः पादवृत्तस्तु सप्तमः ।। स्वरांकु0 शि0।5

3- अत्र शिक्षायां ताथाभाव्यः नोक्तः । स्वराङ्कुश शि0 ।6,

4- स्वराः सप्तविधा ज्ञेया वक्ष्यन्ते ते विशेषतः ।
नित्यक्षैप्रोऽभिनिहितः प्रश्लिष्टः प्रातिहस्तथा।
पादवृत्तस्तथा तैरोव्यंजनस्वरितोऽपि च ।। कौ0शि0 ।।8

5- जात्यः क्षैप्रोऽभिनिहितस्तैरोव्यंजन एव च ।
तिरोविरामः प्रश्लिष्टः पादवृत्तश्च सप्तमः ।।

ना0शि0 (शि0सं0पृ0424),

पाँच प्रकार का कहा गया है ।[1] माण्डूकी शिक्षा में स्वरित के सात प्रकारों का उल्लेख किया गया है ।[2] इसी प्रकार शैशरीय शिक्षा में भी स्वरित के सात प्रकारों का उल्लेख मिलता है ।[3] इसी प्रकार प्रातिशाख्यों में भी स्वरित के भेदों के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है ।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्वरित को कुल आठ भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

1- जात्य स्वरित
2- प्रश्लिष्ट स्वरित
3- क्षेप्र स्वरित
4- अभिनिहित स्वरित
5- पादवृत्त स्वरित
6- तैरोव्यंजन स्वरित
7- तैरोविराम स्वरित
8- ताथाभाव्य स्वरित

1- स्वरितं पंचधा जात्याभिनिहितक्षेप्रप्रश्लिष्टभेदात् ।
इति ऊर्ध्वम् एषां लक्षणानि उक्तानि ।। स्वराष्टकशि0 2/7

2- सप्तस्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामन्यैव बलाबलम् ।
लक्षणानि च सर्वेषाम् युक्तस्तानि निबोध मे ।
अभिनिहितः प्रश्लिष्टो जात्यः क्षेप्रश्चता पादवृत्तश्च।
तैरोव्यंजनःषष्ठास्तिरोविरामश्च सप्तमः।। माण्डू0शि071/72

3- सप्तस्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामेव तु लक्षणम् । शै0शि0232,

4- ऋ0प्रा03/4,7,10
च0अ03/3/55,56,57,58,62, 63,

1- जात्य स्वरित -

शिक्षाग्रन्थों में जात्यस्वरित के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि जहाँ पर एक ही पद में स्वरित से पूर्व अनुदात्त स्वर हो या सर्वथा स्वराभाव हो, यकार अथवा वकार से युक्त हो ऐसे स्वरित को जात्यस्वरित कहते हैं[1]। यथा- धान्यम्, सुप्वा, कन्या, तिल्य, तथा शिक्य इत्यादि में द्रष्टव्य है। इस स्वरित में दो पदों अथवा दो स्वरों का सम्बन्ध नहीं होता है। यह स्वरित उदात्त, अनुदात्त के संयोग से स्वरित भाव को प्राप्त नहीं होता है। यह स्वरित संहिता पाठ के ही समान पदपाठ में भी यथावत् बना रहता है क्योंकि यह "सामान्य स्वरित" या उदात्तपूर्व के समान अपनी सत्ता हेतु पूर्ववर्ती उदात्त पर आश्रित नहीं होता है।

उपर्युक्त उदाहरणों में पाणिनि के मतानुसार "धान्यम्" तथा "कन्या" में क्रमशः "धन् तथा कनि {कन्} धातु में क्रमशः "ण्यत्" तथा "यत्" प्रत्यय का योग है। उणादि वृत्तियों के अनुसार "धान्य" में यत् तथा कन्या में यत् प्रत्ययान्त निपातित है। तित्प्रत्यान्त ये दोनों "तित्स्वरितम"[2] सूत्र से स्वरित हैं।

1- एक पदे नीचपूर्वः सयवो जात्य इष्यते।
अपूर्वोऽपि परस्तद्वद्धान्यं कन्या स्वरित्यापि ।।
नीच पूर्वः सयकारवकारो वा जात्यः स्वरितो भवति।
अपूर्वोऽपि सयकारः सवकारो वा जात्यः स्वरो भवति ।। याज्ञ0शि0 77,78

2- अष्टा0 8/2/3

इन स्वरितों में उदात्त संयोग (स्वरित का) कारण नहीं है । अस्तु ये नित्य, जात्य या स्वतन्त्र स्वरित हैं । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[1] में भी कहा गया है कि एक ही पद में य तथा व से अन्त होने वाले स्वर वर्ण जात्य स्वरित को प्राप्त करते हैं । इसी प्रकार का कथन अन्य शिक्षाग्रन्थों[1] तथा प्रातिशाख्यों[2] में मिलता है ।

1-(क) व्यंजनैस्तु युवौ यत्र प्रयुज्येते ततः परम् ।
अपेर्वो नीच पूर्वो वा जात्यः स उच्यते ।। स्वरा०शि०3,

(ख) सयकारं० सवं वाप्यरं० स्वरितं भवेत् ।
न चोदात्तं पुरस्तस्य जात्यः स्वारः से उच्यते ।।
ना०शि०(शि०सं०पृ०424)

(ग) एकपदे नीचपूर्वः सयवो जात्य इष्यते ।
अपूर्वोऽपि परस्त्वक्त धान्यं कन्यास्वरित्यपि । प्रा०प्र०शि०।5

(घ) एकपदे नीचपूर्वोऽपूर्वो वा यवन्यतरयुक्तो जात्यः । स्वराष्ट०शि०7

(ङ) सयकारंसववाऽप्यक्षरं स्वरितंभवेत् ।
न चोदात्तं पुरस्तस्य जात्यः स्वर्दृत्य एव तु ।। माण्डू०शि०75

2- अतो न्यत्स्वरितं स्वारं जात्यमाचक्षते पदे । ऋ०प्रा० 3/8
सयक्कारवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थितेपदे अनुदात्तपूर्वपूर्वे वा नित्ये इत्येव जानीयात् । तै०प्रा०20/2,
एकपदे नीचपूर्वः सवयो जात्यः । वा०प्रा० 1/111
वेनुदात्तपूर्वात्संयोगयवान्तात्स्वरितं परमपूर्व वा जात्यः ।
च०अ०3/57;

2- प्रश्लिष्ट स्वरित -

याज्ञवल्क्य शिक्षा से प्राप्त उल्लेखानुसार जहाँ उदात्त तथा अनुदात्त के इकार का सवर्णदीर्घ हो वहाँ पर सवर्ण दीर्घ निष्पन्न ईकार को "प्रश्लिष्ट स्वरित" कहते हैं।[1] यथा- अभि इन्धताम् - अभीन्धताम्। इस उदाहरण में इवर्ण उदात्तपूर्वा तथा अनुदात्त पर दोनों में ह्रस्व है तथा दोनों के संयोग से स्वरित निष्पन्न हुआ है। दो समान स्वरवर्णों के मिलने से जो संधि होती है उसे "प्रश्लिष्ट सन्धि" कहते हैं। "प्रश्लिष्ट संधि" से निष्पन्न स्वरित "प्रश्लिष्ट स्वरित" कहलाता है। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[2] स्वराङ्कुश शिक्षा[3] प्रातिशाख्य-प्रदीप शिक्षा[4] नारदीय शिक्षा[5] तथा अन्य शिक्षाओं में भी ऐसा ही उल्लेख। मलन r

---

1- इकारो यत्र दृश्येत् इकारेणैव संयुतः।
उदात्तश्चानुदात्तेन प्रश्लिष्टो भवति स्वरः ।। याज्ञ०शि० 80,

2- उच्चः पूर्वपरो नीचः इकारो न्योन्यसंगतः।
प्रश्लिष्टो सस्वारो ज्ञेयः । व०र०प्र०शि०63,

3- इकारः उच्चपूर्वस्मिन्परास्मिन्नियतः स च ।
प्रश्लिष्टमाहराचार्याः स्वरवर्णविदस्तदा ।। स्वरा०शि०6,

4- इकारो दृश्यते यत्र इकारेण च संयुतः।
उदात्तश्चानुदात्तेन प्रश्लिष्टो भवति स्वरः।। प्रा०प्र०शि०18,

5-क- इकारं यत्र पश्येयुरिकारेणैव संयुतम्।
उदात्तमनुदात्तेन प्रश्लिष्टं तं निबोधत । ना०शि०{शि०सं०पृ०225}

ख- उदात्तानुदात्तयोर्ह्रस्वयोः स्थानेऽइकारः प्रश्लिष्टः ।। स्वराष्ट०शि०10

ग- इकारं यत्रपश्येयुरिकारेणैव संयुतम् ।
उदात्तोऽप्यनुदात्तस्य प्रश्लिष्टोऽभीन्धतामपि ।। माण्डू०शि०74,

है। इसी प्रकार प्रातिशाख्यों[1] में भी उल्लेख मिलता है।

3- क्षैप्र स्वरित -

जहाँ पर उदात्त इकार तथा उकार के स्थान पर यकार तथा वकार हुआ हो, तथा उससे परवर्ती अनुदात्त स्वरित होता है तो उसे "क्षैप्र स्वरित" कहते हैं। यथा- त्रि+अम्बकम्=त्र्यम्बकम में। याज्ञवल्क्य शिक्षा[2] से प्राप्त उल्लेख से इस कथन की पुष्टि होती है। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[3] तथा स्वरांकुश आदि शिक्षाओं[4] में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार का उल्लेख नारदीय

1- इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च।
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत् ।। ऋ0प्रा03/13,
इवर्णयोः उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः। वा0प्रा0 1/116,
इकारयोः प्रश्लिष्टः। च0अ0 3/56;

2- इ उवर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
अनुदात्ते परे नित्यं विद्यात् क्षैप्रस्य लक्षणम् ।। याज्ञ0शि0 70.

3- यवाभ्यां चैव संयुक्तौ तदा क्षैप्रः स्वरो भवेत्। व0र0प्र0शि0 62,

4-(क) उ वर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित्।
अनुदात्ते परेनित्यं विद्यात् क्षैप्रस्य लक्षणम् ।। स्वरां0 शि05,
(ख) इ उवर्णौ यदोदात्तावा पद्येते यवौ क्वचित्।
अनुदात्ते परे नित्यं विद्यात् क्षैप्रस्य लक्षणम् ।। प्रा0 प्र0शि017,
(ग) उदात्तइइउस्थाने यवयोः परोऽनुदात्तः क्षैप्रः। स्वराष्ट0 शि09
(घ) इउवर्णौ यदोदात्तावापद्येते यवौ क्वचित।
अनुदात्तप्रत्यये स्यादिति क्षैप्रस्य लक्षणम्। माण्डूकी शि076;

शिक्षा[1] से भी प्राप्त होता है। जैसा पाणिनि व्याकरण में उल्लेख किया गया है कि इ, उ, ऋ लृ के बाद यदि असमान स्वरवर्ण आये तो संधि होने पर उक्त स्वरवर्णों के स्थान में क्रमशः य् व् र् ल् हो जाता है तथा इसे यण् सन्धि कहा जाता है[2]। इसे ही वैदिक प्रक्रिया में क्षैप्र संधि कहा जाता है। क्षैप्र संधि के इस स्थल में य व आदेश को प्राप्त इ उ के उदात्त होने पर परवर्ती अनुदात्त को स्वरित हो जाता है, जिसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं। प्रायः सभी प्रातिशाख्यों में भी क्षैप्र स्वरित-की इस प्रक्रिया का दर्शन होता है।[3]

1- इ उवर्णौ यदोदात्तवापद्येते यवौ क्वचित् ।
अनुदात्ते प्रत्यये नित्यं विधात्क्षैप्रस्य लक्षणम् ।

नाoशिo§शिoसंoपृo425§

2- इकोयणचि । सिo कौo 6/1/77,
अपि चo द्रo - ऋoप्राo 2/21, वाoप्राo 4/47, चoअo3/39,
इवर्णोकारौ यवकारौ । तैoप्राo 10/15,

3- इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च ।
उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्येवमाचरेत् ।। ऋoप्राo3/13,
इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्र उदात्तयोः । तैo प्राo2/1,
युवर्णौ सवौ क्षैप्र । वाoप्राo 1/105,
अन्तस्थापत्तावुदात्तस्यानुदात्ते क्षैप्रः । चoअo 3/58,

4• अभिनिहित स्वरित -

याज्ञवल्क्य शिक्षा में अभिनिहित स्वरित के सम्बन्ध में कहा गया है कि जहाँ उदात्त एकार अथवा ओकार से परवर्ती अनुदात्त अकार के पूर्व रूपेण लुप्त हो जाने पर जो स्वरित निष्पन्न होता है, उसे "अभिनिहित स्वरित कहते हैं, यथा "कुक्कुट:असि" "कुक्कुटोऽसि" ते अवन्तु- तेऽवन्तु इत्यादि में। "अभिनिहित स्वरित" के इस प्रक्रिया का दर्शन वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[2] स्वरांकुश, शिक्षा[3] नारदीय शिक्षा[4] प्रातिशाख्य प्रदीपिका शिक्षा[5] माण्डूकी शिक्षा[6] तथा स्वराष्टक शिक्षा[7] तथा स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा[8] में होता है। वस्तुत: जहाँ पदादि अकार पूर्वपदान्त एकार और

1• ए ओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो रिफितश्च य:।
अकारो लुप्यते तत्र तं चाभिनिहितं विदु:। याज्ञ० शि० 78

2• ए ओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो नीच एव च।
लुप्यते संधिकार्ये यत्तं चाभिनिहितं विदु:। व०र०प्र०शि०60

3• एदातोरुच्योर्यत्र नीचोऽकार: परो मपि।
एकीभावे भवेतत्र स्वोदऽभिनिहितस्तदा। स्वरां० शि०-4

4• ए ओ आभ्यामुदात्ताभ्यमकारोऽभिनिहितश्चय:।
अकारं यत्र लुम्पति तमभिनिहितं विदु:।। ना०शि० § शि०सं० पृ० 42

5, एदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहित:।
: एकारौकाराभ्यामुदात्ताभ्याम्परोऽकारोऽनुदात्ता यत्र लुक्
लुप्यते तत्राभिनिहित: स्वरो भवति। प्रा० प्र० शि०§ शि० सं० पृ० 213

ओकार से मिलकर एक हो जाता है, तब वहाँ पर एकार और ओकार संधि रूप में विद्यमान रहते हैं तथा पदादि अकार का लोप होकर उसका संकेतक चिह्न (ऽ) ही अवशिष्ट रहता है। उसे वैदिक व्याकरण में "अभिनिहित संधि" की संज्ञा प्रदान किया है।[9] इन "अभिनिहित संधियों" के सं- में

---

6. ए ओ आभ्यामुदात्ताभ्यामकारो रेफितश्च यः।
अकारं यत्र लुप्यति तमभिनिहितं विदुः। माण्डू० शि० 73

7. उदात्तादोदेशचोऽभिनिहितस्वरितो भवत्यकार लोपे सति।
स्वराष्ट शि० 2/8

8. अकारएकोदात्तेन रेफमापद्यतो भवेद्।
तंचाभिनिहितं प्राहुः कुक्कुटोऽसि निदर्शनम्। स्व० भ० स० शि०8

9. अथाभिनिहितः संधिरेतैः प्राकृतवैकृतैः
एकीभवति पदादिरकारस्तेऽत्र संधिजः। ऋ० प्रा० 2/34
लुप्यते त्वकार एकारोकारपूर्वः। तै० प्रा० 11/1
एदोदभ्यां पूर्वमकारः। वा० प्रा० 4/62

जब एकार और ओंकार "उदात्त" तथा परवर्ती अकार अनुदात्त होता है तो इनका संधिज स्वर "स्वरित" हो जाता है जिसे संधि नामानुसार "अभिनिहित स्वरित" कहते हैं।[1] इस प्रकार का उल्लेख प्राय: सभी प्रातिशाख्यों में मिलता है।

5. पादवृत्त स्वरित या वैवृत स्वरित -

जहाँ पर स्वरित स्वर वर्ण से पूर्व कोई स्वर हो तथा उनमें सन्धि न हो तो उस स्वरित को "पादवृत्त स्वरित" कहते हैं। दो स्वरवर्णों के मध्य जब सन्धि नहीं होती है तो उसे "विवृत्ति" कहते हैं।[2] इस प्रकार विवृत्ति में होने वाले "स्वरित" को "वैवृत स्वरित" या पादवृत्ति स्वरित कहते हैं। वस्तुत: पदान्त और पदादि दो स्वरवर्णों के मध्य विद्यमान काल व्यवधान को विवृत्ति कहते हैं।[3] विवृत्ति संज्ञक व्यवधान होने

---

1. इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च।
   उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत्। ऋ0 प्रा0 3/39
   तस्मादकारलोपे अभिनिहित:। तै0 प्रा0 20/4
   एवोद्भ्यामकारोऽलगाभिनिहित:। वा0 प्रा0 1/114
   एकारौकारौ पदान्तौ परतोऽकारं सोऽभिनिहित:।
   च0 अ0 3/35

2. द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये संधि यत्र न दृश्यते।
   विवृत्ति तत्र विज्ञेया य इशेति निदर्शनम्। याज्ञ0 शि0 94

3. तेन विवेकेन पृथग्भावेन वर्तते इति विवृत्तिरिति।

पर जब पदान्त उदात्तस्वर के प्रभाव से पदादि अनुदात्तस्वर स्वरित हो जाता है तो उसे विवृत्ति स्थल में विद्यमान होने के कारण "वैवृत स्वरित" या "पादवृत्त स्वरित" कहते हैं। यथा "श्विव्र आ॑दित्यम्" में इस कथन की पुष्टि याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] से प्राप्त उल्लेख से होता है। इसी प्रकार का उल्लेख वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[2] स्वरांकुश शिक्षा[3] प्रातिशाख्य प्रदीपि शिक्षा[4] नारदीय शिक्षा[5] तथा माण्डूकी शिक्षा[6] में प्राप्त होता है।

+. विवृति: । या० शि० (शिक्षावल्ली) पृ० 93

विवरणं विवृत्ति: स्वरयो: पृथगुच्चारणम् । पा० शि० पंजिका

स्वरान्तरं तु विवृत्ति: । ऋ० प्रा० 2/3

1. स्वरयोरन्तरे काले विवृत्ति दृश्यतेयदि ।

स: स्वार: पादवृत्त: स्यात्काडईमिति निदर्शनम् ।

याज्ञ० शि० 83

2. स्वरयोरन्तरे यत्र विवृत्तिर्यदि दृश्यते ।

स पदावृत्त : इत्याख्य: काईमरे निदर्शनम् । व० र० प्र० शि० 67

3. स्वरे चेत्स्वरितं यत्र विवृत्या तत्र संयुतम् ।

एतत्तुपादवृत्तस्य लक्षणं शास्त्रनिश्चितम् । स्वरां० शि० 2,

4. स्वरे च स्वरिते चैव विवृत्तिर्दृश्यते यदि ।

पादवृत्तो भवेत्स्वार: ----- ।। प्रा० प्र० शि० 21,

स्वरयोरन्तरकाले विवृत्तिर्यत्र दृश्यते ।

स स्वार: पादवृत्त: स्यात् काडईमिति निदर्शनम् ।

प्रा० प्र० शि० 22

5. स्वरे चेत्स्वरितं यत्र विवृता यत्र संहिता ।

विवृत्ति दो पदों के स्वरों के मध्य होती है, अतः पदमध्य में होने के कारण इससे जायमान स्वरित को "पादवृत्ति स्वरित" कहते हैं। इस कथन की पुष्टि प्रातिशाख्यों से प्राप्त उल्लेख से होती है।

6. तैरोव्यंजन स्वरित-

जहाँ उदात्त से पर में आने वाले व्यंजन युक्त स्वरित को तैरोव्यंजन स्वरित" कहते हैं। यथा "अग्निमीडे, "रत्नं" "हव्यं" इत्यादि में "उदात्तानुदात्तस्य स्वरितः"[2] इस पाणिनीय सूत्रानुसार स्वरित हुआ है। वस्तुतः व्यंजन के अन्तर्धान या व्यंजन के व्यवधान को "तैरोव्यंजन" कहते हैं। जहाँ पूर्ववर्ती उदात्त तथा परवर्ती अनुदात्त के मध्य व्यंजन का व्यवधान होने पर भी स्वरित हो जाता है वहाँ उस स्वरित को "तैरोव्यंजन-स्वरित" कहते हैं। इस कथन की पुष्टि याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] से प्राप्त उल्लेख से

\+ एतत्पादान्तवृत्तस्य लक्षणं शास्त्रचोदितम् ॥ ना०शि० शि०स०पृ० 426

6. स्वरिते स्वरितम् यत्र विवृत्या यत्र संहिता ।

तं पादवृत्तं जानीयात्ते त्वस्मिन्यवमादधुः । माण्डू०शि० 77

-----

1. विवृतौ भवो वैवृत्तः । ऋ० प्रा० 3/18 पर उ०भा०

पदयो विवृत्तिः पदविवृत्तिः । तस्यां च स्वर्यते स पादविवृत्तिः भवति । तै० प्रा० 20/6

उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्या व्यंजनेन वा ।

स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम् । ऋ० प्रा० 3/17

होती है । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[1] स्वरांकुश शिक्षा[2] प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा[3], नारदीय शिक्षा[4] तथा माण्डूकी शिक्षा[5] में ऐसा ही उल्लेख मिलता है । इसी प्रकार प्रातिशाख्यों में[6] भी उल्लेख मिलता है ।

विवृत्तिलक्षण पादविवृत: । वा0 प्रा0 1/119

विवृतौ पादवृत्त: । च0 अ0 3/63

2· सि0कौ0 8·4·66

3· उदात्तपूर्वो यत्किंचिद् व्यंजनने युत: स्वर: ।

एष सर्वबहु:स्वार स्तैरोव्यंजन उच्यते । याज्ञ0 शि0 8।

1· उदात्तपूर्वो यत्र स्यान्नीचो व्यंजनसंयुत: ।

स तैरोव्यंजन इति स्वरोभवति ।तद्यथा । व0र0प्र0शि 64

2· उदात्तपूर्वयत्किंचिच्छन्दसि स्वरितं भवेत् ।

एष सर्वबहुस्वारस्तैरोव्यंजन एव च ।। स्वरा0शि0 10

3· उदात्त पूर्व यत्किंचित व्यंजनेन च संयुत: ।

एष सर्व बहु: स्वार: तै रोव्यंजन संज्ञक: ।। प्र0प्रा0शि0 19

4· उदात्तपूर्व यत्किंचित छन्दसि स्वरितं भवेत् ।

एष सर्व बहुस्वार स्तैरोव्यंजन उच्यते ।।

§ ना0 शि0§ शि0 सं0 पृ0 425 §

5· उदात्तपूर्वे सार्दे तु द्वितीये अक्षरे तु य: ।

तैरोव्यंजन इत्येष सार: स्याददधिमद्धिवति । माण्डू0 78

6· उदात्तपूर्वस्तैरोव्यंजन: । तै0 प्रा0 20/7

स्वरो व्यंजनयुस्तैरोव्यंजन: । वा0 प्रा0 1/117

7• तैरो विराम स्वरित-

जहाँ उदात्त से पर में आने वाले स्वरित परन्तु मध्य में अवग्रह हो तो उसे तैरो विराम स्वरित" कहते हैं । यथा- " गोपता विति गोऽपतौ में गो तथा पति शब्दके समास में " पत्यावैश्वर्ये"[1] इस पाणिनि सूत्र से ...से गोपति शब्द आधुदात्त होता है। तदनन्तर उदात्त आंकार से परवर्ती यकारो त्तरवर्ती अकार उदात्तानुदात्तस्य स्वरित:"[2] सूत्र से स्वरित हो गया है । जब इसका पदपाठ में अवग्रह करते हैं तब यह स्वरित तैरो व्यंजन स्वरित कहलाता है । इस कथन की पुष्टि याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] से प्राप्त उल्लेख से होती है । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[4] स्वरांकुश शिक्षा[5] प्रातिशाख्य-

---

1• सि0 कौ0 6•2•18

2• सि0 कौ0 8•4•66

3• उदात्तावग्रहाषस्तु स्वरित: स्यादनन्तर: ।
तैरो विराम ते विद्यात्तैरो व्यंजनमन्यथा ।
याज्ञ0 शि0 82

4• उदात्तावग्रहो यत्र स तु तैरो विरामक: । वर0र0प्र0शि0 65

5• अवग्रहात्परं यत्र सवरितस्स्यादनन्तर: ।
तैरो विरामं तं विद्यादुदात्तो यद्यवग्रह: । स्वरां शि0 ।।

प्रदीप शिक्षा-[1] नारदीय शिक्षा,[2] तथा माण्डूकी शिक्षा[3] में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है। वस्तुत: विराम के व्यवधान को तैरो विराम कहते हैं। जिस प्रकार से विवृत्ति तथा व्यंजन से व्यवहित होने पर भी उदात्त के बाद में आने वाला अनुदात्त स्वरित होता है उसी प्रकार "अवग्रह" से व्यवहित होने पर भी "उदात्त" से बाद में आने वाला "अनुदात्त" स्वरित हो जाता है जिसे तैरो विराम स्वरित कहते हैं। संहिता पाठ के एक पद को जब पदपाठ में अवग्रह द्वारा दो पद्यो में पृथक् कर दिया जाता है तब उन दो पद्यों के उच्चारणों के मध्य में एक मात्रा का व्यवधान होता है। एक मात्रा काल का व्यवधान होने पर पूर्वपद्यके अन्तिम "स्वर" के उत्तर पद्य के प्रथम स्वर पर प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए किन्तु उदात्त और अनुदात्त के

---

1. उदात्तावग्रह स्तैरो विरामसंज्ञक: स्यात् ।
   अयं च समस्तपदेषु भवति । प्रा0प्र0शि0 20

2. अवग्रहात्परं यत्र स्वरितं स्यादनन्तरम् ।
   तिरो विरामं तं विद्यादुदात्तो यद्यवग्रह: ।। ना0 शि0 5
   {शि0सं0 पृ0 425}

3. अवग्रहात्परं यत्र स्वरितम् स्यादनन्तरम् ।
   तिरो विरामं जानीयात्प्रजापति निदर्शनम् ।
   माण्डू0 शि0 79

मध्य अवग्रह का व्यवधान होने पर भी वह स्वरित हो जाता है । इसे ही " तैरो विराम स्वरित " कहते हैं । वैसा ही उल्लेख प्रातिशाख्यों में मिलता है[1] ।

8• ताथा भाव्य स्वरित -

जहाँ अनुदात्त अवग्रह से पूर्व तथा पश्चात् दोनों तरफ उदात्त हो तो उस अनुदात्त स्थल पर जायमान स्वरित " ताथाभाव्य स्वरित " होता है । यथा- तनूनप्त्रइति तनू । नप्त्रे में तनू शब्द तथा नप्तृ शब्द में "उभेवनस्पत्यादिषु युगपत्" । इस सूत्र से उभयपद प्रकृति स्वर से उभय आद्युदात्त होने से शेषनिघात होने से नकारोत्तरवर्ती अकार का अनुदात्त हो जाने से उसके स्थान पर " जात्यवद्वा तथा वान्तौ तनूशावीति पूर्वयो:" इस सूत्र से स्वरित का विधान हो जाता है यह स्वरित्व पदपाठ में अवग्रह की स्थिति में होता है परन्तु संहितापाठ में अनुदात्त ही रहता है । यह स्वरित उदात्तद्वय मध्यवर्ती होता है । ऐसा ही उल्लेख याज्ञवल्क्य शिक्षा[2] में मिलता है । माध्यन्दिनशाखा में तो उपर्युक्त स्थल पर अवग्रह होने पर भी अनुदात्त ही रहता है । अत: यह " ताथाभाव्याख्य स्वरित" शिक्षाग्रन्थों में माध्यन्दिन शाखा के विरोध में कहा गया है[3] । उपर्युक्त " ताथा भाव्य स्वरित "

1• ऋ0 प्रा0 3/24

उदवग्रहस्तैरो विराम: । वा0 प्रा0 1/118

2• उदात्ताक्षरयोर्मध्ये भवेन्नीचस्त्ववग्रह: ।

ताथाभाव्यो भवेत्स्वारस्तनूनप्त्रे निदर्शनम् । याज्ञ0 शि0 86

3• माध्यन्दिनविरोधी स्यात्ताथाभाव्यस्तु य: स्वर: ।
स्वरौ चैवात्र दृश्येते भिन्नोदात्तानुदात्त कौ ।। याज्ञ0शि0 87

सम्बन्धी विधान वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा,[1] प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा[2] तथा माण्डूकी शिक्षा[3] में भी मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जब दो उदात्तों के मध्य में अनुदात्त होता है तो वह उदात्तपूर्व "अनुदात्त" स्वरित हो जाता है जिसे ताथाभाव्य स्वरित "कहा जाता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है कि "ताथाभाव्य" अर्थात् वैसा ही उसी प्रकार, ज्यों का त्यों रहने वाला स्वरित है। उपर्युक्त उदाहरण में नु का स्वर अनुदात्त है, उसे पूर्व "त" तथा बाद में "न" के स्वर उदात्त है। इसमें दो उदात्तों के मध्य में विद्यमान "नु" का अनुदात्त स्वर "स्वरित हो जाना चाहिए परन्तु वैसा ही बना रहता है। यह व्यवस्था केवल माध्यन्दिन शाखा में ही होती है। इसलिए अन्यशिक्षाओं ग्रन्थों में "ताथाभाव्य स्वरित" का उल्लेख नहीं मिलता है। "ताथाभाव्य स्वरित" के सम्बन्ध में उपर्युक्त विधान प्रातिशाख्यों में भी मिलता है।[4]

---

1. उदात्तादिस्दात्तान्तो नीचोऽवग्रहः पद च।
   ताथाभाव्यो भवेद् कम्पस्तनूनप्त्रेनिदर्शनम्। व0र0प्र0शि0 68
2. उदात्ताक्षरयोर्मध्ये भवेन्नीचस्त्वग्रहः।
   ताथाभाव्यो भवेत्स्वारं ।। प्रा0 प्र0 शि0 23
3. द्वयोरुदात्तयोर्मध्ये नीचोऽस्ति यदवग्रह।
   ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनपान्निदर्शनम् ।। माण्डू0शि0 80
4. उदाद्यन्तोन्यवग्रहस्ताथाभाव्यः। वा0 प्रा0 1/120

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक स्वरित किसी विशेषपरिस्थित जन्य है । इस स्थितियों के आधार पर उपर्युक्त स्वरितो को तीन भागों कुछ इनमें कुछ जात्य अर्थात् नित्य स्वरित है, कुछ संधिजन्य स्वरित हैं तथा कुछ उदात्तपूर्व सन्धि हैं । इस प्रकार जात्यस्वरित के अन्तर्गत एकमात्र जात्य स्वरित ही आता है । संधिज स्वरित के अन्तर्गत प्रश्लिष्ट, क्षेप्र तथा अभिनिहित स्वरित आते हैं । इसी प्रकार उदात्तपूर्व स्वरित के अन्तर्गत पादवृत्त, तैरोव्यंजन, तैरोविराम तथा ताथाभाव्य स्वरित आते हैं ।

प्रचय

शिक्षाग्रन्थों में प्रचय के सम्बन्ध मेंप्रर्याप्त उल्लेख मिलता है । "पंचम" को एक श्रुति,[1] "उदात्तश्रुति, "अनुदात्तश्रुति", प्रचित, "प्रच", "निचित" उदात्तसम्" आदि नामो से जाता है[2] । याज्ञवल्क्य शिक्षा[3]

---

1. एकश्रुत्यं प्रचयनामकं स्वरम् । ऋ0 भा0 1.1.1
2. स्वरितात्परमनुदात्तमेकमनेकं वा क्षरगुदात्तवद् ।
   एक श्रुत्या उच्चारणीय स्यात् । अयमेव प्रचय, प्रचित:
   प्रचो विचिता उदात्तमय: इति वैदिके: व्यवह्रियते ।
   {प्रा0 प्र0 शि0} शि0सं पृ0 216 }
3. स्वरितादुत्तरे य च प्रचया स्तान्प्रचक्षते ।
   एकस्वरानपि च तानाहुस्तत्वार्थचिन्तका: । याज्ञ0 शि0 109

में कहा गया है कि "स्वरित" के बाद में आने वाला एक या अनेक " अनुदात्त " को तत्त्वार्थचिन्तकों ने " प्रचय" कहा है । स्वरित के बाद में आने वाले अनुदात्त को अंकित छोड दिया जाता है, जिसको " प्रचय" कहा जाता है। यथा- आयवंस्व", "अग्ने अङ्गिर" वाज्वाजे वव्" इत्यादि में । वर्णरत्न-प्रदीपिका शिक्षा,[1] प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा[2] में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है। इसीप्रकार स्वरांकुश शिक्षा,[3] स्वराष्टक शिक्षा,[4] नारदी शिक्षा[5] तथा माण्डूकी शिक्षा[6] में भी उल्लेख प्राप्त होता है । ऐसा हीउल्लेख प्रातिशाख्यों

1• स्वरितादनुदात्तं यत्तत्सर्वं प्रचयाह्वयम् । व०र०प्र०शि० 76
उदात्तस्वरितपरप्रचितस्यापि नित्यश: । व०र०प्र०शि० 82

2• प्रचयस्वरलक्षणमाह । स्वरितात्परमनुदात्तमुदात्तमयमेकमनेकं वा ।।
प्रा०प्र०शि० 18 (शि०सं० पृ० 216

3• उदात्तात्स्वरिताधस्य स्वरितोदात्तवच्छ्रुति: । स्वरां शि० 9

4• स्वरितादनुदात्तानां प्रचय: । स्वराष्ट० शि० 16

5• यएवोदात्तइत्युक्त: सएव स्वरितात्पर: ।
प्रचय प्रोच्यते तज्ज्ञै------ ।। ना०शि० (शि०सं० पृ० 422)

6• स्वरितात्परापि यानि स्युरनुदात्तान्युदात्तवत् ।
स्वर्गाणिप्रचयं यान्ति------ ।। माण्डू० शि० 57

में भी मिलता है । [1] प्रचय में उदात्त तथा अनुदात्त का संयोग "क्षीरक्षीरवत्" तथा " गुडदधिवत्" होता है अर्थात् मिलकर एकीभाव को प्राप्त हो जाता है । इस कथन की पुष्टि याज्ञवल्क्य शिक्षा " से प्राप्त उद्धरण से होता है । [2] इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में प्रचय के स्वरूप के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। प्रचय का उच्चारण उदात्त के समान होता है इस प्रकार उच्चारण की दृष्टि से उदात्त" और प्रचय समान होते हैं । परन्तु इनमें कुछ अन्तर भी पाया जाता है । उदात्त कभी भी अनुदात्त नहीं होता है जब कि प्रचय उदात्त या स्वरित बाद में होने पर" अनुदात्त" हो जाता है । इसी लिए प्रचय स्वर के ज्ञान के लिए स्वरित के बाद में आने वाले एक या अनेक स्वरों के बाद उदात्त या स्वरित हो तो पूर्ववर्ती प्रचय को अनुदात्त कर दिया जाता है । ताकि दोनों उदात्त और प्रचय की पहचान बनी रहे । इस हेतु प्राय: प्रचय को अनुदात्तचिह्न (5) द्वारा अंकित किया जाता है ।

---

1. (क) स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचय: स्वर: ।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा ।। ऋ प्रा0 3/19,

(ख) स्वरितात्संहितायां अनुदात्तानां प्रचय: उदात्तश्रुति: । तै0 प्रा0 21/

(ग) स्वरितात्परमनुदात्त उदात्तमयम् । अनेकमपि वा ।वा0 प्रा0 4/141

(घ) स्वरितात् अनुदात्त: उदात्तश्रुति । च0अ0 3/71

(ङ) तस्मादुच्चश्रुतीन् । ऋ0 तं0 6/1

2. (क) उदात्तानुदात्तस्वरितानां पर: सन्निकर्ष: ऐकश्रुत्यम् ।
आ0श्रौ 1/2

(ख) स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदस्तिरोधानमेकश्रुति:।
काशि0 वृ0 1·2·33

कम्प विचार

यह सुनिश्चित है कि स्वरित में पूर्व में उदात्त का अंश तथा पर में अनुदात्त का अंश रहता है परन्तु यह सुनिश्चित नहीं है कि "स्वरित के अनुदात्त अंश का सर्वत्र एक समान श्रुति हो । जहाँ पर स्वरित से पर उदात्त अथवा स्वरित होता है वहाँ इस अनुदात्त अंश का श्रवण पृथक् होता है अर्थात् उस उदात्त अनुदात्त भाग का पार्थक्य हो जाता है । परन्तु जहाँ स्वरित से पर अनुदात्त होता है तो उस स्वरित के एकादेशभूत अनुदात्त का पृथक् प्रदर्शन नहीं होता है बल्कि उदात्तश्रुति (प्रचय) ही होती है । जैसा कि ऋ० प्रा० में कहा गया है कि स्वरित का परवर्ती अवशिष्ट" अनुदात्त" अंश उदात्त के समान सुना जाता है । स्वरित का अनुदात्त अंश तभी उदात्त के समान सुना जाता है यदि उस स्वरित के बाद में विद्यमान अक्षर उदात्त अथवा स्वरित उच्चारित न हो । अर्थात् यदि उस स्वरित के बाद में उदात्त या स्वरित न हो[1] । बक्ष

(ग) सैषा ज्ञापकाभ्यामुदात्तनुदात्तयोर्मध्येमेकश्रुतिरन्तरालं क्रियते ।
म०भा० 1/2 33.

(घ) क्षीरोदकमवदुदात्तानुदात्तयोर्भेदितिरोधानेमेकश्रुतिरित्यर्थः ।
स्वरिते तु विभागेन तयोपलब्धि । म०भा० 1·2·33 पर कैय्यट

1· अनुदात्तःपरः शेषः स उदात्तश्रुतिर्नवित् ।
उदात्तं वोच्यते किंचित्स्वरितं वाऽक्षरं परम् ।। ऋ० प्रा० 3·5,6

ध्यातव्य है कि उपर्युक्त स्वरितघटक के अनुदात्त अंश का ही केवल "उदात्तश्रुति" नहीं होती वल्कि स्वरित के परवर्ती प्रचय संज्ञक अनुदात्तो की उदात्तश्रुति होती है ।

इस प्रकार स्वरित के बादउदात्त या स्वरित होने पर अनुदात्त अंश का जो आहनन किया जाता है उसे ही "कम्पन" कहा जाता है, अनुदात्त अंश के आहनन के समय एक ही स्वरित के उच्चावच स्थानो के संस्पर्श से स्वर में कम्पन होता है ।जैसा कि शाकल्य ने कहा है-

"आक्रान्तस्तु यः स्वारः स्वरितोदात्तमूर्धशः ।
उदादायार्धमस्याथ श्लिष्टं निहनन्ति कम्पितम् ।।"

वस्तुतः स्वतंत्रस्वरित के ठीक बाद उदात्तहोने पर "कम्प" होता है । यदि स्वरित के पूर्व की मात्रा ह्रस्व हो तो एक बार दीर्घ हो तो तीन बार कम्प होता है । जिसे "१ या ३" से अंकित किया जाता है। जैसा कि "स्वरांकुश शिक्षा" में ह्रस्व कम्प " तथा " दीर्घकम्प द्विविध कम्प का उल्लेख किया है।[1] "नारदीय शिक्षा" में भी दो प्रकार के "कम्प" का उल्लेख मिलता है।[2] परन्तु इन दोनों शिक्षाओं में अपनी- अपनी

1· स्वरितान्नियतं गच्छेत्- स्वरितो नियतश्च नो ।
द्विमात्रो यत्र दृश्यते ह्रस्वकम्पः सउच्यते ।।
अनुदात्तं क्रमात्कुर्याद् स्वरितं ह्यवलम्बयेत् ।
पुनर्नियतमागच्छेत् दीर्घकम्पः स उच्यते । स्वरां शि 21, 22

2· इकारान्ते पदे पूर्वे उकारे यरतस्थिते ।

शाखानुसार "कम्प" का स्वरूप पृथक् पृथक् रूप में प्रतिपादित किया गया है।

शैशरीय शिक्षा[1] तथा व्यास शिक्षा[2] में भी "कम्प" के स्वरूप के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। शैशरीय शिक्षा के मतानुसार र स्वरित के पूर्व होने पर अनुदात्त का उच्चारणकरके इसके बाद उदात्त को प्रदर्शित करके अन्त में पुन: अनुदात्त का प्रदर्शन करना चाहिए। परन्तु यह विधान उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि किसी भी शिक्षाकार अथवा प्रातिशाख्यकार ने स्वरित के आदि अंश को अनुदात्त नहीं स्वीकार नहीं किया बल्कि सभी ने एक मत से स्वरित के आदि अंश को उदात्त ही स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में स्वरित के आदि अंश को अनुदात्त से कैसे प्रदर्शित किया जाय। स्वरित में भागत्रयप्रदर्शन की शास्त्रीकारों ने आलोचना की है। यदि कुछ क्षण के लिए उपर्युक्त विधान को स्वीकार किया भी जाय तो कम्प के स्थल में अनुदात्त उदात्त पुन: अनुदात्त ये तीन भाग हो जायेंगे। फिर

ह्रस्व कम्पं विजानीयान्मेधावी नात्र संशय: ।
इकारोन्ते पदे चैवोकारद्वयपरे परे ।
दीर्घकम्प विजानीच्छरद्युष्विति निदर्शनम् । ना0शि0{शि0सं0पृ427}

1. अनुदात्तमुपादाय स्वरितं ह्यवलम्बयेत्।
पुनर्निहितमागच्छेत् एवं कम्पविधि: स्मृत: । शै0शि0

2. स्वरस्पर्शस्य चेदस्मिन्कम्पसंज्ञास्ति दीर्घता । व्या0शि0

द्विमात्रिक स्वरित का त्रिमात्रिक उच्चारण होगा जो कि दोष माना जाता है । जैसा कि ऋ० प्रा०[1] में कहा गया है कि यदि दीर्घ स्वरित है द्विमात्रिक होने पर उसका तीन भाग किया जाता है तो यद्यपि कि मात्राधिक्यदोष नहीं होता है फिर भी स्वरित का आदि का अनुदात्तांश का उच्चारण कदापि नहीं हो सकता है ।

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[2] में कहा गया है कि जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र तथा प्रश्लिष्ट स्वरित का स्वर प्रकम्पित होता है यदि बाद में उदात्त या अनुदात्त हो तो । इसी प्रकार का उल्लेख प्रातिशाख्यों में भी मिलता है।[3]

---

1. एवं च कृत्वोदात्तपूर्वाः सर्व एव कम्पाः स्युः ।
   अनुदात्तपूर्वेषु तु क्रियमाणेषु मात्राधिक्यं स्यात् ।।
   स च दोषः अयथामात्रं वचनं स्वराणाम् । ऋ० प्रा० 14/10
2. जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रः प्रश्लिष्टश्च चतुर्थकः ।
   एते स्वराप्रकम्पते दृष्ट्वोदात्तं पुनः स्थितम् । व०र०प्र०शि०73
3. जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रप्रश्लिष्टएव च ।
   एते स्वराः प्रकम्पते यत्रोच्चस्वरितोदयाः । ऋ० प्रा० 3/34
   नित्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्र प्रश्लिष्ट एव च ।
   एते स्वराः प्रकम्पते यत्रोच्चस्वरितोदयाः ।। ऋ० प्रा० 1/1 परिभा०
   अभिनिहितप्रश्लिष्टजात्यक्षैप्राणामुदात्तस्वरितो
   दयानामणुमात्रा निघाता विकम्पितं तत्कवयो वदन्ति । च०अ० 3/65

स्वरांकन-विधि॥ स्वर चिह्न॥

यद्यपि कि शिक्षाग्रन्थों में स्वरांकन-विधि के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु विविध संहिताओं के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि विविधसंहिताओं में स्वरांकन विविध प्रकार से देखने को मिलती है । यथा "ऋग्वेद" में अनुदात्त के लिए प्रयुक्त नीचे पड़ी रेखा "शतपथ ब्राह्मण" में उदात्त के चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुई है । "ऋग्वेद" और "अथर्ववेद" में स्वरित के लिएप्रयुक्त शीर्षस्थ खड़ी रेखा मैत्रायणी संहिता में " उदात्त" स्वर के लिए प्रयुक्त होती है । परन्तु ऋग्वेद संहिता तथा वाजसनेयि संहिता में स्वरांकन प्राय: एक समान मिलता है । ऋग्वेद के समान ही माध्यन्दिन ॥शुक्लयजुर्वेद॥ पाठ में भी उदात्त, अनुदात्त स्वरित आदि का निर्देश किया गया है ।[1] "ऋग्वेद" में " अनुदात्त" का स्वरांकनपड़ी रेखा से स्वरित का स्वरांकन अक्षर के शीर्षस्थ खड़ी रेखा से, जिसके पूर्व कोई स्वर न हो या " अनुदात्त" पूर्व में हो ऐसे" उदात्त" को अनंकित रखा गया है तथा स्वरित के पश्चात् आने वाले" प्रचय" को भी अनंकित रखा जाता है[2]। यथा- "अग्नि= अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम्"

---

1. माध्यन्दिने उदात्तानुदात्तैकश्रुति सामान्यस्वरिता ऋग्वेद एव ।
   वैदि० प० को १/27

2. अधोरेखायानुदात्त: । उर्ध्वरेखया स्वरित: । अपूर्वोऽनुदात्तपूर्वो-
   वाऽनङ्कित: उदात्त: । स्वरितात्परो नङ्कित: एकश्रुति:
   वैदिक० प० को १/११

इसी प्रकार वाजसनेयि संहिता में भी स्वरांकन किया गया है । केवल अन्तर इतना ही है कि "उदात्त" अपूर्व या अनुदात्तपूर्व होता है जब कि "एक-श्रुति" स्वरित पर होता है। यथा-"इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ" में नीचे पड़ी रेखा से अंकित इ, वो वा के स्वर अनुदात्त हैं, शीर्षस्थ खड़ी रेखा से अंकित त्वा, व स्वरित हैं तथा स्वरित व से पर अनंकित स्थ का स्वर "प्रचय" है । अनुदात्त से पर अंकित षे, र्जे तथा य के स्वर उदात्त हैं । "काठकसंहिता" में "उदात्त" तथा "स्वरित" क्रमशः शीर्षस्थ ऊर्ध्वरेखा तथा बिन्दु (0) द्वारा अंकित किये जाते हैं।[1] जब कि मैत्रायणीसंहिता में "उदात्त" शीर्षस्थरेखा काठकसंहिता के ही समान अंकित किया जाता है।[2] अनुदात्त को नीचे पडी रेखा से "ऋक्" संहिता " तथा वाजसनेयि संहिता के समान अंकित किया जाता[2] है । स्वरित नीचे वक्र रेखा से अंकित किया जाता है। सामवेद में उदात्त को एक, अनुदात्त को तीन तथा स्वरित को दो अंकों से

1· काठके उदात्तः शीर्षस्थोर्ध्वरेखया । वैदि० प० को ।/36

उदात्तात्परः स्वरितो धस्तात्बिन्दुना । वै०प०को० ।/39

2· उदात्तः शीर्षस्थोर्ध्वरेखया । वै०प०को ।/42

3· अनुदात्तो धः सरलरेखया उदात्तात्परः स्वरितो धोवक्ररेखया अन्त्य एकश्रुतिश्च । वै० पं० को ।/44

अंकित किया जाता है।[1] अथर्ववेद में स्वरांकन प्राय: ऋग्वेद के समान ही होता है।[2] इसीप्रकार का विधान मल्लशर्मशिक्षा में भी मिलता है।[3]

हस्तप्रचालन द्वारा उदात्तादि प्रदर्शन

शिक्षाग्रन्थों में हस्तस्वरप्रदर्शन के विषय में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार स्वरप्रयोग में समय में उस स्वरों की अभिव्यक्ति आवश्यक है अर्थात् उदात्तादि स्वरों के प्रयुक्त होने पर जिस- जिस स्थानों में जिस- जिस स्वरों की निष्पत्ति होती है, उस उस स्थानों में अभिव्यंजन कियाजाता है। उसी प्रकार हस्तस्वर प्रदर्शनपूर्वक वेदाध्ययन में उदात्तादि स्वरों को हस्तप्रचालन द्वाराप्रदर्शित किया जाता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि जो व्यक्ति बिना हस्तप्रचालन के तथा बिना स्वरों को प्रदर्शित किये वेदाध्ययन करता है, वह ऋक् यजु: तथा सामवेद से दग्धहोकर वियोनि को प्राप्त करता है। परन्तु जो व्यक्ति हस्तप्रचालन द्वारा उदात्तादि स्वरों का प्रदर्शन करते हुए वेदाध्ययन करता है वह ऋक् यजु: तथा सामवेद द्वारा

---

1. उदात्त: एकाङकेन। स्वरितो द्वयङ्केन। अनुदात्तस्त्र्यङ्केन
वे०प०को 1/54, 56, 61
2. उदात्तानुदात्तसाधारणस्वरिता ऋग्वेदवत्। वे०प० को 1/67
3. ऊर्ध्वरेखा तु वर्णस्य मूर्ध्नि तिष्ठति या स्थिरा।
तामुदात्त विजानीयाद् द्विस्वरे स्वरितं तु ताम्॥
तिर्यग्रेखा च वर्णस्य पादपार्श्वे स्थिता तु या।
अनुदात्तं विजानीयात्स्वरितं वा समासत:।

पवित्र होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[1] इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा[2] मल्लशर्म शिक्षा[3] तथा प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा[4] में भी उल्लेख मिलता है। इस

स्वरितं तु विजानीयात्स्वर विद्भिरुदीरितम् ।।

मा०शि० 29, 30, 31

1. हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् ।
ऋग्यजुः सामभिर्दग्धो वियोनिमुपगच्छति ।
ऋचो यजूंषि सामानि हस्तहीनानियः पठेत् ।
अनृचो ब्राह्मणस्तावद्यावत्स्वारं न विंदति ।
हस्तेनाधीयमानस्य स्वरवर्णान्प्रयुंजतः ।
ऋग्यजुः सामभि पूतो ब्रह्मलोकवाप्नुयात् ।।

2. हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् ।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ।।
हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम् ।
ऋग्यजुः समाभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ।।

पा० शि० 54, 55

3. अपि चन्द्र० मल्ल० शि० 5

4. पा लि० प्र०शि० 6-7

प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वेदाध्ययन के लिए हस्तप्रचालनद्वारा स्वर प्रदर्शन अत्यावश्यक है । इस सम्बन्ध में वा० प्रा० में कहा गया है कि उदात्त" का उच्चारण हाथ के ऊर्ध्वगमन, "अनुदात्त" का उच्चारण हाथ के अधोगमन तथा स्वरित स्वरित का उच्चारण हाथ के तिर्यग्गमन के साथ करना चाहिए।[1] पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि उदात्त के उच्चारण के समय हाथ को मूर्धा तक, अनुदात्त के उच्चारण में हृदय तक तथा स्वरित के उच्चारण में कर्णतक तथा प्रचय में मुख तक ले जाया जाता है।[2] याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] तथा प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा[4] में कहा गया है कि उदात्त के उच्चारण के समय हाथ को भ्रु (आंख के भौंह) एवं अनुदात्त के उच्चारण में हृदय तक तथा स्वरित के उच्चारण में हाथ को तिर्यक् तथा प्रचय के उच्चारण में नासिकाग्र तक ले जाया जाता है। वा० प्रा० में कहा गया है कि जात्य,

---

1. ते पूर्वोक्ता: उदात्तादय: स्वरा: हस्तेन प्रदर्शनीया: ।
   तत्र ऊर्ध्वं गमनं हस्तस्य उदात्ते, अनुदात्तेऽधोगमनं ।
   स्वरिते तिर्यग्गमनम् ।वा० प्रा० (अन० भ० ।/।2)
2. अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्धन्युदात्त उदाहृत: ।
   स्वरित: कर्णमूलीय सर्वास्ये प्रचयस्मृत: । पा० शि० 4
3. उदात्ते भ्रुवि पातव्यं प्रचयं नासाग्र एव च ।
   हृत्प्रदेशेऽनुदात्तं च तिर्यग्जात्यादिका: स्वरा: । याज्ञ०शि० 5।
4. उदात्तं भ्रुवि पातेन प्रचयं नासिकाग्रत: ।
   हृत्प्रदेशेऽनुदात्तं तु तिर्यग्जात्यादिका: स्वरा:। प्रा०प्र०शि०।

अभिनिहित, क्षेप्र एव प्रश्लिष्ट- इन चार स्वरितो को हाथ को तिरछा करके प्रदर्शित किया जाता है।[1] परन्तु आचार्य काण्व का कहना है कि जात्य, अभिनिहित, क्षेप्र एवं प्रश्लिष्ट स्वरितो के उच्चारण में हाथ को तभी तिरछा किया जाता है तब कि "स्वरित" के पूर्व में "अनुदात्त" हो यथा वैष्णव्यौ धान्यमसि इत्यादि में।[2] इसी प्रकार अंगुलि प्रचालन द्वारा भी स्वरों का प्रदर्शन किया जाता है। पाणिनिशिक्षा में कहा गया है कि अनुगुष्ठाग्र के प्रदेशिनीमुल में तर्जनीमुले में स्पर्श से उदात्त, अनामिका मध्य में स्पर्श से स्वरित कनिष्ठा में स्पर्श से अनुदात्त प्रदर्शनीय होता है।[3] इसी प्रकार वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कहा गया है कि उदात्त के उच्चारण में तर्जनी, अनुदात्तोच्चारण कनिष्टिका स्वरितोच्चारण में अनामिका तथा प्रचयोच्चारण में मध्य अंगुलि का स्पर्श किया जाता है।[4]

---

1. जात्याभिनिहितक्षेप्रप्रश्लिष्टाश्चत्वारस्तिर्यग्यस्तं कृत्वा प्रदर्शनीयाः पितृदानवद्धस्तं कृत्वेत्यर्थः। तिर्यग्धस्तकार्यं माध्यन्दिनीयानामेव।

   वा० प्रा० 1/122

2. अनुदात्तं चेत्पूर्वं तिर्यड्निहत्य काण्वस्य। वा० प्रा० 1/123

3. उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा।
   उपान्तमध्ये स्वरितं धृतं कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव।। पा० शि० 43

4. उदात्ते तर्जनी स्पृश्याऽनुदात्ते तु कनिष्ठिका।
   स्वरितेऽनामिका स्पृश्या प्रचये मध्यमा तथा। वा० प्रा० (अन आ) 1/121

उपर्युक्त विवेचनसे पर यदि सूक्ष्म अवलोकन किया जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है हस्तप्रचालन द्वारा स्वरों का प्रदर्शन किस शाखा के विरुद्ध अथवा किस शाखाध्यायियों द्वारा इस प्रकार हस्तस्वरप्रदर्शन किया जाता है । यद्यपि कि यह विधान ऋक्शाखानुसार वैदिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है परन्तु ऋग्वेदाध्यायियों द्वारा इसप्रकार स्वरप्रदर्शन नहीं किया गया है। इस प्रकार का प्रदर्शन व्यासशिक्षा[1] में देखा जाता है । इसमें त्रयस्वप्रदर्शनार्थ हाथ का तीन प्रकार से प्रदर्शन होता है । जैसा कि स्वरित प्रदर्शनार्थ शिर प्रदेश में उदात्तत्वयप्रदर्शनार्थ मुखसमिप मे, अनुदात्तप्रदर्शनार्थ हृदयसम्मुख हस्त रखकर, इसप्रकार स्पष्ट है कि क्रमशः उच्चदेश, अधोदेश तथा मध्यदेश में हस्त-स्थिति होती है । ऋग्वेद में भी इसीप्रकार स्वरित में ऊर्ध्वदेश, अनुदात्त में अधोदेश, उदात्त में मध्यदेश में हस्तन्यास किया जाता है । शिक्षाग्रन्थों में हस्तप्रचालन के अतिरिक्त उदात्तादि की उच्चारण प्रक्रिया के सम्बन्ध में आक्षिस्पन्दन का भी उल्लेख मिलता है । जैसा कि चारणीय शिक्षा से उल्लेख मिलता है ।[2]

---

1. स्वार शीर्षे मुखेऽप्युच्चप्रचयो निहितो हृदि ।। व्या०शि०

2. समं स्वरं पठेन्नित्यंमार्गं हस्ते प्रदर्शयेत् ।
   यत् वाणी गच्छति स्थानं तद्धस्तेनप्रदर्शयेत् ।
   दक्षिणाक्षिणातेन दृष्टिं हन्यात् कनीयसीम् ।
   नासागण्डभ्रुवोः सन्धिमुदात्तविषयेविदुः ।।

   चारा०शि० पन्ना-6

सप्तम अध्याय

सन्धि का स्वरूप

"सम" उपसर्ग पूर्वक "धारणार्थक "धा" धातु से सन्धि शब्द निष्पन्न हुआ है। सन्धि का शाब्दिक अर्थ "एकत्रीकरण" होता है। जिस प्रकार प्रयत्न, स्थान तथा स्वर कालादि वर्णों के श्रुतिविशेष रूप में परिगणन किया जाता है उसी प्रकार वर्णों वर्णान्तरसम्बन्ध भी श्रुति विशेष होता है तात्पर्य यह है कि वर्णान्तर सान्निध्य से वर्ण का ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। इसी परिवर्तन को सन्धि कहते हैं। इस प्रकार वर्णस्थान, प्रयत्नादिवत् सन्धि का वर्णोच्चारण विधि में अन्तर्भाव हो जाता है। अस्तु सन्धि भी उच्चारण विधिप्रतिपादक शिक्षा ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय है। तैत्तिरीयोपनिषद् भी उपरोक्त मत का समर्थन करता है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि सन्धि भी शिक्षाग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय है[1]।

वैदिक वाङ्मय में "सन्धि" का बहुलता से प्रयोग प्राप्त होता है। ऋग्वेद में "सन्धि" शब्द का प्रयोग "मेल" अर्थ में किया गया है।[2] ऐतरेयारण्यक में भी "सन्धि" शब्द का प्रयोग "मेल" अर्थ में किया गया है।[3]

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षा वल्ली में द्रष्टव्य है।
2. संधाता संन्धि मघवा पुरूवसुरिष्कर्त्ता विह्रुतं पुनः।

   -ऋ0 8/1/12

3. ऐतरेयारण्यक पृ0 सं0 220, 224 एवं 229 पर द्रष्टव्य है।

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी "सन्धि" शब्द का प्रयोग सम्यक्रूपेण प्राप्य है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में "सन्धि" तथा "सन्धान" शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में मात्र "संधान" शब्द का प्रयोग एवं अनेक स्थलों पर सन्धियों का विवरण प्राप्त होता है।[2] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में "संन्धि" शब्द का सम्यक् विवेचन किया गया है। इसके अनुसार "सन्धि" पदान्त और पदादि वर्णों की होती है।[3] ऋक्तंत्र में अनेक स्थानों पर "सन्धि" शब्द का प्रयोग "मेल" अर्थ में किया गया है।[4] अन्य ~~शिक्षा~~ प्रतिशाख्य ग्रन्थों में "सन्धि" शब्द का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

शिक्षा ग्रन्थों में "सन्धि" शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में "सन्धि" शब्द का प्रयोग मिलता है। यहाँ

---

1. ऋ०प्रा० 2/34, 4/41, , 4/78, 7/1 तथा 10/18 पर द्रष्टव्य है।

   इति पूर्वेषु संधानं पूर्वः स्वः स्यादसंहितम्। तदवग्रहवद् ब्रूयात्।

   -ऋ० प्रा० 10/17

2. वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने। तै० प्रा० 2/2

3. पदान्तपदाद्योः संधिः। वा० प्रा० 3/3

4. वान्तसंधिः। ऋ० तं० 53

   ऋ० तं० 94, 96, 98, 111, 283 पर द्रष्टव्य है।

पर इसका प्रयोग "एकत्रीकरण" अर्थ में किया गया है ।[1] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में "सन्धि" शब्द के स्थान पर "संस्कार" शब्द का प्रयोग मिलता है । जहाँ पर "एकत्र रखा हुआ" इस अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है ।[2] वासिष्ठी शिक्षा में "सन्धि" शब्द का प्रयोग अथवा विधान नहीं किया गया है । कात्यायनी शिक्षा में "सन्धि" शब्द का प्रयोग अथवा विधान मिलता है ।[3] पाराशरी शिक्षा, माण्डवी शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा में सन्धि शब्द का प्रयोग अथवा विधान नहीं किया गया है । माध्यन्दिनीय शिक्षा में सन्धि का किंचित् विवेचन किया गया है।[4] केशवी शिक्षा मल्लशर्मशिक्षा षोडशश्लोकी शिक्षा तथा मनःस्वार शिक्षा में "सन्धि" का का विधान नहीं मिलता है । स्वराष्टक शिक्षा में स्वरसन्धि का सम्यक्तया प्रतिपादन किया गया है ।[5] नारदीय शिक्षा में भी सन्धि का अंशमात्र विधान किया गया है ।[6] गौतमी शिक्षा में भी एक दो स्थान पर द्वित्व के रूप में सन्धि का विधान मिलता है ।[7] लोमशी शिक्षा में सन्धि

---

1. याज्ञ० शि० 93, 94, 128, 130, 131, 132, 134.
2. व०र०प्र० शि० 106, 107
3. स्व०भ०ल० शि० 29, 30
4. माध्य० शि० - 5
5. स्व०अ० शि० 1-20
6. ना० शि० 2·3·4, 2·4·5, 2·4·11
7. गौ० शि० 3, 4

विवेचन का उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता है। पाणिनीय शिक्षा में सन्धि का अंशमात्र उल्लेख मिलता है।[1] माण्डूकी शिक्षा में विसर्ग सन्धि तथा द्वित्व का विचार किया गया है।[2]

लौकिक संस्कृत में "संधि" शब्द का प्रयोग केवल वहाँ होता है जहाँ दो वर्णों के पास- पास आने से वर्ण विकार हो जाता है। जहाँ पर वर्णों के पास- पास आने से वर्ण-विकार नहीं होता है वहाँ "सन्धि" का सर्वथा अभाव माना जाता है। सन्धि के इस अभाव को प्रकृतिभाव कहा जाता है। किन्तु वैदिक संस्कृत में स्थिति पूर्णतया विपरीत है। शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में वर्णों के पास- पास आने को ही "संधि" कहा जाता है चाहे विकार हो अथवा न हो। यथा एष:, स्य: स: या स्वर जब पूर्व में हो और व्यन्जन बाद में हो तो वहाँ पर अनुलोम अन्वक्षर सन्धि होती है।[3] उदाहरणार्थ- न नि मिषति सुरप: (न+ नि, नि+ मि ति+ सु) में तीन स्थलों पर "अनुलोम अन्वक्षर" सन्धि है। यहाँ पर कोई भी विकार नहीं है। इस प्रकार अधिकांश शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में वर्णों के पास- पास आने को ही सन्धि कहा गया है। कालान्तर में अर्थ संकोच वश संन्धि वर्ण विकार अर्थ में ही सीमित रह गया।

---

1. पा० शि० 14
2. माडू, शि० 98, 107, 122, 123, 124, 134, 146, 147, 148, 149, 150
3. ऋ० प्रा० 2/8

सन्धि विभाजन-

शिक्षा ग्रन्थों में यह "सन्धि" चतुर्विध वर्णित है । याज्ञवल्क्य शिक्षा के मतानुसार "सन्धि" चार प्रकार की होती है-

1. लोप
2. आगम
3. विकार तथा
4. प्रकृति भाव सन्धि ।[1]

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा भी उपरोक्त कथन सहमत है । इसके अनुसार भी "सन्धि" चतुर्विध होती है । लोप आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव ।[2] इसमें "संस्कार" शब्द का प्रयोग संन्धि के अर्थ में किया गया है । वाजसनेयि-प्रातिशाख्य भी उपरोक्त मत से सहमत जान पड़ता है । इसमें भी "संस्कार" शब्द का प्रयोग संधि के अर्थ में किया गया है ।[3] वाजसनेयि प्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट ने कहा है कि "संस्कार" के अन्तर्गत लोप, आगम, वर्णविकार तथा प्रकृति भाव आते हैं।[4] महर्षि कात्यायनी ने भी स्वत: प्रणीत स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा में सन्धि को चतुर्विध माना है । इन्होंने भी लोप, आगम विकार

---

1. सन्धिश्चतुर्विधो भवति लोपागमविकारा: प्रकृतिभावश्चेति ।

   याज्ञ0 शि0 81/20

2. लोपागमो विकारश्च प्रकृत्या भवनं तथा ।
   ज्ञातव्यो निपुणैरेवं संस्कारोऽसौ चतुर्विध: ।।"

   व0र0प्र0शि0 106--107

3. वा0प्रा0 1/1

4. वा0 प्रा0 3/1

तथा प्रकृतिभाव- इन चार प्रकार की सन्धियो का प्रतिपादन किया है ।[1] वर्णरत्न पदीपिका शिक्षा में ही प्रकारान्तर से सन्धि को त्रयविध माना गया है- 1. स्वर 2. व्यंजन 3. स्वर- व्यंजन संन्धि ।[2] संस्कृतभाषा में वर्णान्तरवत् विसर्ग सन्धि का भी महत्वपूर्ण स्थान दृष्टिगोचर होता है । विसर्ग सन्धि का उल्लेख शिक्षा-ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[3] अस्तु शिक्षाग्रन्थों में सन्धि प्रधानतया त्रयविध दृष्टिगत होती है- 1. स्वर 2. व्यंजन तथा 3. विसर्ग सन्धि ।

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में, शिक्षाग्रन्थों के अपेक्षा अधिक वृहद एव सम्यक् रूप से सन्धियों का विवेचन किया गया है । प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी ऋक्वेद प्रतिशाख्य में अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा सन्धियों को अधिक वृहद एवं सूक्ष्म विवेचन किया गया है । यद्यपि कि शिक्षाग्रन्थों के सदृश प्रातिशाख्यों में सन्धि विभाजन का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । फिर भी शिक्षाग्रन्थों के विभाजन को ही ध्यान में रखकर प्रातिशाख्यकारो ने सन्धि-नियम का विधान

---

2. सन्धयश्चतुर्धा विज्ञेया लोपागमविकारत: ।
प्रकृत्या च तथा तत्र प्रथमं हि निदर्शनम् ।।"
का0 शि0 29.30

2. स्वरयोर्वा हलोर्वाऽपि स्वरव्यन्जनयोस्त ।।
व0र0प्र0 शि0 107

3. ओभावश्च विवृतिश्च शषसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण: ।।
याज्ञ0 शि0 143, ना0 शि0 2-4-5, पा0 शि0 14, माण्डू0 शि0 107

किया है । ऋक्प्रातिशाख्य में अनुलोम अन्वरक्ष[1], प्रतिलोम[2], अन्वक्षर[3] प्रश्लिष्ट क्षेप्र[4] उद्ग्राह[5], पदवृत्ति[6], उद्ग्राह पदवृत्ति[7], उद्ग्राहवत्[8], प्राच्य पदवृत्ति तथा पन्चाल पदवृत्ति[9], भुग्न[10], अभिनिहित[11], प्रगृहीतपद[12], द्विसंधि[13], आस्थापित[14] अवशंगम[15] वंशंगम[16], परिपन्न[17] अन्त:पाद[18], नियत[19] प्रश्रित[20], क्राम[21] व्यापन्न[22], विक्रान्त[23] अन्वक्षर वक्त्र[24], उपाचरित[25] आन्यदपदवृत्ति[26],

---

1• ऋ0प्रा0 2/8, 11

2• ऋ0प्रा0 2/9

3• ऋ0प्रा0 2/15, 20

4• ऋ0प्रा0 2/21, 23

5• ऋ0प्रा0 2/27

6• ऋ0प्रा0 2/24

7• ऋ0प्रा0 2/30

8• ऋ0प्रा0 2/32

9• ऋ0प्रा0 2/33

10• ऋ0 प्रा0 2/32

11• ऋ0प्रा0 2/34 से 2/50 तक

12• ऋ0 प्रा0 2•54

13• ऋ0प्रा0 2/80

14• ऋ0प्रा0 4/1

15• ऋ0प्रा0 4/1

16• ऋ0 प्रा0 4/2 , 4/14तक

17• ऋ0 प्रा0 4/15

18• ऋ0प्रा0 4/16 से 4/19 तक

19• ऋ0प्रा0 4/24

20• ऋ0 प्रा0 4/25

21• ऋ0प्रा0 4/28

22• ऋ0प्रा0 4/31

23• ऋ0 प्रा0 4/35

24• ऋ0प्रा0 4/36

25• ऋ0प्रा0 4/41

26• ऋ0प्रा0 4/65, 66

स्पर्शरिफ[1] स्पर्शोष्म[2] *YK* , रेफ[3], शोढाक्षर,[4] विवृत्त्यभिप्राय,[5] प्रकृतिभाव[6] सामवश[7] संज्ञक संधियों का विधान किया गया है । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्रश्लिष्ट,[8] क्षैप्र,[9] अभिनिहित,[10] वर्णागम[11] परिपन्न,[12] , अन्तःपात,[13] , नियत[14] , प्रश्नित,[15] अकाम,[16] व्यापन्न,[17] विक्रान्त[18] अन्वक्षर-वक्त्र[19] उपाचरित[20] स्पर्शरिफ,[21] रेफ[22] विवृत्याभिप्राय,[23] प्रकृतिभाव[24] लोप[25] और समवश[26] संज्ञक सन्धियों का नाम-निर्देश तो नहीं किया गया है किन्तु सन्धि-नियमों का विश्लेषण अवश्य किया गया है। वाजसनेयि

---

1. ऋ0 प्रा0 4/69
2. ऋ0प्रा0 4/77
3. ऋ0प्रा0 4/27
4. ऋ0प्रा0 4/04 से 4/89
5. ऋ0प्रा0 4/69
6. ऋ0प्रा0 2/51, 57
7. ऋ0प्रा0 7/1
8. तै0प्रा0 10/2
9. तै0 प्रा0 10/15
10. तै0 प्रा0 11.1
11. तै0 प्रा0 8/2, 3
12. तै0 प्रा0 13/ 1,2
13. तै0 प्रा0 5/32; 33
14. तै0 प्रा0 8/16, 17
15. तै0 प्रा0 9/8
16. तै0 प्रा0 8/16
17. तै0 प्रा0 9/12
18. तै0 प्रा0 9/3 , 4
19. तै0 प्रा0 9/1
20. तै0 प्रा0 6/5
21. तै0 प्रा0 9/20
22. तै0 प्रा0 8/6
23. तै0 प्रा0 3/136, 137
24. तै0प्रा0 में प्रकृत्या शब्द से प्रकृतिभाव को प्रदर्शित किया गया है।
25. तै0 प्रा0 1/57
26. तै0प्रा0 3/1- 15

प्रातिशाख्य में प्रश्लिष्ट,[1] क्षैप्र,[2] अभिनिहित,[3] वंशगम,[4] परिपन्न,[5] अन्त:पात[6] नियत,[7] प्रश्रित,[8] अक्राम,[9] व्यापन्न,[10] विक्रान्त,[11] अन्वक्षरवक्त्र,[12] स्पर्शरिफ,[13] रेफ,[14] विवृत्यभिप्राय,[15] प्रकृतिभाव,[16] लोप,[17] आगम,[18] सामवश,[19] तथा शोडाक्षर[20] संज्ञा को विधान तो नहीं किया गया है, किन्तु सन्धि-नियमों का उल्लेख अवश्य किया गया है। चतुरध्यायिका में प्रश्लिष्ट,[21] क्षैप्र,[22] अभिनिहित,[23] आस्थापित[24]

---

1. वा0प्रा0 4/52, 53, 54
2. वा0 प्रा0 4/47
3. वा0 प्रा0 4/62 से 4/80 तक
4. वा0 प्रा0 4/123
5. वा0 प्रा0 4/42
6. वा0 प्रा0 4/15
7. वा0 प्रा0 4/36
8. वा0 प्रा0 4/43
9. वा0 प्रा0 4/35
10. वा0 प्रा0 3/8
11. वा0 प्रा0 3/10
12. वा0 प्रा0 3/13
13. वा0 प्रा0 3/41
14. वा0 प्रा0 4/37
15. वा0 प्रा0 3/136, - 137
16. वा0 प्रा0 3/11, 30
17. वा0 प्रा0 1/141
18. वा0 प्रा0 1/137
19. वा0 प्रा0 3/97 से 130 तक
20. वा0 प्रा0 3/49 से 54 तक
21. च0आ0 3/42, 44,45
22. च0 अ0 3/39
23. च0अ0 3/53
24. च0अ9 4/124, 125

वंशगम[1], परिपन्न[2] प्रश्नित[3], व्यापन्न[4], विक्रान्त[5], उपाचरित[6], आन्तपदपदवृत्ति[7], रेफ[8], प्रकृतिभाव[9], लोप[10], तथा सामवश[11], संज्ञा का नाम- निर्देश न करके केवल सन्धि- नियमों का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य में उपाचरित[12], प्रकृति[13], भाव तथा लोप[14], मात्र तीन संधियों का नियमोल्लेख किया गया है। ऋक्तंत्र में "लोप" के स्थान पर एकाक्षरात्मक "लुप्"[15] शब्द का प्रयोग मात्र दृष्टिगोचर होता है।

---

1. च0अ0 2/2, 5
2. च0 आ0 1/67
3. च0 आ0 2/54
4. च अ0 2/40
5. च0 आ0 2/51, 52
6. च0अ0 4/74
7. च0 आ 2/27
8. च0अ0 2/42, 43
9. च0अ0 में प्रकृत्या शब्द प्रकृतिभाव को प्रदर्शित किया गया है।
10. च0अ0 2/20, 32
11. च0 अ9 3/1 से 25 तक
12. अ0प्रा0 147
13. अ0 प्रा0 120
14. अ0 प्रा0 74
15. ऋ0तं0 83

एवंविध शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों के सन्धि-प्रकार विषयक तथ्यों का पर्यालोचनोपरान्त यह सिद्ध होता है कि तत्तद् ग्रन्थों में तत्तद संज्ञा से सन्धि नियमों का प्रतिपादन किया गया है। शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थ सन्धि नियमों का नाम निर्देश के संबंध में परस्पर एकमत नहीं है। यद्यपि कि शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में सन्धि-नियमों नाम निर्देश भिन्न-भिन्न है परन्तु सन्धि नियम प्राय: एक ही है। ऐसा दृष्टिगत होता है कि शिक्षा ग्रन्थों में जिस सन्धि भेद का प्रतिपादन किया गया है उसी भेद के अन्तर्गत प्रातिशाख्यों में वर्णित समस्त सन्धियाँ समाहित हैं, यथा शिक्षा ग्रन्थों में वर्णित सन्धि के चार भेद -

1. लोप
2. आगम
3. विकार तथा
4. प्रकृतिभाव के अन्तर्गत ही ~~शिक्षा ग्रन्थों~~ प्रातिशाख्यों में वर्णित सन्धियाँ -

1. अनुलोम अन्वक्षर	2. प्रतिलोम अन्वक्षर
3. प्रश्लिष्ट	4. क्षैप्र
5. पदवृत्ति	6. उदग्राह पदवृत्ति
7. उदग्राहवत् पदवृत्ति	8. उदग्राहवत्
9. प्राच्य तथा पाञ्चाल पदवृत्ति	10. भुग्न
11. अभिनिहित	12. प्रगृहीतपद
13. द्विर्भाव	14. आस्थापित
15. अक्षरागम	16. वर्णागम
17. परिपन्न	18. अन्त:पात
19. नियत	20. प्रश्लिष्ट
21. अकाम	22. व्यापन्न
23. विक्रान्त	24. अन्वक्षर वक्त्र
25. उपाचरित	26. आम्पदपदवृत्ति
27. स्पर्शरेफ	28. स्पर्शोष्म
29. रेफ 00	30 शोदाक्षर

31· विवृत्त्यभिप्राय 32 समकक्षसमाहित है ।

क्यों कि इन सन्धियों में लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव की क्रिया का ही दर्शन होता है ।

अस्तु प्रातिशाख्यों में वर्णित सन्धियों को शिक्षाओं में वर्णित सन्धि के चार भेद के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है-

1· लोप	2· आगम	3· विकार	4· प्रकृतिभाव
1· अनुलोम अन्वक्षर	भुग्न	प्रश्लिष्ट	अभिनिहित
2· अभिनिहित	अन्तःपात	क्षैप्र	प्रगृहीतपद
3· परिपन्न	शौदाक्षर	उद्ग्राह	विक्रान्तसन्धि
4· नियम		पदवृत्ति	
5· अकाम		उद्ग्राहपदवृत्ति	
6· अन्वक्षरवक्त्र		उद्ग्राहवत्	
7· आन्यपदपदवृत्ति		प्राच्य तथा पाञ्चाल पदवृत्ति·	
8· विवृत्यभिप्रायसन्धि		वंशगम	
9·		प्रश्लिष्ट	
10·		व्यापन्न	
11·		उपाचरित	
12		स्पर्शरेफ	
13·		स्पर्शोष्म	
14·		रेफ सन्धि	

इसीप्रकार शिक्षाओं में प्रकारान्तर से वर्णित सन्धि के तीन भेद के अन्तर्गत प्रातिशाख्यों में वर्णित सन्धियों को विभाजित किया जा सकता है-

1. स्वर	2. व्यन्जन	3. विसर्ग
1. प्रश्लिष्ट	आस्थापित	उद्ग्राह
2. क्षैप्र	वर्णागम	पदवृत्ति
3. भुग्न	परिपन्न	उद्ग्राह पदवृत्ति
4. अभिनिहित	अन्त:पाद	उद्ग्राहवत्
5. प्रगृहीत	आन्यदपदवृत्ति	प्राच्यतथा पान्चालपदवृत्ति
6. प्रकृतिभावसन्धि	स्पर्शरेफ	नियत
7. विकार	स्पर्शोष्म	प्रश्रित
8.	शोदाक्षर	अकाम
9.	विवृत्त्यभिप्राय	व्यापन्न
10.	अकाम आगम	विक्रान्त
11.		अन्वक्षर
12.		उपाचरित
13.		रेफ

लोप सन्धि -

"लुप्" धातु से लोप शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका शब्दार्थ "लुप्त होना" है। वैदिक वाङ्मय में "लुप्यते" तथा लोप्याय" शब्दों का प्रयोग कई स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है[1]। निरुक्त तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में "लोप" शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया गया है[2]। प्रातिशाख्यों में "लोप" शब्द का अर्थ वर्ण का विनाश[3] वर्ण का अनुपलब्धि[4] आदि किया गया है। लौकिक व्याकरण में प्राप्त का न सुना जाना" इस अर्थ में लोप शब्द का प्रयोग किया गया है[5]।

वस्तुतः वर्णों का अदर्शन ही लोप है। जब कहीं पर वर्णान्तर सम्बन्ध के प्रभाव से सूर्य तेज से अभिभूत तारागण की भाँति वर्ण पूर्णतया तिरोहित हो जाता है, तो उसे लोप सन्धि कहते है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में लोम सधि के सम्बन्ध में दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है - अयक्ष्मा:। मा। अयक्ष्मा मा। शततेजा:। व्वायु। शतेजा व्वायु:।। तिग्मतेजा। द्रिषत:। जिग्मतेजा द्रिषत: आदि

---

1. नमो लोप्याय चालोप्याय च। तै० सं० ४•5• 9•। मा० सं० 16•4

2. अथाप्यन्तलोपो भवति- गत्वा गतमिति। नि० 2/1

3. विनाशो लोप:। तै० प्रा० 1/57

4. वर्णस्यादर्शनं लोप:। वा० प्रा० 1/14

5. अदर्शनं लोप:। सि० कौ० 1•1•60

दृष्टान्तों में विसर्ग का पूर्णतया अदर्शन प्राप्त है।[1] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा के मतानुसार स्वरों के मध्य में स्थित पदान्त यकार तथा वकार का लोप हो जाता है।[2] इसी प्रकार स्वराष्टक शिक्षा का भी मत है कि स्वरों के मध्यस्थित वकार का लोप हो जाता है। यथा उभौऽअ। उभाऽउ।[3]

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वर्णित अधोलिखित सन्धियों में लोप की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है -

अनुलोम अन्वक्षर सन्धि -

शिक्षाओं में इस सन्धि का नामोल्लेख नहीं किया गया है। प्रातिशाख्यों में भी केवल ऋग्वेद प्रातिशाख्य ही इस सन्धि का विधान करता है। जब एष:, स्य:, स: य स्वर वर्ण के पश्चात् व्यञ्जन वर्ण आता है तो उसे अनुलोम अन्वक्षर सन्धि कहते हैं।[4] यथा- "एष देवो अमर्त्य:",

---

1. याज्ञ० शि० 93
2. यवयोरत्त लोप: स्यात् स्वरमध्ये पदान्तयो:।
   व०र०प्र० शि० 202
   अयादौ यवयोर्लोपे न पुन:सन्धिरिष्यते।
   असस्थाने वकारस्य लोपमिच्छन्ति सूरय:॥
   व०र०प्र० शि० 203
3. बोलोपमुडओओषु। उभौऽअ। उभाऽउ।
   स्व० अ० शि० 1/20
4. एष स्य स च स्वराश्च पूर्वे भवन्ति व्यञ्जनमुत्तरं यदेभ्य:। तेऽन्वक्षर संधयोऽनुलोमा:।
   ऋ० प्रा० 2/8

"उत स्य वाजी " स सुत: पीतये", न नि मिषति सुरण:" । उक्त सन्धियों में "एष:, "स्य:" तथा " स:" का " विसर्जनीय" स्वर वर्ण को छोड़कर लुप्त हो जाता है।[1] किन्तु जहाँ वे "पद्य" होते हैं, वहाँ उनके " विसर्जनीय" का लोप नहीं होता है।[2] यथा " पशुषो न वाजान्" यहाँ पशुऽस: " में स: " पद्य है, अत: विसर्जनीय का लोप नहीं होता है[3] तथा " विसर्जनीय" औकार हो जाता है।[4] वाजसनेयि प्रातिशाख्य तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य आदि अन्य प्रातिशाख्यों में " अनुलोम अन्वक्षर" संधियों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है ।

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि इस संधि में पदान्त "स्वर" तथा पदादि व्यन्जन" के एक दूसरे के समीप आने पर "विसर्जनीय" का लोप हो जाता है । एवविंध यह सिद्ध होता है कि लोप प्रक्रिया प्रधान होने से इस सन्धि को लोप सन्धि के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है ।

---

1. ऋ0प्रा0 2/8

2. अथैतरेषु । ऊष्मा परिलुप्यते त्र्याणां स्वरवर्जम् ।"

ऋ0 प्रा0 2/11

3. " न तु यत्र तानि पद्याः ।

ऋ0 प्रा0 1/22

4. ऋ0 प्रा0 4/25

अभिनिहित संधि -

वैदिक वाङ्मय में "अभिनिहित" शब्द "नीचे रखना"[1] तथा रखा हुआ"[2] आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। "अभिनिहित" शब्द अभि तथा नि उपसर्ग पूर्वक धा धातु में "क्त" प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका तात्पर्य "सुष्ठुरूपेण समीप रखना" है।

स्वराष्टक शिक्षा में इस सन्धि का नियमोल्लेख करते हुए लिखा गया है कि ओकार तथा एकार के बाद आने वाले अकार का लोप हो जाता है।[3] प्रातिशाख्यों में इस सन्धि का सम्यक् विवेचन किया गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्यानुसार पाद के आदि में स्थित अकार इन प्राकृत- ए और ओ तथा वैकृत- ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय के साथ मिलकर एक हो जाता है। वे ए और ओ "अभिनिहित संधि" में संधि के परिणाम के रूप में विद्यमान रहते हैं। तात्पर्य यह है कि "अभिनिहित संधि" होने के अनन्तर भी पदान्त ए और ओ ज्यों के त्यों रहते हैं जब कि पदादि अ पूर्ववर्ती ए और ओ में मिल जाता है।[5] यथा-" सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने।"

---

1. अभिनिहितमेव सब्येन पाणिना भवति। श०ब्रा० 1·1·4,5
2. सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिताः छा०उ० 2·2·25
5. अथाभिनिहितः संधिरेतैः प्राकृतवैकृतैः।
   एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्र संधिजाः ।। ऋ० प्रा० 2/34
3. ओपराकारो लोपम्। एपराकारो लोपम्। स्व०अ०शि० 18·19

ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार "अभिनिहित संधिगत नियम को और अधिक सुस्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि यदि संहिता पाठ में लघु अकार से परे यकार या वकार से प्रारम्भ होने वाला "लघु अक्षर" हो तो पाद के मध्य में भी अकार एकार और ओकार के साथ मिलकर एक हो जाता है।[1] यथा-यमेच्छाम मनसा सोऽयमागात्", तं पृच्छन्तोऽवरासः। तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकार के अनुसार एकार अथवा ओकार पूर्व में हो तो अकार का लोप हो जाता है।[2] वाजसनेयिप्रातिशाख्यकारानुसार एकार और ओकार के बाद में आने वाला अकार पूर्व रूप से प्राप्त कर लेता है।[3] यथा ते अवन्तु-तेऽवन्तु"। चतुरध्यायिकानुसार एवथा ओ में अन्त होने वाले पद के बाद यदि अकार से प्रारम्भ होने वाला पद आये तो वह पूर्ववर्ती स्वर के साथ एक रूप हो जाता है।[4] अन्य प्रातिशाख्यों में अभिनिहित" संधि का विधान नहीं किया गया है। इस सन्धि नियम का अनुपालन महर्षि पाणिनि-कृत पूर्वरूप सन्धि नियम में दृष्टिगत होता है। महर्षि पाणिनि लिखते है कि पदान्त एङ् से अत्- ह्रस्व अकार-परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है।[5]

---

1. अन्तः पादमकाराच्चेत्संहितायां लघोर्लघु।
   यकाराद्यक्षरं परं वकाराद्यपि वा भवेत्॥ ऋ0 प्रा0 2/35
2. लुप्यते त्वकार एकारोकारपूर्वः। तै0 प्रा0 11/1
3. एदोद्भ्यांपूर्वमकारः। वा0 प्रा0 4/62
4. एकारोकारान्तात्पूर्वः पदादेरकारस्य। च0 अ0 3/53
5. एङः पदान्तादति। सि0 कौ0 6•1•109

परिपन्न संधि -

"परि" उपसर्गपूर्वक "पत्" धातु से "परिपन्न" शब्द की व्युत्पत्ति होती है । "परि" का अर्थ होता है- चारो ओर से, पूर्ण रूप से तथा "पत्" का अर्थ है गिरना या नष्ट होना अस्तु "परिपन्न" का तात्पर्य पूर्णरूपेण विनाश होना है ।

यद्यपि कि शिक्षा ग्रन्थों में "परिपन्न" संज्ञक संधि का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है फिर भी तत्सम्बन्धित नियमों का विधान अवश्य किया गया है । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षानुसार ऊष्म तथा अन्तःस्थ वर्ण बाद में हो तो मकार का अनुस्वार हो जाता है।[1] महर्षि कात्यायनीप्रणीत स्वर भक्ति लक्षण शिक्षा में भी उपरोक्त मत का अनुवर्तन किया गया है ।[2] अथर्ववेदीया-माण्डुकी शिक्षा के मतानुसार य र व तथा ऊष्म वर्ण बाद में हों तो मकार का अनुस्वार हो जाता है।[3] नारदीय शिक्षा में कहा गया है कि रेफ तथा

---

1. अनुस्वारस्वरोष्मसु मकारस्येति च यो विधिः ।
   पदयोरन्तरे सः स्यात् पदमध्ये तु नस्य च ।।
   - व०र०प्र०शि० 140
   पदान्तीयमकारस्य त्वन्तःस्था परतो यदि ।
   नासिक्यमुपधापूर्व सोऽन्तःस्थात्वमवाप्नुयात् ।।
   - व०र०प्र०शि० 142
2. मादौ पदे परे मान्ते पूर्वमुच्चारिते सति ।
   मसवर्ण तु तत्र स्यादिमम्म इति दर्शनम् ।।- स्व०भ०ल०शि० 15
3. आपद्यते मकारो यवबोष्मसु प्रत्ययेऽनुस्वारम् ।
   न भवति लकारे परसवर्ण स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिः ।। माण्डु० शि० 98

ऊष्म वर्ण बाद में हो तो मकार का अनुस्वार हो जाता है ।

प्रातिशाख्यों में "परिषन्न" सन्धि का सविस्तार विवेचन किया गया है । ऋग्वेद प्रातिशाख्यकार के मतानुसार रेफ और ऊष्म वर्ण बाद में हो तो मकार "अनुस्वार" हो जाता है । इसे ही "परिपन्न" संधि कहते हैं ।[2] यथा- "होतारं रत्नधातमम्" में "होतारम्" का मकार बाद में "रत्नधातमम्" का पदादि रेफ होने से "अनुस्वार" हो गया है । तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुसार रेफ तथा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार का लोप हो जाता है ।[3] तद्-परान्त मकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर "अनुनासिक" हो जाता है।"[4]

1• आपद्यते मकारो रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारम् ।
यवलेषु परस्वर्णं स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम् ।।

- ना० शि० 2•3•4

2• रेफोष्मणोरुदयोर्मकारोऽनुस्वारं तत्परिपन्नमाहुः ।

ऋ० प्रा० 4/15

3• अथ मकारलोपः । रेफोष्मपर/ ।

तै० प्रा० 13•1-2

4• नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः।

तै० प्रा० 15/1

यथा- प्रत्युष्टम् + रथ: = प्रत्युष्टं रथ: । वाजसनेयि प्रातिशाख्यकार के मतानुसार र और "ऊष्म" वर्ण बाद में होने पर मकार "अनुस्वार" हो जाता है।[1] चतुरध्यायिकानुसार नकार तथा मकार का लोप होने पर "उपधा" संज्ञक "स्वर" "अनुनासिक" हो जाता है।[2] लौकिक व्याकरण में उपरोक्त मत का अनुवर्तन किया गया है।[3]

निष्कर्षत: रेफ या ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार का पूर्णतया विनाश हो जाता है, लोप हो जाता है" तदुपरान्त उसके स्थान पर "अनुस्वार" हो जाता है। उसे ही परिपन्न संधि कहते है । इस प्रकार स्पष्ट है "परिपन्न" में लोप की प्रक्रिया प्रधान है । इसलिए इसे लोप सन्धि के अन्तर्गत रखा गया है ।

नियत संधि -

"नि" उपसर्गपूर्वक "यम्" धातु से "नियत" शब्द व्युत्पन्न हुआ है । "नियत" का शब्दार्थ है रोका हुआ, दबाया हुआ । ऋग्वेद में "नियत" शब्द सम्बद्ध या बंधी हुई अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] शिक्षा ग्रन्थों में नामोल्लेख

1· अनुस्वार रोष्मसु मकार: । वा० प्रा० 4/1

2· नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिक: । च० अ० 1/67

3· मोऽनुस्वार: । सि० कौ० 8·3·23

4· वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद्गौस्ततो वय: । ऋ० 10·27·22

पूर्वक विधान नहीं किया गया है। परन्तु नियत संधि सम्बन्धी-प्रक्रिया का अनुवर्तन शिक्षाओं से ही किया गया है । दो भिन्न संधियों के लिए "नियत" संज्ञा का प्रयोग किया गया है । ऋग्वेद प्रातिशाख्य के मतानुसार " सघोष" व्यञ्जन बाद में हो तो अरिफित विसर्जनीय" "उपधा" के सहित आकार हो जाता है ।[1] यथा " पुनाना यन्त्यनिविशमाना " में " पुनाना:" का "अरिफित विसर्जनीय"अव्यवहित पूर्ववर्ती अक्षर के सहित आकार हो गया है । इसे नियत संधि है एक अन्य स्थल पर ऋग्वेद प्रातिशाख्यकार कहते है कि रेफ बाद में हो तो " ह्रस्व" का लोप हो जाता है तथा अव्यवहित पूर्ववर्ती " अक्षर " उपधा दीर्घ हो जाता है।[2] यथा " प्राता रत्नं प्रातरित्वा " में प्रात: के रिफित विसर्जनीय के पूर्व में ह्रस्व स्वर है तथा बाद में रत्नं का रेफ है, इसलिए रिफित विसर्जनीय का लोप हो गया है । तथा पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो गया है । इसे भी नियत संधि कहते हैं । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मतानुसार अवर्ण से अन्य स्वर पूर्व में होने पर तथा रेफ बाद में होने पर विसर्जनीय लुप्त हो जाता है[3] तथा पूर्व वाला स्वर दीर्घ हो जाता है[4] यथा-

---

1• विसर्जनीय आकारमरेफी घोषवत्पर: । ऋ0 प्रा0 4/24

2• द्राघितोपधा ह्रस्वस्य । ऋ0 प्रा0 4/29

3• अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते । तै0 प्रा0 8/16

4• दीर्घञ्च पूर्व: । तै0 प्रा0 8/17

"विष्णु स्पम्" में " विष्णु" के विसर्जनीय के पूर्व में उकार है तथा बाद में रप है, इसलिए विसर्जनीय का लोप होकर उकार{ उपधा} दीर्घ हो गया है । वाजसनेयि प्रातिशाख्य के मतानुसार रेफ बाद में होने पर तथा नामिन् स्वर पूर्व में होने पर विसर्जनीय का लोप हो जाता है तथा उपधा दीर्घ हो जाती है।[1] यथा- " प्रात: रात्रि: प्राता रात्रि: । अन्य शिक्षाओं में नियत संधि का नियमोल्लेख नहीं किया गया है ।

अकाम संन्धि -

वैदिक वाङ्मय में " अकाम " शब्द कामना रहित, इच्छा रहित इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है ।[2] "अकाम " का शब्दार्थ अनावश्यक, अनीप्सित तथा व्यर्थ आदि होता है । जब रेफ बाद में होता है तो " रिफित विसर्जनीय" का लोप हो जाता है । इसे ही अकाम संधि कहते हैं ।[3] यथा- "युवो रजांसि" में "रजांसि" का रेफ बाद में होने से "युवो:" का "विसर्जनीय" लुप्त हो गया है । तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार अकाम संधि के नियम और अधिक

---

1. रेफे लुप्यते दीर्घश्चोपधा । वा० प्रा० 4/36
2. अकामो धीरो अमृत: स्वयंभू: रसेन तृप्तो । अ०सं० 10/8/44
3. रेफोदयो लुप्यते । ऋ० प्रा० 4/28

सुस्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अवर्ण के अतिरिक्त स्वर पूर्व में होने पर तथा रेफ बाद में होने पर " रिफित विसर्जनीय" का लोप हो जाता है ।[1] यथा-" रेवती रमध्वम्" वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी उपरोक्त मतों का अनुवर्तन किया गया है । इसके अनुसार रेफ बाद में होने पर रिफित विसर्जनीय" लुप्त हो जाता है तथा " उपधा " "दीर्घ" हो जाती है ।[2] यथा-" रूरु: रौद्र: रूरौद्र:" ।

अन्वक्षरवक्त्रसंधि -

"अन्वक्षरवक्त्र" का शाब्दिक अर्थ मुख में प्रारम्भ में आदि होता है । प्रातिशाख्यों में " अन्वक्षरवक्त्र" शब्द पारिभाषिक अर्थ संधि विशेष में प्रयुक्त हुआ है ।

शिक्षा ग्रन्थों में अन्वक्षरवक्त्र का नामोल्लेख नहीं किया गया है । इससे सम्बन्धित नियमों का केवल प्रतिपादन किया गया है । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में कहा गया है कि अघोषतथा घोषवद् (सघोष) वर्ण परे होने पर विसर्जनीय का लोपहो जाता है[3]।

---

1. अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते । तै० प्रा० 8/16
2. रेफेलुप्यते दीर्घन्त्वोपधा । वा० प्रा० 4/35
3. कण्ठयोपध: सकार: स्याद् भाव्युपध: ष एव च ।

   अघोषे घोषवति तु लोपो रेफो यथाक्रमम् ।।

   - व०र०प्र०शि०।।7

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में " अन्वक्षरवक्त्र संधि का सविस्तार प्रतिपादन किया गया है । ऋग्वेद प्रातिशाख्य के ऋग्वेदप्रातिशाख्य के मतानुसार "अघोष" है बाद में जिसके ऐसा नत्‌ दन्त्य के स्थान पर आया हुआ भी और अनत भी " उष्म " वर्ण वाद में हो तो पदान्त "विसर्जनीय" लुप्त हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ " समुद्रः । स्थः, । कलशः । सोमऽधानः ।। समुद्रस्थः कलशः सोमधानः "[2] कः । स्विद् वृक्षः । निऽस्थितः ।" = कः स्विद् वृक्षो निष्ठितः, "[3] यह सन्धि अन्वक्षर वक्त्र संधि कहलाती है।"[4] तैत्तिरीय प्रातिशाख्यानुसार "अघोष" वर्ण है बाद में जिसके ऐसा उष्म वर्ण बाद में हो तो काण्डमायन आचार्य के मत से विसर्जनीय का लोप हो जाता है[5]। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के मत में अन्वक्षरवक्त्र संधि उसे कहते हैं जब "मत" संज्ञक वर्ण श ष स तथा जित्" संज्ञक वर्ण "अघोष" वाद में हों तो विसर्जनीय का लोप हो जाता है। "[6] यथा " अन्धः । स्थ = अन्ध स्थ" अन्य प्रतिशाख्यों में अन्वक्षरवक्त्र संधि का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है ।

---

1. उष्मण्यघोषोदये लुप्यते पदे नतेऽपि । ऋ० प्रा० 4·36
2. ऋ० 6·69·6
3. ऋ० 1/182/7
4. सोऽन्वक्षरसंधिर्वक्त्रः । ऋ० प्रा० 4/37
5. उष्मपरोऽघोषपरे लुप्यते काण्डमायनस्य । - तै० प्रा० 9/1
6. लुङ्मुदि जित् परे । वा० प्रा० 3/13

जैसा कि "अन्वक्षवक्त्र" के तात्पर्य से ही सिद्ध होता है कि इस सन्धि में विसर्जनीय का लोप अन्वक्षरवक्त्र अर्थात् प्रारम्भ में ही होता है। इसलिए इसे अन्वक्षर वक्त्र सन्धि कहते हैं। जब कि अनुलोम अन्वक्षर संधि में यह लोप एष:, स्य तथा स: इन तीनों स्थलों पर बाद में होता है।

आन्पद पदवृत्ति संधि -

"आन्पद" का अर्थ है आन में अन्त होने वाला पद तथा पद-वृत्ति का अर्थ है दो पदो के मध्य में होने वाली विवृति इस प्रकार आन्पद पदवृत्ति का अर्थ हुआ आन् में अन्त होने वाले तथा परवर्ती पद के मध्य में होने वाली विवृत्ति।

प्रातिशाख्यों में "आन्पद पदवृत्ति" संधि का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के मत में "आनन्द पदवृत्ति" संधि उसे कहते हैं जब आकार से पूर्व में जिसके वह नकार पद के अन्त में होने पर भी लुप्त हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ- सद्• सर्गान्ऽइव। सृजतम्। सुउस्तुती:। उप। सर्गा इव सृजतं सुस्टुती स्म"[2] महान् इन्द्र:। नृऽवत्। आ। चर्षणिऽप्रा: =- महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा:[3]।" में नकार के पूर्व

---

1. नकार आकारोपध: पदान्तोऽपि स्वरोदय:। लुप्यते। ऋ०प्रा० 4/65
2. ऋ० 8/35/20
3. ऋ० 6/19/1

पूर्व में आकार है तथा वाद में " स्वर " है इसलिए नकार का लोप हो गया है । इसके अतिरिक्त " अजान", जग्रसानान्" जघन्वान्", देवहूतमान्" वृद्धानान् आदि पदो के नकार पाद के अन्त में आने पर भी लुप्त हो जाते हैं । [1] ये सब आन्पद पदवृत्तियाँ हैं । [2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य में " आन्पद पदवृत्ति" संधि का कोई उल्लेख नहीं मिलता है । चतुरध्यायिकानुसार अकार" उपधा" वाला "पदान्तीय" न " स्वर " वाद में आने पर " विसर्जनीय" हो जाता है । [3]

एवंविध यह सिद्ध होता है कि " आन्" में अन्त होने वाला पदान्त" न "स्वर" वाद में होने पर लुप्त हो जाता है, जिससे दोनों पदों के मध्य में "विवृत्ति" निष्पन्न हो जाती है, यथा "महा" इन्द्रो नृवदा वर्षणिप्रा:" में " महान्" पदान्त "न" के पूर्व में " आ है तथा वाद में "इन्द्र:" का पदादिस्वर" "इ" है, अत: नकार का लोप होने पर "महा" तथा "इन्द्र:" दोनों के मध्य में "विवृत्ति" हो गई है तथा नकार का "उपधा" संज्ञक "स्वर" वर्ण" आ" अनुनासिक हो गया है। [4] इस प्रकार नकार

---

1. अजाञ्जग्रसानाञ्जघन्वान्देवहूतमान् ।
   वद्बधानां इन्द्र सोमांस्तृपाणो न्नो देव देवान् ।
   हन्त देवां इति च । ऋ0 प्रा0 4/66
2. एता आन्पदा: पदवृत्तय: । ऋ0 प्रा0 4/67
3. आकारोपधस्योपबद्धादीनां स्वरे । च0 अ0 2/27
4. -

का लोप होने पर दो पदो के मध्य में "विवृत्ति" की निष्पत्ति होने पर इसे" आन्पद पदवृत्ति" संधि कहा गया है ।

विवृत्यभिप्राय संधि -

" विवृत्यभिप्राय" का शब्दार्थ है वाह्य रूप से विवृत्ति लगने वाली अर्थात् जो पूर्ण रूपेण विवृत्ति न हो । प्रातिशाख्यों में इस संधि का सविस्तार विधान किया गया है । ऋग्वेद प्रातिशाख्य के मतानुसार इस संधि में भी नकार का लोप हो जाता है[1], यथा पीव:ऽअन्नान् । रयिवृध: । सुऽमेधा: । पीवोअन्ना रयिवृध: सुमेधा:[2], दधन्वान् । य: । नर्य: । अप्ऽसु। अन्त: । आ = दधन्वा यो नर्यो अप्स्वन्तरा "[3] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में इस सन्धि का कोई विधान नहीं किया गया है । वाजसनेयिप्रातिशाख्य के मतानुसार " दधन्वान्" तथा " स्ववान्" का नकार यकार बाद में होने पर लुप्त हो जाता है, तथा" रयिवृध:" यह पद बाद में होने पर भी पूर्ववर्ती नकार का लोप हो जाता है।[4] उदाहरणार्थ-" अन्नान् रयिवृध:" " अन्ना रयिवृध: " ।

पिछला 4• नकारस्य लोपरेफोष्मभावे
पूर्वस्तत्स्थानादनुनासिक: स्वर: । ऋ0 प्रा0 4/80

1• विवृत्यभिप्रायेषु च पीवोअन्ना रयिवृध: ।
दधन्वा यो जुजुर्वा य: स्ववा यातु ददा वेति । ऋ0 प्रा0 4/68

2• ऋ0 7•91•3

3• ऋ0 9•107•1

4• दधन्वान् स्ववान्यकारे लोपम् । रयिवृधे च । वा0प्रा0 3•136-137

2· आगम सन्धि

"आ" पूर्वक "गम्" धातु से आगम शब्द व्युत्पन्न हुआ है । जिसका शाब्दिक अर्थ होता है-(अतिरिक्त वर्ण का) आ जाना । वैदिक वाङ्मय में आगम शब्द आगमन,[1] (तर्कशास्त्र से) प्राप्त ज्ञान,[2] अतिरिक्त वर्ण का आ जाना[3] आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । ऋग्वैदिक काल में आगम का प्राचीनतम रूप "उपजन" दृष्टिगोचर होता है।[4] निरूक्त में भी "आगम के लिए "उपजन" का प्रयोग किया गया है ।[5] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में "आगम" तथा "उपजन" दोनों ही शब्दों का प्रयोग मिलता है इसमें "उपजन" का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि "पुरू", "पृथु" और "अधि" पूर्व में हो और "चन्द्र" शब्द बाद में हो तो दोनों के बीच में सकार का

1· मयादि पुत्रमा धेहि तं त्वमागमयागमे । आ0सं0 6·81·2

2· अथागमो यां यां देवतां निराह । नि0 13·13

3· लोपागमविकाराश्च प्रकृतिविक्रमः क्रमः । ऋ0 प्रा0 "मि0व0(5

0· ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽन्तरागमः ।
ऋ0प्रा0 2·3 इत्यादि

4· वेदा य उपजायते । ऋ0 1·25·8

5· अथापि वर्णोपजनः । आस्थद द्वारोभरूजेति । नि 2/1

आगम हो जाता है। "उपजन" शब्द "उप" पूर्वक "जन्" धातु से निष्पन्न होता है। "उपजन" का शब्दार्थ है – उत्पन्न हुआ अथवा जोड़ा हुआ [वर्ण" जैसा कि दोनों के व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ पर विचार करने पर यह सिद्ध होता है दोनों ही शब्द समानानार्थक है।

शिक्षाग्रन्थों में" आगम " संधि पर सुष्ठुरूपेण विचार किया गया है। जब कहीं पर शब्द अधिक अपूर्व ध्वनि से युक्त होता है तो उसे "आगम " सन्धि कहते हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा में " आगम" संधि के सम्बन्ध में उदाहरण प्रस्तुत किया गया है- प्रत्यङ्। सोम प्रत्यङ्क्सोम। प्राङ्। सोम। प्राङ्क्सोम अस्मान्। सीते। अस्मान्त्सीते। त्रीन्। समुद्रान्। त्रीन्त्समुद्रान्।[2] स्वरभक्ति लक्षण परिशिष्ट शिक्षा के प्रणेता महर्षि कात्यायन का विचार है कि जब पूर्व पद ङकारान्त हो तथा वाद में सादि पद हो तो वहाँ पर क सवर्ण अपने साथ दो हो जाता है। यथा- प्राङ् सोम। प्राङ्क्सोम।[3] पुन: आगे और अधिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यदि पूर्व पद नान्त हो तथा परवर्ती पद सादि हो तो वहाँ भी त सवर्ण अपने साथ दो हो जाता है। यथा त्रीन् समुद्रान्। त्रीन्त्समुद्रान्[4]। स्वराष्टक शिक्षा के मतानुसार

---

1. पूरूपृथवधिपूर्वेषु शकार उपजायते। ऋ प्रा० 4/84
2. याज्ञ० शि० 93
3. सादौ पदे परे पूर्व ङकारान्ते पदेसति। कसवर्ण द्वयं तत्र प्राङ्क्सोम इति दर्शनम्। स्व०भा०ल०शि० 13
4. सादौ परे नान्ते पूर्वे च समवास्थिते। तसवर्ण विजानीयाद् त्रीन्त्समुद्रान्निदर्शनम्।। स्व०भ०प०शि० 14

जब पूर्व में ङकार और नकार हो तथा उसके बाद सकार हो तो दोनों के मध्य में क्रमश: क तथा त् का आगम होता है । यथा- प्राङ् । सोम । प्राङ्क्सोम । त्रीन् । समुद्रान् । त्रीन्त्समुद्रान् । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी उपरोक्त मत का समर्थन किया गया है । इस शिक्षा के मतानुसार यदि ङ,कार तथा नकार पदान्त है और उससे परे सकार स्थित है तो दोनों के मध्य में यथाक्रम क् तथा त् का विधान होता है । यथा- प्राङ् सोम प्राङ्क्सोम[2]। याज्ञवल्क्य शिक्षा के मतानुसार यदि पूर्व में ङ्कारान्त पद हो तथा पर में सकार स्थित हो तो वहाँ पर कसवर्ण का आगम जानना चाहिए । यथा- प्राङ् । सोम । प्राङ्क्सोम[3] । उपरोक्त मत का अनुवर्तन लौकिक व्याकरण में भी दृष्टिगोचर होता है । महर्षि पाणिनि स्वरचित सिद्धान्त कौमुदी में लिखते हैं ।

कि ङकार और णकार को क्रम से कुक् ।
और टुक् का आगम होता है शर् परे रहने पर[4]।

---

1. ङ्नौ कागमतारामौ प्राप्नुत सकारे । स्व०श० शि० ।0

2. ङ्नकारौ पदान्तीयौ सकारे परत: स्थितै ।
   कताभ्यां व्यवधीयेते प्राङ्क्सोमश्च यथा तथा ।। व०र०प्र०शि० ।97

3. ङकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परत: स्थिते ।
   कसवर्णं विजानीयात्प्राङ्क्सोम इति दर्शनम् ।। याज्ञ० शि० ।29

4. ङ,णो: कुक् टुक् शरि सि०कौ० 8·3·20

"आगम " संधि को और अधिक सुस्पष्ट करते हुए ऋषि अमरेश स्वनिर्मित वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में लिखते हैं कि पदान्त प्रथम वर्ण, श ष स परे होने पर आचार्य शौनक के मत में द्वितीय हो जाता है।[1] नारदीय शिक्षा भी इस विचार से सहमत है। इसके अनुसार प्रथम वर्ण ऊष्म वर्णों से संयुक्त होने पर द्वितीय वर्णवत् प्रदर्शित किया जाता है।[2] याज्ञवल्क्य शिक्षा में इस मत का सविस्तारप्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार पूर्व पद ककारान्त हो तथा सकार पर मे हो तो वहाँ खवर्ण ‡ का आगम ‡ होता है। यथा- भिषक् । सीसे । भिषक्वसीसे ।।[3] यदि टकारान्त पद पूर्व में हो तथा संकार पर में हो तो वहाँ ठसवर्ण‡ का आगम ‡ जानना चाहिए।

---

1. पदान्ताः प्रथमा वर्णाः शषसेषु परेषु तान् ।
   शौनको द्वितीयान्निच्छेत् प्रकृत्याशाकरायनः ।
   असमानस्थलस्थाश्चेच्छौनकोऽपि वदेत् तदा ।।
   व०र०प्र० शि० ।22

2. प्रथमानूष्मसंयुक्तान् द्वितीयानिव दर्शयेत् ।
   न चैनान्प्रतिजानीयाद्यथा मृतस्य क्षुरोऽप्सरा ।
   ना० शि० 2.4.।।

3. ककारान्ते पदेपूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
   ॠ रवसवर्ण विजानीयाद भिषक्वसीसे निदर्शनम् ।।
   याज्ञ० शि० ।28

यथा- सम्राट् । सम्भृत । सम्राट्टसम्भृत ।।[1] यदि पूर्व में पकारान्त पद हो तथा पर में शकार स्थित हो तो वहाँ फसवर्ण का आगम है, जानना चाहिए । यथा - अनुष्टुप् । शारदीति । अनुष्टुप्फशारदीति ।।[2] यदि पूर्व में तकारान्त पद हो तथा पर में सकार हो तो वहाँ थ सवर्ण का आगम है जानना चाहिए । यथा- तत् सवितुः । तत्सवितुः ।।[3] यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि माध्यन्दिन मतावलम्बियों के मत में सकार पर में होने पर तकार का आगम नहीं होता है । परन्तु आपस्तम्ब के मत में सकार पर में होने पर भी तकार का द्वित्वागम होता है ।[4]

---

1. टकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
   ठसवर्ण विजानीयात् सम्राट्टसम्भृता निदर्शनम् ।
   याज्ञ० शि० ।32

2. पकारान्ते पदे पूर्वे शकारे परतः स्थिते ।
   फसवर्ण विजानीयात् अनुष्टुप्फशारदीति च ।
   याज्ञ० शि० ।34

3. तकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
   थसवर्ण विजानीयात् तत्सविता निर्दर्शनम् ।
   याज्ञ० शि० ।30

4. नैतन्माध्यन्दिनीयानां सस्थानत्वात्तयोर्द्वयोः ।
   सस्थानेऽपि द्वितीयं स्यादापस्तम्बस्य यन्मतम् ।।
   याज्ञ० शि० ।31

ऋषि अमरेश स्वनिर्मित वर्णरत्नप्रदीप का शिक्षा में " आगम " संधि का विस्तार करते हुए लिखते हैं कि यदि पूर्व में ह्रस्व हो तो पदान्त ङकार तथा नकार को द्वित्वागम होता है स्वर परे रहने पर[1]। इसीप्रकार माध्यन्दिनीय शिक्षा में यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि ह्रस्व पूर्व में हो तो पदान्त नकार तथा ङकार को द्वित्व का आगम होता है।[2] इसी प्रकार स्वराष्टक शिक्षा में भी उल्लेख मिलता है कि यदि ह्रस्वपरक ङ्कार तथा नकार का द्विर्भाव हो जाता है स्वर पर में होने पर।[3] इस मत का अनुवर्तन लौकिक व्याकरण में भी किया गया है। महर्षि पाणिनी स्वनिर्मित सिद्धान्त कौमुदी में लिखते हैं कि ह्रस्व से पर जो ङम् , तदन्त जो पद, उससे पर अच् को नित्य ङमुट् आगम हो[4]।.

प्रातिशाख्यों में वर्णित अधोलिखित सन्धियों में ~~लोप~~ आगम की प्रक्रिया दृष्टिगत होती है-

---

1• ह्रस्वपूर्वे ङनौ स्यातां पदान्तौ द्विः स्वरोदयौ।

वa०र०प्र०शि० ।62

2• ह्रस्वपूर्वौ नङौ द्वित्वमापद्येते पदान्तगौ।

माध्यं शि० 5

3• ह्रस्वपरङनौ द्विर्भावि स्वरे।

स्वa० अ० शि० 4/6

4• ङमो ह्रस्वादचि ङमुप नित्यम्। सि० कौ० 8•3•32

भुग्न--

" भुज् " धातु से उपभोग करने अर्थ में " भुग्न " शब्द निष्पन्न हुआ है । शिक्षाग्रन्थों में " भुग्न " संधि के सम्बन्ध अतिसूक्ष्म रूपेण विचार किया गया है । स्वराष्टक शिक्षानुसार ए ओ ऐ औ क्रमशः स्वर परे होने पर अय, अव आय, आव को प्राप्त हो जाते हैं ।[1] ऋग्वेदप्रातिशाख्यानुसार "ओष्ठ्य" ओ और औ है योनि जिनकी ऐसे अ और आ के बाद में यदि "अनोष्ठय" "स्वर" वर्ण हो तो दोनों के मध्य में वकार का आगम हो जाता । इसे " भुग्न " संधि कहते हैं ।[2] यथा वायो इति आ याहि । दर्शत । "वायवा याहि दर्शत "। ध्यातव्य है कि ऋग्वेद प्रातिशाख्यानुसार अन्तिमस्वर वर्ण से पूर्ववर्ती स्वर " ए " और " ओ " अकार हो जाते हैं, यदि बाद में स्वर वर्ण हो[3] । इस नियमानुसार उक्त स्थल पर "वायो " का ओकार अकार

---

1. ए ओ ऐ औ चत्वारः क्रमादेव स्वरे परे ।
   अयवायावतां यान्ति इ उ ऽ एहि क्षानुक्त् ।।
   स्व0 अ0 शि0 20
2. ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽन्तरागमः ।
   ऋ0प्रा0 2/31
3. पूर्वौ चोपोत्तमात्स्वरो । ऋ0 प्रा0 2/28

हो जाता है । यह अकार " ओष्ठ्य" ओकार के स्थान पर आया है, इसलिए यह अकार " ओष्ठ्य" योनि है । इस अकार के वाद में अनोष्ठ्य "स्वर" वर्ण अकार विद्यमान है, इस लिए प्रकृत सूत्र से अकार और आकार के मध्य में वकार का आगम हो गया है । लौकिक व्याकरण में भी इस मत का अनुवर्तन प्राप्त होता है । महर्षि पाणिनी स्वरचित सिद्धान्त कौमुदी में लिखते है कि एच् - ए ओ ऐ औ के स्थान में क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश हों, अच् के परे रहने पर[1] ।

एवंविध यह सिद्ध होता है कि इस संधि को " भुग्न" संज्ञा उचित ही है, क्यों कि भुग्न का तात्पर्य होता है रक्षा करना । इस संधि में भी पूववर्ती " ओष्ठ्य" ओ तथा और का स्वरूप लुप्त हो जाता है और उस ओ तथा औ के स्वरूप की रक्षार्थ स्थानीय वकार का आगम हो जाता है । वकार के आगम से संधि पूर्व ओ तथा औ का अस्तित्व होने की पहचान बनी रहती है ।

---

1. एचोऽयवायाव: ।

सि०कौ० 6·1·78

अन्त: पात संधि -
=========

"अन्त: " पूर्वक " पत् " धातु से " अन्त:पात" शब्द की व्युत्पत्ति हुई है । अन्त: का शब्दार्थ होता है मध्य में तथा " पात " का अर्थ है गिरा हुआ, आया हुआ । इस प्रकार " अन्त: पात" का शाब्दिक अर्थ है पदों के मध्य में गिरा हुआ, आया हुआ । वैदिक वाङ्मय में भी मध्य में गिरना इस अर्थ में " अन्त: पात" शब्द का प्रयोग हुआ है[1]। शिक्षा ग्रन्थों में यद्यपि कि" अन्त:पात" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है, फिर भी अन्त:पात संधि विषयक नियमों का प्रतिपादन आगम संधि के अन्तर्गत भलीभाँति किया गया है।[2] ऋग्वेद प्रातिशाख्यानुसार यदि ङ·कार के बाद में "अघोष""ऊष्मन् " हो तो उन दोनों के बीच में ककार का आगम हो जाता है।[3] उदाहरणार्थ प्रत्यङ् । स: विश्वा । भुवना । प्रत्यङ्क्स विश्वा भुवना[4] । में ङ·कार के बाद में " अघोष ऊष्मन्" सकार है, अत: दोनों के मध्य में ककार का आगम हो गया है । यदि टकार और नकार के बाद में सकार हो तो दोनों के मध्य में तकार का आगम हो[5]। यथा- हि ।अप्राट । स: । प्र । इति ।। हाप्राटत्स प्रेति[6] ।। में पद-पाठ में टकार के बाद में सकार है इसलिए

---

1. तच्छङ्·कु निहन्ति, सोऽन्त: पात: । श०ब्रा० 3·5·1·1
2. या०शि० 129, 131, 132, 134,
   व०र०प्र०शि० 122, 162, 197
   ना०शि० 2·4·11 , स्व०अ० शि० 4·6
   माध्य० शि० 5 , स्व०भा० ल० 14
3. ङ·कारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरेकेककारम् । ऋ० प्रा० 4/16

दोनों के मध्य में तकार का आगम हो गया है। नकार के बाद में शकार हो तो दोनों के मध्य में चकार का आगम हो जाता है। यथा घनाऽइव। बज्रिन्। श्नथिहि। घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि[2]।। में बज्रिन् का नकार ञकार हो गया है।[3] नकार के स्थान पर आये हुए ञकार के बाद में "श्नथिहि" का शकार है, अतः ञकार और शकार के मध्य में चकार का आगम हो गया है। ये सभी सन्धियाँ "अन्तःपात" कहलाती है[4]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्यानुसार सकार अथवा षकार वाद में होने पर तथा ङकार पूर्व में होने पर दोनों के मध्य में ककार का आगम होता है[5]। उदाहरणार्थ- प्रत्यङ्। षडहः। प्रत्यङ्क्षडह।। इसी प्रकार सकार या षकार वाद में हो तो तथा टकार या नकार पूर्व में हो तो दोनों के मध्य में तकार को आगम होता है[6]।

---

1. ~~ऋ0-10-32-7~~ ञकारे शकारपदे चकारम्। ऋ0 प्रा0 4/18
2. ऋ0 1.63.5
3. ऋ0 प्रा0 4.19
4. तेऽन्तःपाताः। ऋ0 प्रा0 4/19
5. ङ.पूर्वः ककारः सषकारपरः। तै0 प्रा0 5/32
6. टनकारपूर्वश्च तकारः। तै0 प्रा0 5/33

यथा " षद्द्र षडनुयाजावनुयाजौ । " वाजसनेयि प्रातिशाख्यानुसार ङ्कार और नकार क्रम से ककार तथा तकार से व्यवहित होते हैं । यदि सकार बाद में हो[1] । उदाहरणार्थ प्राङ् । सोम: । प्राङ्क्सोम: । त्रीन् । समुद्रान् । त्रीन्त्समुद्रान् ।।

एवंविध यह सिद्ध होता है कि जिन संधियों में दो पदों के मध्य में तृतीय वर्ण का आगम हो जाता है उन्हें " अन्त: पात " संधि कहते हैं ।

शोदाक्षर -

शोदाक्षर का शाब्दिक अर्थ है " शुद्धअक्षर से युक्त । " कौशितकी ब्राह्मण के अनुसार जब प्रणव अर्थात् ओडम् अनुनासिक रहित उच्चारित होता है तो उसे " शुद्ध " कहते हैं[2] । चतुरध्यायिकानुसार भी अनुनासिकता से रहित "स्वर" को " शुद्ध कहा जाता है ।[3] ऋग्वेदप्रातिशाख्यानुसार जब "पुरु" पृथु या " अधि " पूर्व में हो और " चन्द्र " शब्द बाद में हो तो दोनों के मध्य में शकार का आगम हो जाता है । समास के पूर्व पद का अन्तिम अक्षर यदि ह्रस्व हो तब भी " चन्द्र " शब्द बाद में होने पर मध्य में शकार का

---

1. ङ्नौ क्ताभ्यां सकारे । वा०प्रा० 4/15
2. कौ०ब्रा० 11·5·14·3
3. अनुनासिक: पूर्वश्च शुद्ध: । च० अ० 4·121
4. ऋक्

आगम हो जाता है[1]। यदि "परि" पद्य के बाद में "कृ" हो तो दोनों के बीच में षकार का आगम होता है,[2] उदाहरणार्थ "परि कृण्वन्निष्कृतम् ।। परिष्कृण्वन्निष्कृतम् ।।" में "परि" के बाद में "कृण्वन्" है, अतः दोनों के मध्य में षकार का आगम हो गया है । यदि "वन" के बाद में "सद" शब्द हो तो दोनों के मध्य में रेफ का आगम हो जाता है[3]। यथा "वन । सद ।। वनर्षदम् ।।" में वन पूर्व पद्य तथा "सद" उत्तरे पद्य के मध्य में रेफ" का आगम हो गया है । "परिष्कृण्वन्ति वेधसः" तथा "अस्कृतोषसम्" में भी निपातन से क्रमशः षकार तथा सकार का आगम हो गया है[4]। ये सभी शौदाक्षरे सन्धियां कही गयी है[5]।

एवं विधं इस संधि में अनुनासिकता से रहित शुद्ध सकार, षकार, शकार तथा रेफ का आगम होता है । "स्पशरिफ, " स्पशोष्म" तथा "आन्पद-वृत्ति" इत्यादि सन्धियों में जो रेफ, शकार तथा सकार का आगम होता है।

1• पुरू पृथ्वधि पूर्वेषु शकार उपजायते ।
 ह्रस्वे च पूर्वपद्यान्ते चन्द्रशब्दे परेऽन्तरा । ऋ०प्रा० 4/84

2• परीति पद्ये कृपरे षकारः । ऋ०प्रा० 4/85

3• बनेति रेफः सदशब्द उत्तरे । ऋ० प्रा० 4/86

4• परिष्कृण्वन्ति वेधसः । अस्कृतोषसम् । ऋ०प्रा० 4/87, 88

5• शौदाक्षरा संधय एत उक्ताः । ऋ० प्रा० 4/89

वह अनुनासिक गुण से युक्त होता है । किन्तु " शौदाक्षर " संधियों में अनुनासिक गुण नहीं आता । शुद्ध अनुनासिक सकार, शकार तथा रेफादि का आगम होता है । " शौदाक्षर " संज्ञक आगम "सर्वदा अक्षर अर्थात् स्वर के बाद में होता है व्यन्जन के बाद में नहीं । इसलिए इसे शौदाक्षर संधि कहते है ।

3• विकार सन्धि

"वि " उपसर्ग पूर्वक "कृ": धातु से घञ् प्रत्यय के योग से विकार शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है रूपान्तरण या परिवर्तन या प्रकृति अवस्था से व्याख्या जब कहीं पर वर्णों का रूपान्तर प्राप्त हो जाता है तो उसे " विकार " सन्धि कहते हैं । यथा- आ इदम् । एदम् ।। आ इमे । एमे ।। आ इष्टय: । एष्टय: ।। प्र इषित: । प्रेषित: [1] ।। स्वराष्ट शिक्षा में यद्यपि कि विकार नाम का कोई उल्लेख है फिर भी विकार संधि से सम्बन्धित नियमो उल्लेख किया गया है [2] । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी "विकार " संधि का नियमोल्लेख है [3] । प्रतिशाख्यों में विकार संज्ञा का प्रयोग

1• या0शि0 93

2• स्व0अ0शि0 1,2,3, 4,8,9,10,12,13,14,15,16,17,20

3• व0र0प्र0शि0 111

नहीं है परन्तु विकार संधि सम्बन्धी नियमो का उल्लेख किया गया है । लौकिक व्याकरण में भी विकार संज्ञा का विधान नहीं किया गया है परन्तु " विकार " संधि नियमो का अनुवर्तन किया गया है । शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थो में विकार संधि सम्बन्धी नियमों का उल्लेख तत्तत् स्थानों में किया जा चुका है । इसलिए यहाँ संकेत मात्र किया गया है।

प्रश्लिष्ट सन्धि -

"प्र" उपसर्ग पूर्वक मिलनार्थक "श्लिष् " धातु में "क्त " प्रत्यय के योग से " प्रश्लिष्ट" शब्द व्युत्पन्न हुआ है । " प्रकर्षेण श्लिष्यते इति प्रश्लेष:" अर्थात् दो स्वर वर्णों के मिल जाने को ही प्रश्लेष" कहते हैं । इसे ही "प्रश्लिष्ट" संधि कहते हैं ।

1· ऋ0 प्रा0 1/81, 2/15-33, 4/2, 3, 25,27,31,32,41,
4/69, 70,71, 72, 74, 77
तै0 प्रा0 1/19, 6/5, 8/2 , 3,6
9/2, 8·20, 10/2, 3-8, 15
वा0 प्रा0 3/8, 9,12, 140· 141,
4/37, 43, 47, 52, 53, 54, 120,
च0अ0 2/2, 5,40,42·43, 54· 62,
अ0प्रा0 147

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेदप्रातिशाख्य के अतिरिक्त यद्यपि कि शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में प्रश्लिष्ट संज्ञक संधियों का विधान नहीं किया गया है। फिर भी "प्रश्लिष्ट" संधि के अन्तर्गत आने वाले संधि नियमों का विश्लेषण किया गया है। स्वराष्टक शिक्षाकार के मतानुसार सवर्ण परे होने पर पूर्ववर्ती अकार का आकार, इकार का ईकार, उकार का का ऊकार तथा ऋकार का ॠकार हो जाता है[1]। ऋग्वेद प्रातिशाख्यकार के मतानुसार सामने स्थान वाले दो "समानाक्षर" एक "दीर्घ स्वर वर्ण हो जाता है[2]। उदाहरणार्थ- "अव । अजनि ।। अवाजनि"। उपरोक्त दृष्टान्त में "अव" के पदान्त अकार के बाद "अजनि" का सवर्ण समानाक्षर "अ" है, अतः दोनों के स्थान पर दीर्घ आकार हो गया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मतानुसार "समानाक्षर" के बाद में "सवर्ण" समानाक्षर आये तो दोनों "सवर्ण" समानाक्षरों के स्थान पर एक "दीर्घ सवर्ण" समानाक्षर हो जाता है।[3]

---

1. अ आमपरे । इरीमिकारे । उरूमुवर्णे । ऋहकारम् ऋकारः सवर्णे । स्व० अ० शि० 19,11,13
2. समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम् । ऋ०प्रा० 2/15
3. दीर्घं समानाक्षरे सवर्ण परे । तै० प्रा० 10/2

वाजसनेयि प्रातिशाख्यानुसार "सिम" (समानाक्षर) संज्ञक स्वर के बाद में "सवर्ण" स्वर हो तो दोनों के स्थान पर एक "दीर्घ" स्वर हो जाता है।[1] चतुरध्यायिकानुसार अपना "सवर्णसमानाक्षर" स्वर बाद में होने पर समानाक्षर "दीर्घ" हो जाता है।[2] लौकिक संधियों में भी इन वैदिक संधि नियमों का अनुवर्तन दृष्टिगत होता है। महर्षि पाणिनि के मतानुसार अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व पर के स्थान पर दीर्घ एकादेश हो जाता है।[3] यथा दैत्य+ अरि: = दैत्यारि: ।

स्वराष्टक शिक्षानुसार इकार पर में होने पर पूर्ववर्ती स्वर (के साथ मिलकर) एकार हो जाता है तथा उकार पर में होने पर पूर्ववर्ती स्वर (के साथ मिलकर) ओकार हो जाता है।[4] यदि एकार तथा ओकार पर में हो तो पूर्ववर्ती स्वर(के साथ मिलकर) ऐकार तथा औकार हो जाता है।[5]

---

1. सिं सवर्णे दीर्घम् । वा० प्रा० 4/52
2. समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घ: । च० अ० 3/42
3. "अक: सवर्णे दीर्घ: ।" सि० कौ० 6.1.10
4. एकारमिवर्णे । ओकारमुवर्णे । स्व० अ० शि० 3,4
5. ऐकारमे सेपरत्वे । औकारमो औपरत्वे । स्व० अ० शि० 6,7

ऋग्वेदप्रातिशाख्यानुसार इकार (इ या ई) बाद में हो तो पूववर्ती अकार (अ या आ) परवर्ती (इ या ई) के साथ मिलकर एकार हो जाता है।[1] यथा-" आ । इन्द्र सानसिं रयिम् ।। एन्द्र सानसिं रयिम् ।।" में पदान्त "आ" के बाद "इन्द्र" का पदादि "इ" है, अत: दोनों की संधि होकर "एन्द्र" रूप सम्पन्न हुआ है । यदि उकार (उ या ऊ) बाद में हो तो पूववर्ती अकार (अ या आ) ओकार हो जाता है[1]। उदाहरणार्थ- " आ इत । आयाम । उप गव्यन्त इन्द्रम् ।। एतायामोप गव्यन्त इन्द्रम् ।।" यदि "समानाक्षर" संज्ञक स्वर वर्णों के बाद में आने वाले अर्थात् संध्यक्षरों के मध्य में जो विषम ओज ए, ऐ है वे बाद में हो तो पूर्ववर्ती अकार (आ या आ) ए या ऐ के सहित ऐकार हो जाता है।[2] यथा- " आ । एनम् देवास: ।। एनं देवास: । यदि सम संध्यक्षर ओ, औ बाद में हो तो पूववर्ती अकार (अ या आ) परवर्ती ओ या औ के सहित औकार हो जाता है ।[3] यथा " यत्र । ओषधी: समग्मत ।। यत्रौषधी: समग्मत ।।" तैत्तिरीय प्रातिशाख्यानुसार अवर्ण पूर्व में तथा इवर्ण, उवर्ण, एकार, ऐकार, ओकार, औकार तथा ऋकार बाद में हो तो क्रमश:, ए , ओ, ऐ और तथा अर हो जाता है।[4] वाजसनेयिप्रातिशाख्यानुसार "कण्ठ्य" स्वर पूर्व में हो तथा इवर्ण या

---

1. इकारो एकारमकार: सोदय: । ऋ0प्रा0 2/16
2. तथा उकारोदय ओकारम् । ऋ0 प्रा0 2/17
3. परेष्वैकारमोजयो: । ऋ0 प्रा0 2/18
4. औकारं युग्मयो: । ऋ0 प्रा0 2/19
5. अथार्णपूर्वे । इवर्णपर एकारम् । उवर्णपर ओकारम् । एकारैकारपर ऐकारम् । ओकारौकारपर औकारम् । अरमृकारपरे। तै0 प्रा0

उवर्ण बाद में हो तो दोनों के स्थान पर क्रमश: एकार तथा ओकार हो जाता है ।[1] चतुरध्यायिकानुसार यदि अवर्ण के बाद में इवर्ण उवर्ण आये तो दोनों के स्थान पर क्रमश: एकार तथा ओकार हो जाता है ।[2] अवर्ण के बाद में ऋवर्ण आये तो अर हो जाता है ।[3] इसके अतिरिक्त अवर्ण के बाद में ए, ऐ आने पर ऐकार हो जाता है, तथा ओ, औ आने पर औकार हो जाता है ।[4] लौकिक संधियों में इन नियमों का अनुवर्तन किया गया है । महर्षि पाणिनि के मतानुसार अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व और पर दोनों के स्थान पर एक गुण आदेश हो जाता है ।[5] इन्हीं के मतानुसार अवर्ण से एच् परे होने पर पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो जाता है ।[6]

एवंविध प्रश्लिष्ट संधि के अन्तर्गत अर् संधि का विधान मात्र तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा चुरध्यायिका में ही किया गया है, क्यों कि तैत्तिरीय संहिता तथा अथर्ववेद में अ । ऋ ।। अर ।। उपलब्ध होता है । जब कि ऋग्वेदप्रातिशाख्य तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य में इस नियम का विधान नही किया गया है, क्यों कि ऋग्वेद और वाजसनेयि संहिता में यह अनुपलब्ध

---

1. कण्ठ्यादिवर्ण एकारम् । उवर्ण ओकारम् । वा० प्रा० 4/53,54
2. अवर्णस्येवर्ण एकार: । उवर्ण ओकार: । च०अ० 3/44, 45
3. अरमृवर्णे । च०अ० 2/47
4. एकारैकारयोरैकार: । ओकारौकारयोरौकार: । च०अ०3/50,51
5. आदगुण: । सि०कौ० 6·1·87

है । यदि अ के वाद ऋ आये तो अ में कोई विकार नहीं होता पर यदि आ के बाद में ऋ आये तो आ का अ हो जाता है ।[1]

क्षेप्र संधि -

"क्षेप्र" शब्द "क्षिप्र" से निष्पन्न हुआ है । "क्षेप्र" का शाब्दिक अर्थ है शीघ्रता से उत्पन्न जिन संधियों के उच्चारण करते समय वर्ण क्षिप्र रूप ग्रहण कर लेते हैं उन्हें क्षेप्र संधि कहते हैं ।

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेदप्रातिशाख्य के अतिरिक्त यद्यपि कि शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थो में क्षेप्र संज्ञक संधियों का विधान नहीं किया गया है फिर भी इसके अन्तर्गत आने वाले संधि- नियमों का विश्लेषण किया गया है । स्वराष्टक शिक्षानुसार "स्वर" बाद में हो तो इ का य, उ का व् तथा ऋ का रेफ हो जाता है ।[2] ऋग्वेदप्रातिशाख्यानुसार "स्वर" (वर्ण) बाद में हो तो (पूर्ववर्ती) अकण्ठ्य "समानाक्षर" (इ ई उ, ऊ) अपना "अन्त:स्था" (य,व) हो जाते हैं ।[3] यथा- "अभि । आर्षेयम् ।। अभ्यार्षेयम् ।। ये क्षेप्र संज्ञक संधियाँ प्राकृतोदय होती है ।[4] अर्थात् पदादि ज्यों का त्यों रहता है । यथा "अभि । आर्षेयम् । अभ्यार्षेयम् ।" में आर्षेयम् का आकार

---

1. ऋकार उदये कण्ठ्यावकारं तुदुद्ग्राहवत् । ऋ० प्र० 2/32

2. इर्यस्वरे । उर्व स्वरे। ऋकारोरेफं स्वरे । स्व० शि० 8·10·12

3. समानाक्षरमन्तस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम् । ऋ० प्रा० 2/21

4. ते क्षेप्रा: प्राकृतयोदया: । ऋ० प्रा० 2/23

यथावत् रहता है । तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुसार इवर्ण तथा उकार "स्वर" वर्ण बाद में होने पर मकार तथा वकार हो जाते हैं[1] । वाजसनेयि प्रातिशाख्यानुसार असवर्ण" स्वर" बाद में होने पर भाविन् नामिन् स्वर "अन्त:स्था" हो जाते हैं ।[2] चतुरध्यायिकानुसार स्वर वर्ण बाद में होने पर "नामिन्" स्वर वर्ण" अन्त:स्था" हो जाते हैं ।[3] लौकिक संधियों में भी इन वैदिक संधि नियमों का अनुवर्तन किया गया है । महर्षि पाणिनि के मतानुसार अच् परे होने पर इक् के स्थान में यण् आदेश होता है[4] ।

एवंविध अकण्ठ्य समानाक्षर, विजातीय स्वर वर्ण बाद में होने पर क्षिप्र रूप प्राप्त कर लेता है । इउ, उ ऋ तथा लृ- इन स्वर वर्णों तथा य्, व्, र्, ल्, इन "अन्त:स्था" वर्णों के उच्चारण स्थान समान है । इ, उ, ऋ तथा लृ- इन " स्वर" वर्णों का उच्चारण काल ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत-भेद से क्रमश: एक मात्रा, दो मात्रा तथा तीन मात्रा होता है । जब कि य, व, र, तथा ल, का उच्चारण काल अर्ध मात्रा होता है । इसलिए इ, उ,ऋ,लृ का ही क्रमश: य,व,र तथा ल् के रूप में क्षिप्र काल में उच्चारण होता है । यही कारण है कि जिन संधियों में अकण्ठ्य " समानाक्षर" क्षिप्रता को प्राप्त करके य,व आदि रूपों को प्राप्त कर लेता है उनको ऋग्वेदप्राति-

---

1. इवर्णोकारौ यवकारौ । तै० प्रा० 10/15
2. स्वरे भाव्यन्तस्थाम् । वा० प्रा० 4/47
3. स्वरे नामिनोऽन्त:स्था । च० अ० 3/39
4. इको यणचि । सि०कौ० 6·1·77

शाख्य में "क्षेप्र" संज्ञा दी गयी है । इसे ही लौकिक संधि में पाणिनि ने "यण" संधि नाम से व्याख्या की है ।

उद्ग्राह संधि -

" उत् " पूर्वक "ग्रह" धातु से " घञ्" प्रत्यय के योग से उद्ग्राह" शब्द की व्युत्पत्ति होती है । जिसका शाब्दिक अर्थ- बाहर निकाला हुआ होता है ।

वैदिकवाङ्मय में ऋग्वेद प्रातिशाख्य से अन्यत्र यद्यपि कि शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में" उद्ग्राह" संज्ञक संधियों का विधान नहीं किया गया है फिर भी कुछ शिक्षाओं में इसके अन्तर्गत आने वाले संधि- नियमों का प्रतिपादन किया गया है । स्वराष्टक शिक्षानुसार स्वर परे होने पर ए, ओ, ऐ तथा और का क्रमश अय, अव्, आय् तथा आव् हो जाता है ।[1] ऋग्वेदप्रातिशाख्यानुसार "ह्रस्व" स्वर वर्ण पूर्व में हो तो अतिरिक्त विजसंनीय " उपधा" के सहित अकार हो जाता है।[2] यथा -"यइन्द्र सोमपातम: ।" इसके अतिरिक्त अन्तिम"स्वर" वर्ण से पूर्ववर्ती दो " स्वर " वर्ण ए और ओ भी अकार हो जाते हैं, यदि बाद में स्वर वर्ण यथा-" अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवा: । " इन संधियों को " उद्ग्राह" कहा गया है ।[3] लौकिक संधियों में भी इस नियम का अनुवर्तन किया गया है । इसके अन्तर्गत पाणिनिकृत "एचोऽयवायाव:

---

1. ए ओ ऐ और चत्वार: क्रमादेव स्वरे परे । अयवायावतां यान्ति इउऽए हि कृशानुवत् । स्व० शि० 20 एकारोऽयं स्वरे । ओकारोऽवं स्वरे । ऐरायं स्वरे । औरावंस्वरे । स्व० शि० 14,15,16,17

2. ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम् । ऋ० प्रा० 2127

क्रमश: --

तथा "लोप: शाकल्यस्य"[6] से निष्पन्न संधियाँ आती हैं ।

एवं विध इस संधि में " उपधा " सहित "विसर्जनीय" से विसर्जनीय तथा एकार और ओकार इन संध्यक्षरों में से क्रमश: इकार औरउकार को बाहर निकाल दिया जाता है तथा उनका अकार मात्र ही शेष रहता है, इसलिए इस संधि को " उद्ग्राह " संधि कहा गया है ।

पदवृत्तिसंधि -

" पदवृत्ति " का शाब्दिक अर्थ होता है दो पदों के मध्य में स्थित विवृत्ति । " पदवृत्ति " में स्थित " वृत्ति " से विवृत्ति का बोध होता है । ऋग्वेद प्रातिशाख्यानुसार यदि " दीर्घ " स्वर वर्ण पूर्व में हो तथा

-5---

3• पूर्वो चोपोत्तमात्स्वरौ । ऋ0 प्रा0 2•28

4• त उद्ग्राहा: । ऋ0 प्रा0 2/29

5• सि0 कौ0 6/1/78

6• सि0कौ0 8•/3•/19

तथा स्वर वर्ण" ह्रस्व" या दीर्घ बाद में हो तो "अरिफित विसर्जनीय" आकार हो जाता है ।[1] यथा "या ओषधी: सोमराज्ञी:" इसके अतिरिक्त अन्तिम दो स्वर वर्ण ऐ और भी आकार हो जाते हैं । यदि बाद में स्वर" वर्ण हो।[2] यथा "सूर्याय पन्थानमन्वेतवा उ ।" उपरोक्त दोनों ही दृष्टान्तों में पदान्त दीर्घ पूर्व विसर्जनीय ऐ और ओर पदादि स्वर वर्ण आकार तथा उकार बाद में आने पर अकाआकार हो जाते हैं । ये पदवृत्ति संधियाँ कहलाती है।[3] इसके अन्तर्गत पाणिनिकृत "एचोऽयवायाव:"[4] तथा लोप: शाकल्यस्य"[5] से निष्पन्न संधियाँ आती हैं । स्वराष्टक शिक्षा में भी इस संधि- नियम की झलक दृष्टिगत होती है ।[6]

उद्ग्राह पदवृत्ति संधि -

"दीर्घ" स्वर वर्ण बाद में हो तो वे ही "उद्ग्राह" संधियाँ उद्ग्राह पदवृत्ति संधि" कहलाती है ।[7] यथा-"कईषते तुज्यते ।" "उद्ग्राह पदवृत्ति" में "पदवृत्ति" शब्द" दीर्घ"स्वर का सूचक है ।

---

1. विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्व: स्वरोदय: । आकारम् । ऋ0प्रा0 2/24
2. उत्तमो च द्वौ स्वरौ । ऋ प्रा0 2/25
3. ता0 पदवृत्तय: । ऋ0 प्रा0 2/26
4. सि0को0 6·1·78
5. सि0को0 8·3·19
6. स्व0शि0 10
7. दीर्घपरा उद्ग्राहपदवृत्तय: । ऋ0 प्रा0 2·30

उद्ग्राहवत् संधि -

"उद्ग्राहवत्" का शाब्दिक अर्थ है उद्ग्राह संधि के समान। ऋग्वेदप्रातिशाख्यानुसार ऋकार बाद में हो तो कण्ठ्य अ और आ आकार हो जाते हैं। यह "उद्ग्राहवत्" संधि है।[1] यथा "प्र ऋभुभ्यो दूतमिव"। आऽप्रषायन्। मधुना। ऋतस्थ। आप्रषायन्मधुन ऋतस्य।" में प्रथम दृष्टान्त में ऋकार बाद में होने के कारण कण्ठय अ का अ हो गया है इसी प्रकार "उद्ग्राह" संधि में भी "उपधा" सहित विसर्जनीय अः, एकार तथा ओकार स्वर वर्ण पाद में होने पर अकार हो जाता है। इसलिए इस संधि को उद्ग्राह" संधि के समान कहा गया है। द्वितीय दृष्टान्त में ऋतस्य का ऋकार बाद में होने के कारण मधुना के नकारोत्तरवर्ती आकार को काटकर उसके एक भाग अ को अलग निकाल लिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप अ शेष बचता है।

प्राच्य तथा पञ्चाल पदवृत्ति-

वैदिक वाङ्मय में प्राच्यपञ्चाल पदवृत्ति संधि का विधान ऋग्वेदप्रातिशाख्य में किया गया है। अन्य प्रातिशाख्यों में इस संधि का कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है। ऋग्वेदप्रातिशाख्यानुसार "उद्ग्राह" संधियों के जो पूर्व रूप ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय, ए और ओ हैं उनके परे यदि अकार हो तो उनपूर्व रूपों में से दो- ए और ओ प्रकृति-रूप में रहते हैं तथा

1• ऋकार उदये कण्ठ्यावकारं तदुद्ग्राहवत्। ऋ० प्रा० 2/32

आदि वाला एक ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय ओ हो जाता है । वे "प्राच्यपन्चाल-पदवृत्तियाँ" कहलाती है । अन्य एकार पर्व प्राच्यों की होती है । वे प्राच्यपदवृत्तियाँ कहलाती है । उदाहरणार्थ= ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना" में ते का एकार "उद्ग्राह" संधियों का द्वितीयपूर्वरूप है । इसके बाद में अकार है, इसलिए एकार प्रकृति रूप में रहता है, तथा एकार पूर्व में होने के कारण यह प्राच्य पदवृत्ति है । "पान्चाल पदवृत्ति" के लिए उदाहरण-" पुरोळाशं यो अस्मै । उद्ग्राह" संधि के पूर्वरूप ओकार के बाद अकार आने से भी "पन्चाल पदवृत्ति" होती है यथा "प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य" में "प्रो" का ओकार "उद्ग्राह" संधियों का तृतीय पूर्वरूप है । इसके बाद में अकार है इसलिए यह ओकार प्रस्तुत सूत्र से प्रकृति- रूप में रहता है तथा ओकार पूर्व में होने के कारण यह भी "पन्चाल पदवृत्ति" है ।

"प्राच्य" तथा "पन्चाल" पदवृत्तियाँ "अभिनिहित" संधि का अपवाद है । जहाँ "अभिनिहित" संधि नहीं ~~लगती~~ होती है वहाँ "विवृत्ति" होती है । विवृत्ति द्वय विध होती है प्रथम "प्राच्य" तथा द्वितीय "पन्चाल पदवृत्ति" ।

वंशंगम संधि -

"वंशंगम" का शाब्दिक अर्थ है- वश में आया हुआ । अभिप्राय

---

1. उद्ग्राहाणां पूर्वरूपाण्यकारे प्रकृत्या द्वे ओ भवत्येकाधम् ।
प्राच्यपन्चालपदवृत्तयस्ता: पन्चालानामोष्ठयपूर्वा भवन्ति ।।

ऋ० प्रा० 2/33

यह है कि इन संधियों में " स्पर्श" और "व्यन्जन" एकदूसरे के वश में आकार विकार को प्राप्त होते हैं। इसलिए इन्हें वंशगम संधिया" कहते हैं। ऋग्वेदप्रातिशाख्यानुसार " सघोष व्यन्जन" बाद में हो तो सभी वर्गों के प्रथम " स्पर्श" अपने वर्ग के तृतीय स्पर्श" हो जाते है।[1] यथा-" आ चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः। इसका विस्तार करते हुए लिखा गया है कि अन्तिम "स्पर्श" बाद में हो तो वर्ग के प्रथम " स्पर्श" अपने अन्तिम "स्पर्श" हो जाते हैं।[2] यथा- " अर्वाङ्नरा दैव्येनावसा गतम्।" इसी प्रकार अन्यत्र भी "वंशगम" संधि के अन्तर्गत आने वाले संधि- नियमों का विधान किया गया है[3] किन्तु उनकी "वंशगम" संज्ञा नहीं की गई है। इसी प्रकार शिक्षाग्रंथों में भी" वंशगम " के अन्तर्गत आने वाले संधि- नियमों का विधान किया गया है,[4] किन्तु उनकी

---

1. घोषवत्परा: प्रथमास्तृतीयान्स्वान्। ऋ0 प्रा0 4/2
2. उत्तमानुत्तमेषूदयेषु। ऋ0 प्रा0 4/3
3. उत्तमपर उत्तमं सवर्गीयम्। तै0 प्रा0 8/2

   तृतीयं स्वरघोषवत्परः। तै0 प्रा0 8/3 इत्यादि

   स्पर्शोऽपन्चमः स्वरधौ तृतीयम्। वा0 प्रा0 4/120

   पञ्चमे पञ्चमम। वा0 प्रा0 4/123 इत्यादि

   पदान्तानामुत्तमानो तृतीया घोषवत्स्वरेषु। च0 अ0 2/2

   उत्तमा उत्तमेषु। च0 अ0 2/5 इत्यादि।
4. पदान्ताः प्रथमा वर्णाः परतः स्वरघोषिणोः।
   भजन्ते स्वतृतीयत्वं चोत्तमत्वं तथोत्तमे।। व0र0प्र0शि0।।

"वंशगम" संज्ञा नहीं की गयी है । लौकिक संधियों में भी "वंशगम" के अन्तर्गत आने वाले संधि नियमों का अनुवर्तन किया गया है ।

प्रश्लिष्ट संधि -

"प्र" उपसर्गपूर्वक आश्रित अर्थक "श्रि" धातु से "क्त" प्रत्यय के योग प्रश्रित शब्द निष्पन्न हुआ है । इस संधि में "घोषव्यन्जन" बाद में होने पर ह्रस्वपूर्व "विसर्जनीय" ओ" का आश्रित हो जाता है । ऋ0 प्रा0 के मतानुसार "ह्रस्व स्वर" है पूर्व में जिसके वह "अरिफित विसर्जनीय" "उपधा" के सहित ओकार हो जाता है । यदि विसर्जनीय" के बाद में घोष व्यन्जन" हो [2] । यथा "देवो देवेभिरागमत" अन्य प्रातिशाख्यों में भी "प्रश्रित" के अन्तर्गत आने वाले संधि नियमों का उल्लेख किया गया है [3] । किन्तु "प्रश्रित" संज्ञा का विधान नहीं किया गया है ।

+. कचटतपाङनणनमाः पञ्चमे । स्वा0 अ0 शि0 4/2

1. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा । सि0कौ0 8.4.45

2. ओकार ह्रस्वपूर्वः । ऋ0 प्रा0 4/25

3. घोषवत्परश्च । तै0 प्रा0 9/8

सर्वो अकार ओकारम् । वा0 प्रा0 4/43

घोषवति च । च0अ0 2/54

व्यापन्न संधि -

वि एवं आ उपसर्गपूर्वक "पद " धातु में "क्त" प्रत्यय के योग से " व्यापन्न" शब्द व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अभिप्राय है- किसी अन्य ध्वनि में परिवर्तित हो जाना । ऋ० प्रा० के मतानुसार "ऊष्म " वर्ण नहीं है बाद में जिसके ऐसा "अघोष स्पर्श बाद में हो तो " रिफित"और अरिफित विसर्जनीय" उस बाद वाले "अघोष स्पर्श" के समान स्थान वाले " ऊष्म " वर्ण हो जाते हैं ।[1] उदाहरणार्थ " य ᳲ ककुभो निधारय: ", यद्यो देवाश्चकृम " "देवास्तं सर्वे" । "अघोष ऊष्म" वर्ण बाद में हो तो "विसर्जनीय" वही परवर्ती " ऊष्म" वर्ण हो जाता है ।[2] यथा " यो वश्शिवतमो रस:" देवीष्षडुर्वीरुरु न: कृणोत "" ये नस्सपत्ना अप ते भवन्तु " । "व्यापन्न" संधि का विधान करते हुए तै० प्रा० में कहा गया है कि " अघोष" वर्ण बाद में हो तो "विसर्जनीय" उस" अघोष" के समान स्थान वाले" ऊष्म" वर्ण में परिवर्तित हो जाता है ।[3] वा०प्रा० के अनुसार तकार तथा थकार बाद में होने पर "विसर्जनीय" सकार हो जाता है ।[4] यथा "नम: ते रुद्र= नमस्ते रुद्र" वा०प्रा० के अनुसार

---

1. अघोषे रेफ्यरेफी चोष्मापर्व स्पर्श उत्तरे ।
   तत्स्थानमनूष्मपरे । ऋ० प्रा० 4/31
2. तमेवोष्मापमूष्मणि । ऋ० प्रा० 4/32
3. अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्मापम् । तै० प्रा० 9/2
4. तथयो: सम् । वा० प्रा० 3/8

"मुत " संज्ञक वर्ण (श, ष, स) बाद में होने पर " विसर्जनीय" पर सवर्ण को प्राप्त हो जाता है[1]। यथा- "आशु" शिशान:" = आशुश्शिशान:"। क ख तथा प फ बाद में हो तो "विसर्जनीय" शाकटायन आचार्य के मतानुसार क्रमश: जिह्वामूलीय" तथा " उपध्मानीय" हो जाते हैं।[2] यथा-" विष्णो क्रम: " वसो पवित्रम् " इत्यादि। च अ० के मतानुसार " अघोष" वर्ण बाद में हो तो " विसर्जनीय" परवर्ती समान स्थान वाले वर्ण में परिवर्तित हो जाता है।[3] अन्य प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में व्यापन्न संधि का विधान नहीं किया गया है।

उपाचरित संधि -

" उप तथा "आङ" पूर्वक " चर " धातु में "क्त " प्रत्यय के योग से "उपाचरित" शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अभिप्राय है समीप में आया हुआ। प्रातिशाख्य ग्रन्थों के अनुसार " उपाचरित" का अर्थ है विसर्जनीय का सकारभाव हो जाना ऋ० प्रा० के अनुसार मूर्धन्यभाव करने वाला "स्वर" (नामिन् " है पूर्व में जिसके वह " विसर्जनीय " षकार हो जाता है और अन्य (जिसके

---

1. प्रत्ययसवर्ण मुदि शाकटायन :। वा० प्रा० 3/9
2. जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायन:। वा० प्रा० 3/12
3. विसर्जनीयस्य परसस्थानोऽघोषे। च० अ० 2/40

﴾जिसके पूर्व में मूर्धन्यभाव करने वाला "स्वर" नहीं है वह " "अरिफित विसर्जनीय﴿" सकार हो जाता है, यदि बाद में ककार या पकार विद्यमान हो। पद के मध्य में तो सर्वत्र ही ऐसा होता है। यह संधि "उपाचरित" कहलाती है।[1] यथा "अथो यूयं स्थ निष्कृती:" "यस्पतिर्वार्यापाम्।" तै० प्रा० के अनुसार "रस:" तथा सप्ते" से युक्त "अग्नि:" "नि:" "विद्:" आदि का विसर्जनीय" तकार बाद में होने पर नित्य षकार को प्राप्त होता है।[2] च०अ० के अनुसार समास में "अन्त:" सद्य:" श्रेय: तथा" छन्द:" को छोड़कर "क" तथा "प" बाद में आने पर "विसर्जनीय" सकार हो जाता है।[3] अ०प्रा० में "उपाचार" का प्रयोग किया गया है तथा "उपाचार" के अपवाद सम्बन्धी उदाहरणों में दर्शाया गया है।[4]

एवंविध यह स्पष्ट होता है कि "विसर्जनीय" का सकार तथा षकार होने वाली संधि की "उपाचरित" संज्ञा की गयी है। "विसर्जनीय" है﴾अ﴿ स तथा ष- ये सब "ऊष्म" वर्णों के अन्तर्गत आते हैं। इस सन्धि में "विसर्जनीय" x "ऊष्म" वर्ण स् तथा ष् में ही परिवर्तित हो जाता है। इसलिए इसे "उपाचरित" संधि कहते हैं,। लौकिक व्याकरण में भी इस नियम

1• यथादिष्ट नामिपूर्व: षकारं सकारमन्योऽरिफित: ककारे।
पकारे च प्रत्ययेऽन्त:पदं तु सर्वत्रैवोपाचरित: स संधि:।।
ऋ० प्रा० 4/41

2• रस: सप्तेऽग्निर्निविद्मर्दिद्: पायुभिर्वै: सुमतिर्मा किरीयुरायुराभि: सधिर्निकिस्तकारपारो नित्यं। तै० प्रा० 6/5

3• समासे सकार: कपयोरनन्त: सद्य: श्रेयश्छन्दसाम्। च०अ० 2/62

का अनुवर्तन किया गया है। महर्षि पाणिनि लिखते हैं कि विसर्ग के स्थान में सकार आदेश हो खर् परे होने पर।[1] विष्णुः + त्राता- विष्णुस्त्राता।

स्पर्श रेफ संधि -

ऋ० प्रा० के अनुसार" हतम्" योनौ, "वचोभिः, यान्" "युवन्यून्" वनिषीष्ट" ये पद बाद में हो तो ईकार और ऊकार के बाद में आने वाला नकारा रेफ हो जाता है यथा- "उत्पर्णी र्हतमूर्म्या मदन्ता" में "हतम्" बाद में आने पर ईकार से बाद में आया हुआ "उत्पर्णीन्" का नकार रेफ हो जाता है। "स्वरवर्ण बाद में होने पर भी, ईकार और ऊकार से बाद में स्थित नकार रेफ हो जाता है।[2] यहाँ तक कि "दस्यूँ रेक:" और "नॄँरभि" इन द्विपदों में भी नकार रेफ हो गया है।[3] ये "स्पर्शरिफ संधियों है।[4] तै० प्रा० के अनुसार "इति" बाद में नहीं है जिनके ऐसे "ग्राह, "उख्य" आदि शब्द बाद में होने पर इकार उकार से पूर्ववर्ती नकार रेफ हो जाता है तथा आकार पूर्व नकार

---

1. हतयोनौ वचोभिर्यान्युवन्यू र्वनिषीष्टेति।
   ईकारोकारोपहितो रेफमेषु। ऋ० प्रा० 4/69
2. स्वरेषु च। ऋ० प्रा० 4/70
3. दस्यूँ रेको नॄँरभि च। ऋ० प्रा० 4/71।
4. ते स्पर्शरिफसंधय:। ऋ० प्रा० 4/72

यकार हो जाता है ।[1] वा०प्रा०के अनुसार "शत्रून्", "परिधीन्", क्रतून्", "वनस्पतीन्, " का नकार "स्वर" बाद में होने पर रेफ हो जाता है ।[2] यथा- अप जहि शत्रूँ रयमृध: ।" अस्तु इस संधि में "स्पर्श" वर्ण नकार ही "स्वर" बाद में होने पर रेफ हो जाता है इसलिए इसे" स्पर्शरेफ" संधि कहते हैं ।

स्पर्शोष्म संधि -

ऋ०प्रा० के अनुसार " चरति, "चक्रे" "चमसान्", "च" "चो" आदि बाद में हो तो " दीर्घस्वर " के बाद में आने वाला नकार सर्वत्र विसर्जनीय" के समान कार्य करता है,[3] यथा-" अन्तर्महांश्चरति रोचनेन।" आगे आने वाली जिन सन्धियो में नकार "विसर्जनीय" हो जाता है वे तथा उपरोक्त " स्पर्शोष्म" सन्धियां कहलाती है ।[4] वा०प्रा० के अनुसार "नॄन्" का नकार पकार बाद में होने पर " विसर्जनीय " को प्राप्त कर लेता है,[5] यथा " नॄन् पाहि" = नॄ: पाहि । " एवं विध पदान्त नकार स्पर्श वर्ण

---

1. अनितिपरो ग्रहोऽध्यया ज्यापृष्ठ्य हिरण्यवर्णीयिष्वीकारोकारपूर्वो रेफमाकारपूर्वश्च यकारम् । तै० प्रा० 9/20
2. शत्रून् परिधीन् क्रतून् वनस्पतीन् स्वरे रेफम् । वा०प्रा० 3/141
3. चरति चक्रे चमसांश्च चो चिच् चरसि च्यौत्नश्चतुररश्चिकित्वान् । एतेषु सर्वत्र ~~विसर्जनीय~~ विसर्जनीयवद्दीर्घोपध: ।। ऋ० प्रा० 4/4
4. विसर्जनीयं परेष्विति ते स्पर्शोष्मसंधय: । ऋ० प्रा० 4/77
5. नॄन् पकारे विसर्जनीयम् । वा० प्रा० 3/140

"ऊष्म" वर्णों में परिवर्तित होने से इन्हें "स्पर्शोष्म" सन्धि कहते है । लौकिक व्याकरण में महर्षि पाणिनि द्वारा इस नियम का अनुवर्तन किया गया है ।[1]

रेफसन्धि -

गुर्राना या कर्कश ध्वनि कराना अर्थ वाली "रिफ" धातु से "रेफ" शब्द निष्पन्न हुआ है । वस्तुत: वस्त्रादि को फाड़ने से जो ध्वनि होती है उसके समान ध्वनि करने से जो उच्चरित होता है वह "रेफ" है ।[2]

ऋ0प्रा0 में इसे वर्णविशेष के रूप मेंप्रयोग किया गया है । ऋ0 प्रा0 के अनुसार "स्वर" या "सघोष व्यन्जन" बाद में हो तो सभी "ह्रस्व" या" दीर्घ" उपधाओं वाला रिफित विसर्जनीय" रेफ" हो जाता है, इन्हें रफि सन्धियां" कहते है,[3] यथा- "प्रातर्जित भगमुग्रम्" में सघोष व्यन्जन" ज" बाद में होने पर प्रात: का रिफित विसर्जनीय" रेफ हो जाता है ।[4] तै0 प्रा0 के अनुसार "स्वर" या घोष" वर्ण बाद में होने पर" विसर्जनीय" रेफ होजाता है,[5] यथा-तदग्निराह"

---

1. नृन् पे सि0 कौ0 58.3.10
2. रिफ्यते विपाट्यते वस्त्रादिपाटनध्वनि वदुच्चार्यत इति रेफ: । तै0 प्रा0 § वै0 आ0 भाष्य। 1/19
3. स्वोंपधस्तु स्वरघोषवत्परो रेफ रेफी ते पुना रेफसंधय: । ऋ0 प्रा0 4/27
4. प्रात: । ऋ0 प्रा0 1/81
5. रेफमेतेषु तै0 प्रा0 8/6

वा० प्रा० में दोनों प्रकार का "रिफित" और अरिफित विसर्जनीय" स्वर" या सघोष(धि" वर्ण बाद में होने पर "रेफ" हो जाता है,[1] यथा "अग्निरेकाक्षरेण"। च०अ०के अनुसार "नामिन्" स्वर उपधा में हो तथा "स्वर" या "घोष" वर्णबाद में हो तो "विसर्जनीय" रेफ हो जाता है,[2] यथा-"वायुरमित्राणां अग्निर्वत्स: ।" अस्तु "स्वर" वर्ण या "सघोष" वर्ण बाद में होने पर सभी उपधाओं "ह्रस्व" या दीर्घ" वाला "विसर्जनीय" रेफ हो जाता है ।

प्रकृतिभाव संधि -

"प्र" उपसर्गपूर्वक "कृ" धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से प्रकृति शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ अपने नैसर्गिक रूप से विद्यमान रहना है । वैदिक वाङ्मय में प्रकृति भाव शब्द का प्रयोग "मूल रूप से रहना" इस अर्थ में किया गया है ।[3] लौकिक संस्कृत में जहाँ संधिसंभव होने पर भी संधि नहीं होती है वहाँ "प्रकृतिभाव" होता है । किन्तु वैदिक संस्कृति में "प्रकृति भाव" को संधि के अन्तर्गत माना गया है ।[4] संहिता पाठ में कोई

---

1. रेफ स्वरधो । वा० प्रा० 4/37
2. नाभ्युपधस्य रेफ: । घोषवति च । च०अ० 2/42-43
3. प्रकृतिभाव ऋक्षु । वा० प्रा० 4/80
4. संधिश्चतुर्विधो भवति लोपागमविकारा: प्रकृतिभावश्चेति ।

या० शि० 93

लोपागमौ विकारश्च प्रकृत्या भवनं तथा ।
ज्ञातव्यो निपुणैरेवं संस्कारोऽसौ चतुर्विध: । वा०र०प्र०शि० 106,107

विकार नहीं होने पर भी प्रकृति भाव को प्राप्त पदों में संधि तो होती ही है।

वस्तुत: जब कहीं पर वर्णान्तर सम्बन्ध होने पर भी वर्ण पूर्ववत् स्थिति में रहता है तो उसे "प्रकृतिभाव" सन्धि कहते हैं। प्रातिशाख्यों में "प्रकृतिभाव" के लिए प्रकृति तथा प्रकृत्या शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] याज्ञवल्क्य शिक्षानुसार भी वर्णों के पूर्ववत् स्थिति में रहने को ही "प्रकृति भाव" सन्धि कहते हैं।[2] यथा- आशु:। शिशान:।। आशु। शिशान:। युञ्जान:। प्रथमम्। युञ्जान: प्रथमम्।। ऋ० प्रा० के अनुसार "इति" शब्द बाद में हो तो "प्रगृह्य स्वर" वर्ण "प्रकृतिभाव" से रहते हैं,[3] यथा- "इन्दो इति।" आर्षी संहिता में "स्वर" वर्ण बाद में होने पर भी "प्रगृह्यस्वर" वर्ण "प्रकृति भाव" से रहते हैं।,[4] "राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मै।" उकार से प्रारम्भ होने वाला पद बाद में हो तो "सु" यह पद प्रकृतिभाव से रहता है, यथा ताभिरूषु ऊतिभिरश्विना गतम्"। कहीं - कहीं दो पदो के मध्य में जहाँ "प्रश्लिष्ट," "अभिनिहित" "आदि संधियाँ नहीं

---

1. ऋ०प्रा० 2/51, 11/16
   प्रकृत्या करवयो:पफ्योश्च। प्रकृतिदीर्घाविते्के। वा० प्रा० 3/11,
   3·/130 प्रगृह्याश्च प्रकृत्या।च०अ० 3/33
2. याज्ञ० शि० 93
3. प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्या:। ऋ० प्रा० 2/5
4. स्वरेषु चार्ष्याम्। ऋ० प्रा० 2/52

होती हैं वहा " प्रकृतिभाव " होता है । अकार वाद में हो तो "पूषा" यह पद " प्रकृतिभाव " से रहता है, यदि उस " पूषा " पद के पूर्व में एक "अक्षर" वाला पद या "तत्र " पद न हो[2] यथा-" पूषा अविष्टुमाहिन: " इस उदाहरण में " पूषा " के बाद में "अविष्टु" का अकार है और पूर्व में एक "अक्षर" वाला पद या "तत्र " पद नहीं है, अत: पूषा पद " प्रकृतिभाव " को प्राप्त हो गया है । "अक्षर" वर्णों के मध्य मेंप्रथम अकार वाद में हो या पन्चम इकार या षष्ठ ईकार बाद में हो तो ये पद "श्रद्धा" "साम्राज्ञी" सुक्षमी" "स्वधोटी," "पृथुजयी", "ईषा" "मनीषा, अया[3]" निद्रा, ऽउदु अयान्," रजेषितम्, "धनर्चम्" इत्यादि पद निपात से " प्रकृतिभाव " से रहते हैं ।[4] तै० प्रा० के अनुसार "अप्लुत" उकार " स्वर " वाद में होने पर प्रकृति रूप में रहता है तथा उकार और "स्वर" के मध्य में वकार का आगम होता है ।[5] "धा, "मा", "पा", आदि का अन्तिम "स्वर" संहितापाठ में असि बाद में होने पर तथा " बुहिन्या " "ज्या" "आ" "पूषा", अमिन्त" आदि के अन्तिम "स्वर" "स्वर" वाद में होने पर

---

1. उकारादौ । ऋ० प्रा० 2/57
2. पूषेत्यकारे न चेत्तदेकाक्षरतत्रपूर्वम् । ऋ० प्रा० 2/58
3. श्रद्धा साम्राज्ञी सुक्षमी स्वधोटी पृथुजयी पृथिवीषा मनीषा ।
   अया निद्रा ज्या प्रपेति स्वराणां मुख्ये परेपन्चमषष्ठयोश्च ।।
   ऋ० प्रा० 2/59
4. उदु अयान्नजेषितं धनर्च शतर्चसं दशोण्ये दशोण्ये ।
   यथो हिषे यथो विषे दशोणिं स्वरोदयं पिबा इमं रथोकह ।।

प्रकृतिभाव से रहते हैं ।[1] "प्लुत" तथा "प्रगृह्य" "प्रकृतिभाव" से रहते है ।[2] वा० प्रा० के अनुसार "छन्दो" का ओकार "अपङ्‌यम्" "अङ्काङ्कम्" तथा अस्त्रीवय पद में होने पर प्रकृति रूप में रहता है ।[3] "का" "ध्रुवा" "ऊती", "सदना" आदि पद "प्रकृतिभाव" से रहते हैं ।[4] च० अ० के अनुसार श्री प्रगृह्य "स्वर प्रकृतिभाव से रहते है[5], तथा "एना" "एहा" आदि प्रकृति रूप से रहते हैं[6]। कभी कभी "ए" तथा "ओ" पूर्व में होने पर भी पदादि अकार प्रकृतिरूप में रहता है[7]। अ०प्रा० के अनुसार "अवग्रह" में नकार प्रकृतिभाव से रहता है ।[8]

---

1. न धामापास्मिरो बुद्धिनवाज्यापूषा मिनन्तार्षे ।

   तै०प्रा० 10/13

2. न प्लुतप्रग्राहौ । तै० प्रा० 10/24

3. छन्दोऽङ्कूपमङ्गाङ्कमस्त्रीवय: । वा० प्रा० 4/86

4. का ध्रुवोती सदनाहोताराज्यास्वधापृथिवीप्रतिमेमसदन्नश्यामा-

   कर्मोर्दर्वीमियमवस्तादुतास्तिषु । वा० प्रा० 4/87

5. प्रगृह्याश्च प्रकृत्या । च०अ० 3/33

6. एना एहा आदयश्च । च०अ० 3/34

7. क्वाचित्प्रकृत्या । च०अ० 3/54

8. नकारावग्रहे प्रकृतिभावश्च ।

अभिनिहित संधि -

लोप संधि के अन्तर्गत विवेचन किया जा चुका है ।

प्रगृह्यपद संधि -

"प्र" उपसर्ग पूर्वक "ग्रह्" धातु में "क्त" प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है ग्रहण किया हुआ, पकड़ा हुआ । ऋ0 प्रा0 के अनुसार परवर्ती "स्वर" वर्णों के साथ होने वाली ये संहिता में सर्वत्र पद-पाठ और संहिता में "प्रगृहीतपद" पद कहलाती है । यथा "इन्दा इति" अतप्यमाने अवसा-वन्ती अनु" । इसका आशय यह है कि "इन्दो" का ओकार तथा "अतप्यमाने" का एकार ऋ0 प्रा0 के अनुसार प्रकृति भाव से रहता है परन्तु विकार विहीन विहीन होने पर भी संहिता तो होती है । इस प्रकृतिभाव" अर्थात् विकार विहीन संहिता को प्रगृहीत पद" कहा जाता है ।

विक्रान्त संधि -

"वि" उपसर्गपूर्वक "क्रम" धातु से "क्त" प्रत्यय के योग से "विक्रान्त" शब्द निष्पन्न हुआ है । जिसका तात्पर्य होता है- ज्यो का त्यों छोड़ा हुआ ।[2] वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थलों पर पराक्रम से विजित इस अर्थ में "विक्रान्त" शब्द का प्रयोग किया गया है ।[3] ऋ0 प्रा0 के अनुसार जहाँ" विसर्जनीय"

---

1. सहोदयास्ता: प्रगृहीतपदा: सर्वत्रैव । ऋ0 प्रा0 2/54
2. मानियर विलियम का संस्कृत अंग्रेजी कोश पृ0 955
3. विष्णो: क्रान्तमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि--- तै0 सं0 1·7·7·2

ज्यों का त्यों रहता है वह "विक्रान्त" संधि है। "नॄ पतिभ्य:" "नॄ: प्रेत्रम् " "नॄ पात्रम् " और "स्ववतवा पायु:" यह विक्रान्त " संधि है[1] तथा "नॄ पाहि श्रृणुधि" यह भी विक्रान्त" संधि है।[2] तै0प्रा0 के अनुसार "क्ष" वाद में हो तो "विसर्जनीय" समान " स्थान" वाले "ऊष्म" वर्ण को प्राप्त नहीं होता है।[3] वा0 प्रा0 के अनुसार शाकल्य आचार्य के मत से श, ष स वाद में होने पर विसर्जनीय" विकार को प्राप्त नहीं करता है।[4] यथा "आशु: शिशान:"। शाकल्य आचार्य के मत से "विसर्जनीय" प्रकृति रूप में रहता है यदि क ख तथा प फ बाद में हो तो [5] च0 अ9 के अनुसार" विभक्ति "रूप" रात्रि तथा रथतर बाद में हो तो "विसर्जनीय" परिपत नही होता है।[6] अस्तु इस संन्धि में कोई विकार नहोने से इसे विक्रान्त संधि कहते हैं।

+. विष्णो र्विक्रमणमसि विष्णो र्विक्रान्तमसि। मा0 सं0 10/19
त्रीणि हवीषि निर्वपति विराज एव विक्रान्त-- तै0ब्रा0 1.1 5.10

1. नॄ: पतिभ्यो नॄं, प्रेमं नॄ: पात्रं स्ववतवा= पायु: संधिर्विक्रान्तएवैष:।
ऋ0 प्रा0 4/78

2. नॄं: पाहि श्रृणुधीति च। ऋ0 प्रा0 4/79

3. नक्षपर:। तै0 प्रा0 9/3

4. अविकार शाकल्प: शषसेषु। वा0 प्रा0 3/10

5. प्रकृत्या करवयो प्रफयोश्च। वा0 प्रा0 3/11

6. न विभक्ति रूपरात्रिरथंतरेषु। च0 अ0 2/51

स्वर संधि -

वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा में प्रकारान्तरसे " स्वर " संधि की गणना संधियों में की गयी है । [1] प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा में स्वर संधि का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि जब पदान्त और पदादि के बीच संधि कार्य होता है तो उसे स्वरसंधि कहते है । भावी संज्ञक इ उ ऋ लृ स्वर स्वर परे होने पर अन्तस्थ य व र ल को क्रमश: प्राप्त हो जाता है[2]। यथा- पुनाः यच्छिद्रेण ष्वाज्ज्यव्वां । सन्ध्यक्षर संज्ञक स्वर ए ओ ऐ और स्वर परे होने पर अय् अव् आय् तथा आव् आदेश हो जाता है।[3] यथा- विष्णो एते= विष्णवेते कण्ठ्य स्वर ऋकार परे होने पर ह्रस्व स्वर हो जाता है ।[4] सिम् संज्ञक स्वर सवर्ण परे होने पर पूर्व पर के स्थान में एक दीर्घ आदेश हो जाता है।[5]

---

1. स्वरयोर्वा हलोर्वाऽपि स्वरव्यन्जनयोस्त । व0र0प्र0शि0 ।07
2. अथ स्वरसन्धिरभिधीयते । पदान्तपदाद्यो सन्धिः । यदत्र सन्धिकर्यमुच्यते तत्पदान्तपदाद्यो: स्यात् । स्वरे भाव्यन्तस्थाम् । ते भावी सन्ज्ञक इ उ ऋ लृ स्वरा: स्वरे परे अन्तस्था यवरला: क्रमश: आपद्यन्ते । प्रा0प्र0शि0 संधि प्रकरण, 3,4
3. सन्ध्यक्षर संज्ञका: स्वरा ए ओ ऐ और स्वरे परे अय् अव् आय् आव् एतानादेशापद्यते । प्रा0 प्र0 शि0 5,6
4. कण्ठ्य स्वर ऋकारे परे ह्रस्व स्वदमापद्यते । प्रा0प्र0 शि0 8
5. सवर्णे दीर्घम् । सिम् संज्ञक स्वर सवर्णे परे पूर्व: परश्च एकं दीर्घमापद्यते। प्रा0 प्र0 शि0 8-9

यथा- नारातये । स्वाहाग्नये । कण्ठ्य स्वर के बाद इवर्ण आवे तो एकारादेश हो जाता है । कण्ठ्य स्वर के बाद इवर्ण पूर- पर दोनों स्थान पर एकार आदेश हो जाता है ।[1] यथा जयेन्द्राय । एदम् । यदि कण्ठ्य स्वर के वाद उवर्ण आवे तो पूर्व के स्थान पर ओकार आदेश हो जाता है।[2] यथा- इहोर्ज्जम्। प्रोहामि । यदि कण्ठ्य स्वर के बाद सन्ध्यक्षर स्वर ऐकार तथा ओकार आता है तो ऐकार तथा ओकार आदेश हो जाता है ।[3] यथा- भ्राजायैव ते । इन्द्रैपैन्द्रम् । ओजिष्ठौजिष्ठः । प्रौक्षन् ।। स्वराष्टक शिक्षा में भी स्वर संधि का सम्यक् विवेचन किया गया है । इस शिक्षा के मतानुसार यदि अकार वाद में अकार या आकार आये तो दोनों के स्थान पर आकार आदेश हो जाता है ।[4] यथा- तव अयम् ।। तवायम् यदि अकार के बाद में इवर्ण आये तो एकाद आदेश होता है ।[5] यथा-तव

---

1. कण्ठ्यादिवर्णऽएकारम् । कण्ठ्यात्परइवर्णपूर्वः परश्चे कारमापद्यते । प्रा० प्र०शि० 9/10
2. उवर्ण ओकारम् । कण्ठयत्परउवर्णः पूर्वश्च एकामोकारमापद्यते । प्रा० प्र०शि०
3. सन्ध्यक्षरमैकारौकारौ । कण्ठ्यात्स्वरात्परं सन्ध्यक्षर पूर्व एतौ ऐकारौ-कारौ आपद्येते । प्रा०प्र०शि० ।।
4. अऽआम्परे । स्व०अ०शि० 2
5. एकारमिवर्णे । स्व० अ०शि० 3

इदम् ।। तवेदम् ।। उवर्ण परे होने पर ओकार आदेश होता है[1] यथा तव ऊरु: ।। तवोरु ।। एकार परे होने पर ऐकार आदेश होता है।[2] यथा- तव एतत् । तवैतत् । तव ऐश्वर्यम् तवैश्वर्यम् । ओकार परे होने पर औकार आदेश होता है ।[3] यथा तव ओज: । तवोज: । प्र औक्षन् प्रौक्षन् । यदि इकार के बाद में स्वर आये तो य् आदेश होता है।[4] यथा- व्वाजी अर्व्वन् । व्वाज्यर्वन् । वि उषुर्षे ।। व्युषुषि । उकार के बाद में स्वर आये तो व् आदेश होता है ।[5] यथा- नुऽइन्द्र ।। न्विन्द्र ।। एकार के बाद में स्वर होने पर अय् आदेश होता है ।[6] यथा- अग्ने आयाहि ।। अग्नयायाहि । ओकार से परे स्वर आये तो अव् आदेश हो जाता है[7] । यथा विष्णो एते ।। विष्णवेते । ऐकार से परे स्वर होने पर

---

1. ओकारमुवर्णे । स्व अ०शि० 4
2. ऐकारमेऐपरत्वे । स्व० अ० शि० 6
3. ओकारमोऽऔपरत्वे । स्व०अ०शि-7
4. ईर्य्य स्वरे । स्व०अ०शि०8
5. उर्व्व स्वरे । स्व०अ०शि० 10
6. एकारोऽय स्वरे । स्व० अ० शि० 14
7. ओकारोऽवस्वरे । स्व०अ०शि० 15

आय् आदेश हो जाता है ।[1] यथा- भूम्यै आयन् । भूम्यायायरवन् ।। ओकार से पर में स्वर आये तो आव् आदेश हो जाता है ।[2] यथा- उभौ इन्द्रौ । उभा विन्दो । अन्य शिक्षा ग्रन्थों में स्वर संधि सम्बन्धी कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है । लौकिक व्याकरण में महर्षि पाणिनि द्वारा इन नियमों का अनुवर्तन किया गया है । यद्यपि कि इस सन्धि में व्यन्जन से सम्बन्धित धर्म कार्य का सम्पादन किया जाता है । इसलिए इसे व्यन्जन सन्धि कहते हैं।

व्यंजन संधि -

व्यंजन संधि को हल् संधि भी कहते हैं । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में प्रकारान्तर से संधियों के अन्तर्गत व्यंजन संधि की गणना भी की गयी है ।[4] प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा में व्यंजन संधि का प्रतिपादन करते हुए लिखा गया है कि यद्यपि कि इस सन्धि में व्यंजन से सम्बन्धत धर्म यदि तकार से बाद में कोई चकार वर्ग आये तो वह तकार भी चवर्ग में परिवर्तित हो जाताहै । तकारादि पन्च वर्ग चकारादि पन्च वर्ग में ही परिवर्तित होते हैं ।[5] यथा

---

1. ऐराव स्वरे । स्व0अ0शि0 ।6
2. औराव स्वरे । स्व0अ0शि0 ।7
3. इकोयणचि सि0कौ0 6·1·77
   एचोऽयवायाव: । सि0कौ0 6·1·78
   आद्गुण: । सि0 कौ0 6·1·87
   वृद्धिरेचि । सि0 कौ0 6·1·88
   एङि पररूपम् 6·1·94
   अक: सवर्णे दीर्घ : 6·1·10
4. स्वरयोर्वा हलोर्वाऽपि स्वरव्यन्जनयोस्त ।व0र0प्र0शि0 ।07
5. तत्रव्यन्जनानामिमे धर्मा: सन्ति होतस्मात्कारणाददो व्यन्जनसन्धिरुच्यते।

आदेश यथा संख्य समान होता है । यथा- यच्चाहम् । आच्छच्छन्द: अनुञ्जेषम् । शत्रुञ्जयतु । शकार परे होने पर भी तवर्ग चवर्ग को प्राप्त हो जाता है । [1] यथा अदित्याञ्श्मश्रुभि: । तवर्ग से परवर्ती शकार का छकार हो जाता है यदि स्पर्श पर में न हो तो तथा उपधा अनुनासिक हो जाता है। [2] यथा यच्छ्वद्रे कुश्माञ्छकपिण्डे: । चकार तथा छकार के परे होने पर नकार शकार हो जाता है । तथा उपधा अनुनासिक हो जाए । [3] यथा- ताँश्चक्रे । तकार तथा थकार के परे होने पर नकार सकार हो जाता है तथा उपधा अनुनासिक हो जाता है । [4] यथा पशूँस्तान् । नन् नकार पकार परे होने पर विसर्जनीय हो जाता है तथा उपधा अनुनासिक हो जाता है । यथा- नृन् पाहि नृ:पाहि ।। [5] इस नियम का अनुवर्तन लौकिक

+• तकारवर्गश्चकार वर्गे चकारवर्गम् । तकारादय: पञ्च चकारादि -पञ्चान्यतमे वर्णे परे चकारादीन्यापद्यन्ते । प्रा०प्र शि०{व्यं०सं०।}

1• शकारे च परे तवर्गश्चवर्गमापद्यते । प्रा०प्र० शि० 3

2• परश्चास्पर्शपरश्छम् । तवर्गात्पर: शकारश्छकारमापद्यते स्पर्शपरो न चेत्। प्रा०प्र०शि० 4

3• चकारे छकारे च परे नकार: शकारमापद्यते उपधा चानुनासिकम् । प्रा०प्र०शि०7

4• तकारे थकारे च परे नकार: सकारमापद्यते । उपधा चानुनासिकम् । प्रा०प्र०शि०-8

5• नृन्पकारे विसर्जनीयम् । नृनित्ययं नकार: पकारे परे विसर्जनीयमापद्यते । अनुनासिका चोपधा । प्रा०प्र०शि० 10,11

व्याकरण में भी किया गया है[1]। प्रत्येक वर्ग का आदि वर्ण धि संज्ञक स्वर के परे होने पर उस वर्ग का तृतीय वर्ण हो जाता है।[2] यथा- ऋधक् इत्था । ऋधगित्था । रेट् असि । रेडसि ।। उग्गधि । अपन्चम "स्पर्श वर्ण, यदि पन्चम स्पर्श वर्ण परे हो तो पन्च स्पर्श वर्ण को प्राप्त हो जाता है।[3] यथा वाक्मात्या । वाङ्मात्या । अपन्चमवर्ण से पर में यदि हकार है तो वह हकार उस उपन्चम वर्ण का चतुर्थ वर्ण हो जाता है।[4] यथा वाग्- हुत: ।वाग्घुत: ।। अवाड् हव्यानि । आवाडढव्यानि । इसी प्रकार अन्य व्यन्जन सन्धि सम्बन्धी नियमों का सविस्तार प्रतिपादन किया गया है । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी व्यन्जन संधि विषयक नियमों का किंचित् प्रतिपादन किया गया है । यदि ऊष्म वर्ण परे है तो मकार का पदान्त में अनुस्वार हो जाता है।[5] यदि पदान्तीय मकार से परे अन्त:स्थ वर्ण हो तो नासिक्य सहित उपधा अन्त:स्थल को प्राप्त हो जाता है ।[6]

1• नून्ये । सि0को0 58•3•10

2• प्रतिवर्गमाद्या: स्वरे धिसन्ज्ञके च परे वर्गतृतीयमापद्यते । प्रा0प्र0शि0।3

3• अपन्चम: स्पर्श: पन्चमे स्पर्शे पदे पन्चममापद्यते । प्रा0प्र0शि0 ।5

4• अपन्चमात्परो हकार: पूर्वस्य चतुर्थमापद्यते । चत्पूर्वस्तृतीयम् । प्रा0प्र0शि0-।

5• अनुस्वारस्वरोष्मसु मकारस्येति च यो विधि: ।
पदयोरन्तरे स: स्यात् पदमध्ये तु मस्य च ।।
व0र0प्र0शि0 ।40

6• पदान्तीयमकारस्य वन्त:स्था परतो यदि ।
नासिक्यमुपधापूर्व सोऽन्त:स्थात्त्वमवाप्नुयातर ।।
व0र0प्र0शि0 ।42

स्वरभक्ति लक्षणशिक्षा में "व्यन्जन" संज्ञा का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु "व्यन्जन" संन्धि सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया गया है।[1] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में उपरोक्त नियमोल्लेख के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी "व्यंजन" सन्धि नियमों का प्रतिपादन किया गया है।[2] माण्डुकी शिक्षा[3] तथा नारदीय शिक्षा[4] में "व्यंजन" संधि विषयक नियमों का उल्लेख किया गया है। इनके मतानुसार यदि य र व तथा ऊष्म वर्ण बाद में हो तो मकार का अनुस्वार होजाता है। नारदीय शिक्षा में अन्य स्थलों पर भी "व्यंजन" सन्धि नियमों का प्रतिपादन किया गया है।[5] याज्ञवल्क्य शिक्षा[6] तथा माध्य० शिक्षा[7] याज्ञवल्क्य शिक्षा के व्यंजन संधि नियमों का विवेचन आगम

---

1. स्व० भ० ल० 13·14,15
2. व०र०प्र०शि० 111, 122, 162
3. अपद्यते मकारो यरवोष्मसु प्रत्ययेऽनुस्वारम् ।
   न भवति लकारे परस्वर्ण स्पर्शेषु चोत्तमापत्ति: ।।
   माण्डु० शि० 98
4. आपद्यते मकारो रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारम् ।
   यवलेषु परसवर्ण स्पर्शेषु चोत्तमापतिम् ।। ना० शि० 2·3·4
5. ना०शि० 2·4·11
6. याज्ञ० शि० 128·– 134 तक
7. माध्यं० शि० 5

सन्धि के अन्तर्गत किया जा चुका है । तथा स्वराष्टक शिक्षा में व्यंजन संधि नियमों का सविस्तार उल्लेख किया गया है । स्वराष्टक शिक्षा के मतानुसार यदि क ट त तथा प वर्ण के वाद असि आये तो कट त तथा य वर्णों का ग ड द तथा व आदेश हो जाता है।[1] यथा- ऊर्क् । असि ।। ऊर्गसि ।। सम्राट् । असि ।। सम्राऽसि ।। यदि क ट त तथा प वर्ण के बाद पन्चम वर्ण आये तो उनका ङ ण न तथा म आदेश हो जाता है ।[2] यथा- वाक् मन । वाङ्मन । वट् महान् । वण्महान् । इसी प्रकार " व्यंजन सन्धि सम्बन्धी नियमों का सविस्तार प्रतिपादन किया गया है ।[3] अन्य शिक्षाग्रन्थों में " व्यंजन" सन्धि का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। प्रातिशाख्यग्रान्थों में यद्यपि कि व्यंजन-संज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया है । परन्तु नियमों का प्रतिपादन अवश्य किया गया है[4] ।

---

1. क ट त पा गडदबा नशि । स्व0अ0शि0 4/1
2. कटतपा ङणनमा पन्चमे । स्व0अ0शि0 4/2
3. स्व0अ0शि0 4/2 - 17 तक
4. ऋ0 प्रा0 4/2, 3,9,15,16,17,18,19,25,48,65
   4/66,67,68,69,70,71,72,74,85-89
   तै0प्रा0 5/32, 33 8/2,3 9/20 13/1,2 15/1
   वा0प्रा0 3/140, 141, 4/1, 15,120,123,
   च0अ0 1/167 2/2, 5,27

लौकिक व्याकरण में भी शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वर्णित "व्यंजन" सन्धि नियमों का अनुवर्तन किया गया है ।[1]

विसर्ग संधि -

संस्कृत वाङ्मय में " विसर्ग" का वर्णान्तर से महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह " विसर्ग" किस वर्ण संयोग में किस अवस्था में प्रयुक्त होता है । इस विसर्ग की क्या- क्या अवस्थाये होती है, ये सभी " विसर्ग" संधि का विषय है । जिसका वृहद् विवेचन शिक्षाग्रन्थों में किया गया है । विसर्ग के आठ विकार होते हैं ।• ओ भाव , 2• विवृति 3• शकार 4• षकार 5• सकार , 6• रेफ 7• जिह्वामूलीय 8• उपध्मानीय ।[2] स्वराष्टक शिक्षानुसार यदि अकारक विसर्ग के बाद अकार तथा हकार होता है तो विसर्ग का ओंकार आदेश हो जाता है ।[3] यथा- शिव: असि । शिवोऽसि । देवेभ्य: हवि ।

1• स्तो: श्चुना श्चु: । सि0को0 8•4•40

झलां जशोऽन्ते । सि0को0 8•2•39

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा । सि0को0 8•4•45

शश्छोऽटि सि0को0 8•4•63 मोऽनुस्वार: । सि0को0 8•3•23

अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण: 8•4•58

विसर्जनीयस्य स: सि0 को0 8•3•38 नृन्पे । सि0को0 8•3•10

2• ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण: ।। याज्ञ0 शि0 143, ना0शि0 2•4•5, माण्डू. शि0 107 शै0शि0,पा0शि0 14

3• अपर विसर्गोऽउऽओ: । स्वर0 अ0 शि0 5/1

देवेभ्यो हवि ।। प्रतिशाख्यप्रदीपशिक्षानुसार ह्रस्व अकार पूर्वक अरिफित विसर्ग उपधासहित ओंकार हो जाता है यदि घो परे हो तो[1]। यथा- देवो देवै: देवो व: सविता। ह्रस्व अकार पूर्वक अरिफित विसर्ग ओकार हो जाता है अकार पर में होने पर।[2] यथा स्तुभोऽसि। कृष्णोऽसि ।। यदि स्व:केबाद रूह आता है तो विसर्ग का ओकारआदेश हो जाता है - तथा यदि अह: शब्द के बाद रात्रि शब्द आये तो भी विसर्ग का ओंकार हो जाता है[3]। यथा स्वोरुहाणा: अहोरात्रयो:। माण्डूकी-तथ

याज्ञवल्क्य माण्डूकी तथा स्वरभक्ति लक्षण परिशिष्ट शिक्षानुसार यदि दो स्वरों के मध्य में विसर्ग आता है और यदि वहाँ सन्धि नहीं होती है तो वहाँ पर विवृत्ति समझनी चाहिए।[4] यथा- यऽईशिति। यह विवृति चार

1• ह्रस्वाकारपूर्वो अरिफितो विसर्ग: सोपधओकारमापद्यते घो परे। प्रा० प्र० शि० 18

2• अरिफितो ह्रस्वकण्ठयपूर्वो विसर्ग: सपूर्व ओकारमापद्यते अकारे परे। प्रा० प्र० शि० 19

3• स्वरित्ययं रूहे अहरित्ययं रात्रिशब्दे परे सपूर्ण ओकारमापद्यते। प्रा० प्र० शि० 20

4• द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ईशिति निदर्शनम्। याज्ञ० शि० 94
उभौ स्वरौ तयोरन्त: सन्धिर्यत्र न दृश्यते।
सा विवृत्तिर्बुधैर्ज्ञेया स एवेति च पश्यति ।। स्व०भ०ल०शि० 30•31

प्रकार की होती है- ।[1] पिपीलिका

2. पाकवती 3. वत्सानुसारिणी

4. वत्सानुसृजिता । पिपीलिका आद्यन्तदीर्घ होती है यथा- नावभ्याऽ-आसीत्[2] । पाकवती के दोनों ह्रस्व होते हैं यथा- विनऽइन्द्र ।[3] वत्सानुसृजिता का अन्त ह्रस्व होता है यथा- तानऽआवोढमश्विनो[4] परन्तु स्वभक्ति-लक्षण शिक्षानुसार अन्तादि दीर्घ होता है[5] तथा वत्सानुसारिणी उदिता दीर्घा-होती है यथा - ताऽअस्येति ।[6] प्रातिशाख्यप्रदीप तथा वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा-नुसार यदि शकार षकार तथा सकार पर में हो तो विसर्ग प्रकृत्या§ यथावत रहता

---

1. पिपीलिका पाकवती यथा वत्सानुसारिणी ।

 वत्सानुसृजिता चैव चतस्रस्ता विवृत्तयः ।। याज्ञ0शि0 96
 अपि च द्र-माण्ड शि0 93

 एषा चतुर्दा विवृत्तिया प्रथमा तु पिपीलिका ।

 परा पाकवती चैव तथा वत्सानुसारिणी ।।

 वत्सानुत्सृजिता चैव चतस्रस्ता विवृत्तयः ।।

 स्व0 भ0ल0शि0 32. 33

2. पिपीलिकाद्यन्तदीर्घा । याज्ञ0शि0 96/8

 अपि च द्र0 माण्डू0 शि0- 44 स्व0भ0ल0शि0 34

3. पाकवत्युभयोर्ह्रस्वा। याज्ञ0शि0 96/1
 द्वितीयातूभया ह्रस्वा । स्व0भ0ल0शि034, माण्डू0शि0 44
4. वत्सानुसृजिता चान्ते । याज्ञ0शि0 96/10 माण्डू0 शि0 94
5. चतुर्थी दीर्घास्यात् । स्व0भ0ल0शि0 35 माण्डू0 शि0 94
6. तृतीया चोदिता दीर्घा स्व0भ0ल0शि0 35 माण्डू0 शि0 94

है । यथा- वायव्या: श्वेता: । अग्नीषोमयो: पृष्ठी वानस्पत्य: । यदि क ख तथा प फ पद में हो तो भी विसर्ग प्रकृत्या रहता है ।[2] यथा शिभार: कृण्वन्ति । तत: खनेम । वसो: पवित्रम् य: फलिनो[3] ।

प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षानुसार यदि चकार तथा छकार पर मे हो तो विसर्ग शकार को प्राप्त हो जाता है ।[3] यथा - इन्द्रश्च । प्रजापतिश्छन्द: यदि तकार और थकार पर में हो तो विसर्ग सकार में परिवर्तित हो जाता है।[4] यथा- कस्त्वा । नमस्ते । वर्णरत्नप्रदीपशिक्षा तथा प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा के मतानुसार भी कण्ठ्योपधा को सकार तथा षकार आदेश होता है यदि अघोष तथा घोष वर्ण बाद में होतो ।[5] यथा इडस्पदे । इडायास्पदम् । ज्योतिष्कृत् । वसतिष्कृता । वरिवस्कृणोतु । परन्तु "कृषीस्कृधिम्" इसको छोडकर ही उपधा का षकार होता है । तथा प्रत्यय का सवर्ण होता है शाकटायन मे मत से ।[6]

---

1. अविकार शाकल्य: शषसेषु । एषु विसर्गो विकारन्नापद्यते शाकल्यमतेन । प्रा0प्र0शि0 22,23

2. अविकारं च शाकल्यो मन्यते शषसेषु च । व0र0प्र0शि0।20

2. प्रकृत्या करवयो: पफयोश्च । करवयो: पफयोश्च परयो विसर्ग: प्रकृत्या भवति । प्रा0प्र0शि0 24
कखयो: परयोर्नित्यं पफयो: परयोरपि ।
विसर्गस्य यदुक्तं लक्षणान्नात्र सिद्धमति । व0र0प्र0शि0 ।।3

3. चछयो: शम् । विसर्गश्चछयो: शमापद्यते । प्रा0प्र0शि0 20,21

4. तथयो: सम् । विसर्गस्तथयो: समापद्यते । प्रा0प्र0शि0 22

5. कण्ठ्योपध:सकार:स्यात् भाष्यूपध: ष एव च ।
अघोषे घोषवति तु लोपो रेफो यथाक्रममनु. व0र0प्र0शि0 ।।7

क्रमश: ---

प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षानुसार अरिफित विसर्ग का रेफ आदेश होता है विसंभक स्वर पर में होने पर ।[1] यथा पृश्निरक्रमीत् । वायुरनिलम् । अग्निर्मूर्धा । त्वष्टुर्जामात: । अहर्जिन्व । अह: शब्द के विसर्ग हो जाता है यदि पति शब्द पर में हो तो ।[2] यथा- अहर्पतये । स्व: तथा धु: का विसर्ग रेफ हो जाता है यदि मूर्धन्य पर में हो तो । स्व: का विसर्ग रेफ हो जाता है यदि पर में साम संहिता मूर्धन्य हो तो धु: का विसर्ग रेफ हो जाता है यदि सहसहित मूर्धन्य पर में आवे तो ।[3] यथा स्वर्षामसाम् धूर्षा हो ।

भाव्युपधो विसर्ग: षकारमापद्यते ।

पदिशेषात् कण्ठ्यपूव: स्कार: ककारे च परे ।।

प्रा0प्र0शि0 35

6• भाव्युपध: षत्वमेति वर्जयित्वा कृषी स्कृधिम् ।

प्रत्ययस्य सवर्णत्वं यातीति शाकटायन: ।। व0र0प्र0शि0 ।19

1• भाव्युपधो रिफितश्च विसर्ग: स्वरे परे धिसन्धके च परे रेफमापद्यते ।
प्रा0प्र0शि0 ।4

2• अह: पतौ रेफम् अहरित्ययं विसर्ग: पतिशब्दे पदे रेफमापद्यते ।

प्रा0प्र0शि0 50,51

3• स्वर्धू: सा सहयो: । स्व: धु: इमौ यथा संख्यं साम् सह इत्येतयो: रेफमापद्यते परश्चमूर्धन्यम् प्रा0 प्र0 शि0 53

वस्तुत विसर्गसन्धि विषयक रेफ की दो अवस्थाये होती है-

1• अनन्यप्रकृति तथा

2• अन्यप्रकृति । जहाँ मूलत: रेफान्त पद होता है वहाँ अनन्यप्रकृति होती है । जहाँ सकार के स्थान पर रेफ आया होता है वहाँ अन्यप्रकृति रेफ होता है । इस प्रकार ओभाव तथा विवृत्यादि के स्थलपरिहार मे घोष व्यन्जन अथवा स्वर पर में होने पर विसर्ग का रेफ होता है । यथा- गर्भे न नो जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा[1] । चतुरध्यायिका में उन स्थलों की गणना की गयी है, जहाँ पर विसर्ग रेफ होता है इसमें रेफ बोधक नियमों का प्रतिपादन किया गया है।[2] परन्तु घोष वर्णबाद में होने पर रेफ का विसर्ग होता है।[3] यथा धेनवः स्यान्दमाना । अघोष वर्ण पर में होने पर भी रेफ का विसर्ग होता है अथवा जहाँ सर्वथा वर्णाभाव होता है वहाँ भी विसर्ग ही होता है।[4] यथा - जग्मुराव: ।

अघोष में भी जब विसर्ग के पश्चात अघोष कवर्ग अर्थात् ककार खकार हो तो विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय , तथा जब अघोष पवर्ग अर्थात् पकार फकार हो तो उपध्मानीय होता है । यथा- रथकारा: कर्मारा ।[5] शिक्षाग्रन्थों में विसर्ग

1• अ0सं0 18/1/5

2• च0अ0 2/42-49

3• अ0सं0 2•5•6

4• अ0सं0 2•5•6

5• अ0सं0 3•5•6

का जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय होने के सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं मिलता है ।

कहीं - कहीं पर विसर्ग का लोप भी हो जाता है । आवश्यक विसर्ग का लोप हो जाता है । आकार पर में होने पर भी- [1] यथा- देवा: अत्र देवाऽअत्र ।। देवा: आशा: । देवाऽआशा: ।। आपरक विसर्ग का लोप हो जाता है हश् पर में होने पर । [2] यथा- देवा: हसन्ति देवा हसन्ति । अ तथा आपरक विसर्ग का लोप हो जाता है यदि इकार परे हो तो [3] । यथा- देवा: इह । देवाऽइह ।। अघ्न्या: इन्द्राय । अघ्न्याऽइन्द्राय ।। रेफ पर में होने पर विसर्ग का लोप हो जाता है तथा विसर्ग पूर्व उपधा का दीर्घ हो जाता है । [4] यथा- प्रात: रात्रि । प्राता रात्रि: । रूरू: रौद्र: । रूरूरौद्र: अन्त: रूक्का: । अन्तारूक्का: । इम तथा ओषधी शब्द पर में होने पर विसर्ग का लोप हो जाता है । [5] यथा स: ओषधीसु सोषधीरनु । स: इमान्न: । सोमान्न: व्यञ्जन पर में होने पर विसर्ग का लोप हो जाता है। [6] यथा स: बोधिस बोधि । स ते लोक: । स पर्य्यगात् ।। अन्य शिक्षा ग्रन्थों में विसर्ग सन्धि से सम्बन्धित कोई नियमोल्लेख नहीं मिलता है ।

---

1. आपरो लोमपऽआपरत्वे । स्व0 अ0 शि0 5/2
2. आपरो लोपं हशि स्व0अ0शि0 5/4
3. अआपरो लोपमिचि । स्व0अ0शि0 5/5
4. भाविसन्धोपधो रिफितश्च विसर्गो रेफे परे लुप्यते उपधा च दीर्घ मापद्यते । प्रा0 प्र0 शि0 13
   रेफजेच्यरौ लोपं रेफे पूर्वश्च दीर्घम् ।। स्व0अ0शि0 5/7
5. स इति विसर्गो लुप्यते ओषधी शब्दे इमशब्दे च परे ।

द्वित्वविचार

संस्कृत वाङ्मय में जब कभी किसी विशेष परिस्थिति में किसी व्यन्जन का द्विधा उच्चारण हो जाता है तो उसे द्वित्व या क्रम कहते हैं। शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में द्वित्व के लिए द्विरुक्ति तथा द्विर्भाव आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। शिक्षाग्रन्थों में द्वित्व विषयक वृहद् विवेचन किया गया है। माण्डूकी शिक्षा में कहा गया है कि 21 वर्णों का द्वित्व होता है। ये वर्ण है- प्रथम क च ट त प , मध्यम ग ज ड द ब, अन्तिम ङ ञ ण न म तथा य व ल, श ष स।[1] लोमशी शिक्षा के मतानुसार भी उपरोक्त 21 वर्णों का द्वित्व होता है।[2] परन्तु कुछ ऐसे वर्ण भी है जिनका द्वित्व नहीं होता है वे वर्ण है - ख, छ ठ थ फ, घ झ ढ ध भ, र तथा ह। इस मत का समर्थन गौतमीतथा माण्डूकी शिक्षा करती है।[3] सकार के द्वित्व होने के सम्बंध में वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा का मत है कि सकार का द्वित्व मात्र दो स्थलों पर होता है। यथा - शास्त्र तथा रास्त्र में इसके अतिरिक्त कहीं भी द्वित्व नहीं होताहै।[4] हकार के द्वित्वीकरण के संबंध में शिक्षाकार तथा प्रातिशाख्यकार एकमत नहीं है। कतिपय वैयाकरणों का मत है कि हकार द्वित्व नहीं होता है।

---

1. वर्णाः विंशतिरेकश्च येषां द्विर्भाव इष्यते।
   प्रथमाः मध्यमा चान्त्याः यवलाः शषसास्तथा। मा० शि० 22
2. वर्णा विंशतिरेकश्च येषां द्विर्भाव इष्यते।
   प्रथमान्त्यास्तृतीयाश्च यलवाः शषसैः सह।। लो० शि० 2/6
3. अथ सर्वेषां व्यंजनानां द्विर्भावो भवति।
   द्वादशाक्षरवर्जं ते शछठथफा घ झ ढ ध भा रहयोश्चेति।।
   गौ० शि० 3

तथा कतिपय वैयाकरणों के अनुसार हकार का द्वित्व होता है।

द्वित्व के नियम -

स्वरोपहित संयोगादिस्थ वर्ण का[2] विसर्गोपहित संयोगादिस्थ व्यंजन का[3] पदान्त व्यंजन का[4] तथा स्वरान्तर्वर्ती व्यंजनो[5] का "द्वित्व" होता है। जिसका सविस्तार विवेचन दशम अध्याय में किया जायेगा।

न रेफे वा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित्।
4. न च वर्गद्वितीयेषु न चतुर्थे कदाचन। माण्डू० शि।23

4. सकारस्य द्विरुक्ति या सा द्वयोरेव नान्यत:।
आ च शास्त्वा च शस्त्वे मत सकारोऽत्रद्विरुक्ति:।
व०र०प्र०शि० ।6।

5. अथसर्वेषां व्यंजनानां द्विर्भावो भवति।
द्वादशाक्षरवर्जं ते ख छ ठ थ फा घझढध भा रहयोश्चेति। गौ०शि० 3
न रेफेवा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित्। माण्डू० शि० ।23,
अथर्व० प्रा० 3/3। रेफपरश्च हकार:। तै०ति० प्रा० ।6/+9

---

1. हरो यत्रनियुज्येते हकार: क्रमते तदा।
अहहृतं हह्रियते हह्रादिनी हहदं त्वनिदर्शनम्। चा०शि०
रेफ पूर्वो हकारस्तुरेफात् परमथापिवा।
अनुस्वारात् परो यत्र हकार: क्रमति त्रिषु। लो०शि० 7/5

2. संयोगादिस्वरादद्वित्वं प्राप्नोतीति विदुर्बुधा:। व० र० प्र०शि०।47,
स्वरपूर्वमियउद् द्वित्वं व्यंजनं व्यंजने परे। व्यास शिक्षा,
स्वरात् संयोगादि: द्विरुच्यते सर्वत्र। प्रा० प्र० शि० ।3।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि "सन्धि" वर्णान्तर सान्निध्य जनित वर्ण-परिवर्तन मात्र है। जो कहीं पर वर्णान्तरसम्बन्ध के प्रभाव से सूर्य तेज से अभिभूत तारागण की भाँति वर्ण के पूर्णतया तिरोहित हो जाने पर "लोप" कहा

स्वरादिद्वित्वमाप्नोति व्यंजनं व्यंजने परे। मा०य०शि० 2

स्वरपरसंयोगादिद्वि:। स्व०अ०शि० 4/15

सर्वत्र स्वरात्संयोगादि: क्रामति रेफहकारवर्जम्। गौ०शि० 3,

स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्येत। संयोगादि:स्क्रम अविक्रमे सन्। ऋ०प्रा० 6/1

स्वरपूर्व व्यन्जनं द्विवर्णव्यंजनपरम्। तै०त्ति०प्रा० 14/1

स्वरात् संयोगादि: द्विरुच्यते सर्वत्र। वा० प्रा० 4/101

संयोगादि: स्वरात्। च०अ० 3/18 ऋ० त० 5/269

3• विसर्जनीयाच्च परो य: स्पर्शो व्यंजनोदय:।

सोऽपि द्वित्वमाप्नोति युजान: प्रथम-यथा। व०र०प्र०शि० 160

विसर्गाच्च पर: कादिर्व्य नाक्तिल पूर्वग:। मा०य० शि० 5

विसर्जनीयात्पर: स्पर्शो द्विरुच्यते व्यंजनपरश्चेत्। प्रा०प्र०शि० 34

कादिप चवर्गाणां द्वित्वं विसर्गात्। के० शि० 6

विसर्जनीयादय: जनपर:। वा० प्रा० 4/107

4• ह्रस्वपूर्वौ ङनौ पदान्तौ द्वि: स्वरोदयौ। व०र०प्र०शि० 162

ह्रस्वपूर्वौ नद्गौ द्वित्वमापद्येते पदान्तगौ।

अपि स्वरतरावेव श्लिष्टौ भवति। नान्यथा। मा०यं० शि० 5

पदान्तस्थौङकारनकारौ स्वरे परे ह्रस्वपूर्वौ द्विरुच्यते। प्रा० प्र० शि०

135

गया है । जब कहीं पर शब्द अधिक अपूर्व ध्वनि से युक्त होता है तो उसे "आगम " सन्धि कहा जाता है । जब कहीं पर वर्णों का रूपान्तर प्राप्त हो जाता है तो उसे "विकार " सन्धि कहते हैं । जब कहीं पर वर्णान्तरसम्बन्ध होने

पदान्तीयो ह्रस्वपूर्वोङकारो नकारश्च प्रक्रामत उत्तरे स्वरे ।

ऋ0 प्रा0 6/15

ह्रस्वपूर्वो ङ,कारो द्विवर्णम् ।नकारश्च । तै0 प्रा0 9/18·19

ङ·नौ चेदह्रस्वपूर्वौ स्वरे पदान्तौ । वा0 प्रा0 4/108

रेङन्त्यो प्रतिषेधे । ऋ0 तं0

ङ·णानाह्रस्वोपधा: स्वरे । च0अ0 3/27

5· यत् क्वचित् स्वरयोर्मध्ये द्वित्वं पूर्वांगमोऽपि

वा उच्चारणादिना स्पष्टं तदत्र न विधीयते । व्या0शि0 पृ0 18

द्विवर्णमिक वर्णपद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे । वा0 प्रा0 4/144

सो ऽस्मात्पूर्व्योपसह्रोच्यते सकृत्स्वेन । ऋ0 प्रा0 6/2

प्रथमैश्च स्ववर्गीय द्वितीया द्विर्भवन्ति हि ।

तृतीयैस्तु चतुर्थाश्च व्विवक्ष्याया निग्रंथकंटयथा ।

व0र0प्र0शि0 163, 164

द्वितीया: प्रथमैश्च चतुर्थास्तृतीयै: सह द्विरुच्यते । प्रा0प्र0शि0 138

द्वितीयस्य प्रथमस्तुरीयस्य तृतीयक: । माध्य0 शि0 4,

प्रथमै द्वितीयास्तृतीयैश्चतुर्था: । वाज0 प्रा0 4/110

स्वरपूर्वयोर्व्यजनोत्तरयो द्वितीयचतुर्थयोस्तुपूर्व आगमो भवति व यथा क्रमेण

द्वितीयस्य प्रथम: चतुर्थस्य तृतीय: । तै0 प्रा0 14/15 पर त्रि0 भा0 ।

पर भी अर्थ पूर्ववत् स्थिति में रहता है तो उसे प्रकृतिभाव सन्धि कहते हैं । इन्हीं सन्धियों को प्रकारान्तर से स्वर, व्यंजन तथा विसर्ग संधि कहा जाता है । " द्वित्व " को आगम संधि के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

सन्धि का विधान सभी शिक्षाग्रन्थों में नहीं किया गया है उपरोक्त सन्धि विवेचन के उपरान्त यही ज्ञात होता है कि कतिपय शिक्षाग्रन्थों में ही "सन्धि का विधान किया गया है । याज्ञवल्क्य, वर्णरत्नप्रदीपिका, स्वभक्ति लक्षण, माध्यदिन स्वराष्टक, नारदीय, गौतम, पाणिनीय, माण्डूकी, कात्यायनी प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा, व्यास, चारायणीय, वशिष्ठ, पारिशिक्षा, लोमश तथा केशवी शिक्षा में ही सन्धि सम्बन्धी नियम मिलते हैं । अन्य शिक्षाओं में सन्धि के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है ।

-----::00::-----

अष्टम- अध्याय

अङ्गाङ्गिभाव या अक्षर विभाजन -

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने अङ्गाङ्गिभाव के लिए "अक्षर-विभाजन" नाम दिया है। पद या वाक्य में अक्षरों का विभाजन ही अक्षर विभाजन के नाम से जाना जाता है। स्वर को अङ्गी तथा व्यंजन को अङ्ग कहा गया है। स्वर अपने अङ्गभूत व्यंजन के साथ अक्षर कहलाता है। अस्तु इस अध्याय में यही विचार किया जायेगा कि किसी पद या वाक्य में अक्षरों का विभाजन किस आधार पर किया जाता है।

वैदिक वाङ्मय में "अक्षर" शब्द अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। श्वेताश्वेतरोपनिषद्[1] में "अक्षर" शब्द अविनाशी ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छान्दग्योपनिषद्[2] में इसका प्रयोग "- ओऽम् -- के रूप में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण[3] में भी "अक्षर" शब्द का प्रयोग मिलता है। ऋ0 प्रा0[4] तथा वा0प्रा0[5] के मतानुसार स्वर वर्ण अपने अंगभूत व्यंजन के सहित "अक्षर" कहलाता है।

---

1. उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म । श्वे0 उप 1/7
2. ओऽमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत् । छा0 उप0
3. चतुराक्षराणि ह वा ओ छान्दास्यासु । शत0 ब्रा0 4·3·2·7
4. सव्यंजनः सानुस्वारः शुद्धोवापि स्वरोऽक्षरम् । ऋ0 प्रा0 18/32

स्वरोक्षरम् सहाद्यैर्व्यंजनैः उत्तरैश्चावसितैः । वा0 प्रा0 1/99-101

प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने अक्षर शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है । इसलिए इसका निर्वचन भी अनेक प्रकार से किया गया है । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के भाष्यकार के मतानुसार " जो क्षरित न हो वह अक्षर । " क्षरण का अर्थ है दूसरे का अङ्गअर्थात् अधीन हो चलना।[1] अत: अक्षर वह जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो, जो निरपेक्ष होते हैं । वस्तुत: अक्षर वही होते हैं जिनके उच्चारण किसी अन्य वर्ण की अपेक्षा नहीं होती । इसी प्रकार निरूक्तकार[2] तथा महाभाष्यकार[3] के मतानुसार भी जो नष्ट न हो, क्षीण न हो, जिसका कभी विनाश न हो वह अक्षर है । वाजसनेयि आदि न्य प्रातिशाख्यों[4] में ऐसा ही उल्लेख मिलता है । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि स्वर- अ आ इ ई उ ऊ आदि वर्ण ही अक्षर है क्यों कि स्वर वर्ण किसी के सहायता के विना उच्चारित होता है, व्यंजन वर्ण अक्षर नहीं है क्यों कि वह किसी की सहायता के विना उच्चारित नहीं हो सकता है। परन्तु ऋ0 प्रा0 कार[5] का कहना है ।

---

1. न क्षरन्तीत्यक्षरापि, क्षरणमन्याङ्गतया चलनम् । तै0 प्रा0 1/2 पर वै0 आ0
2. अक्षरं नक्षति न क्षीयते वाक्षयो भवति । वाचोऽक्ष इति वा । निरूक्त
3. अक्षरं नक्षरं विद्यात्, न क्षीयते क्षरतीति वाक्षरम् । महाभाष्य
4. स्वरोऽक्षरम् । वा0 प्रा0 1/99

   स्वरोऽक्षरम् । च0अ0 1/93

   अक्षरम् । ऋ0त0 46
5. सव्यंजन: सानुस्वार: शुद्धोवापि स्वरोऽक्षरम् । ऋ प्रा0 18/32

कि व्यंजन सहित अनुस्वार सहित तथाशुद्ध स्वर को भी अक्षर कहा जाता है ।
इसी को वा० प्रा० कार दूसरे शब्दों में कहते है कि " आदि व्यंजन सहित
बाद वाले तथा अवसान में स्थित व्यंजन सहित स्वर, अक्षर कहलाता है ।
व्यंजन संयुक्त तथा अनुस्वार से युक्त स्वर को अक्षर मानने का वा० प्रा० कार
का विचार उचित ही है क्यों कि व्यंजन की भी अपनी नियत सत्ता है ।
स्वर के पूर्ववत् रहने पर भी व्यंजन के बदल जाने से शब्द का अर्थ भी बदल जाता
है । यथा--" यूप", "कूप- में द्रष्टव्य है । इस प्रकार अकेला व्यंजन भी एक
स्वतन्त्र अक्षर हो सकता है । इसके पक्ष में निम्नलिखित तथ्य अवधारणीय हो
सकते हैं--

1• स्वराघात में व्यंजन का भी भाग होता है । क्यों कि यद्यपि
की स्वराघात व्यंजन का गुण नहीं है अपितु स्वर का गुण है । फिर भी
स्वर सान्निध्य के कारण व्यंजन में भी स्वर का गुण उसी प्रकार आ जाता है
जिसप्रकार एक पात्र दीपक के प्रकाश से स्वयं भी चमकने की शक्ति प्राप्त कर
लेता है ।

2• अक्षर के पर्याप्त प्रतीति भी होता है। यदि पर्याप्त प्रतीति के साथ
व्यंजन का उच्चारण किया जाय तो व्यंजन भी एक स्वतन्त्र अक्षर हो सकता है ।
प्रतीति के लिए मुख्यत: तीन बातें अवश्यक होती है श्रव्यता दीर्घता तथा श्वास
शक्ति वस्तुत: व्यंजन में स्वर की अपेक्षा कम श्रव्यता होती है । परन्तु यदि

1• सहाद्यैर्व्यन्जनै: उत्तरैश्चावसितै: । वा० प्र० 1/100, 101

शेष दो दीर्घता और श्वास शक्ति व्यंजन के उच्चारण में प्रबल हो तो यह व्यंजन भी स्वतन्त्र, अक्षर हो सकता है। यथा अंग्रेजी में FUNNEL में 'L' एक स्वतन्त्र अक्षर है। इस प्रकार एक व्यंजन भी कभी स्वतन्त्र अक्षर हो सकता है। इसी प्रकार भारतीय ध्वनि वैज्ञानिकों का ध्यान भी रेफ तथा लकार के आक्षरिक रूप की ओर पहुँच चुका था। भारद्वाज शिक्षा[1] में कहा गया है कि लकार कभी भी पदान्ते तथा पदादि में आने पर स्वर नहीं कहलाता। अतएव र तथा ल् भी एक स्वतन्त्र अक्षर है। जैसा कि कतिपय शिक्षाओं में उल्लेख मिलता है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अकेला व्यंजन भी एक स्वतन्त्र अक्षर सकता है।

अक्षर विभाजन तथा उसका आधार

कौन सा व्यंजन किस स्वर का अंग बनकर उसके साथ अक्षर का निर्माण करता है। सामान्यतः स्वर वर्ण अङ्गी होता है। तथा व्यंजन उसका अङ्ग है। अतः किसी भी वाक्य या स्वर तथा व्यंजन के सम्बन्ध के विषय में विचार

+. डा० सिद्धेश्वर वर्मा कृत प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन- पृ० 68

1. उदाहृत: क्लृप्तशब्द न पदाद्यन्तयो: स्वर:। भा०शि० 34

2. अपि च द्रष्टव्य- स्वर० व्यंजन शिक्षा तथा सर्वसम्मत शि०

करने को भाषाविदों ने "अक्षर-विभाजन" की संज्ञा दी है। यद्यपि कि "यंजन" स्वर परपूर्णतया आश्रित नहीं है फिर भी स्वर के विना वह उच्चरित नहीं हो सकता। जैसा कि नारदीय शिक्षा[1] तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा[2] में कहा गया है कि व्यंजन एक कण्ठहार में पिरोये हुए मणियों के समान है तथा स्वर उनका आधारभूत सूत्र है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार मणियाँ सूत्र के आश्रित रहती है, उसी प्रकार व्यंजन भी स्वर के आश्रित रहते हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] तथा नारदी शिक्षा[4] में एक उल्लेख मिलता है। जिसके अनुसार स्वर एक बलवान राजा के समान है तथा व्यंजन एक दुर्बल राजा के समान है। जिस प्रकार एक बलवान् राजा दुर्बल राजा के राज्य का अपहरण कर लेता है ठीक उसी प्रकार बलवान् स्वर दुर्बल व्यंजन को हर लेता है। अर्थात् व्यंजन की मात्रा को स्वर अपनी मात्रा में मिला लेता है। वस्तुत: स्वरों की समिपता से व्यंजन भी उनके गुणों को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार दो लाल रंग के वस्त्रों के बीच रखा हुआ सफेद वस्त्र भी लाल रंग के गुणों को धारण कर लेता है।[5]

---

1. स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यमाचार्या: प्रतिजानते।
   मणिवद् व्यंजन विद्यात्सूत्रवच्चस्वरं विदु:।। ना0शि0 2.4.3
2. मणिवद् व्यंजनान्याहु: सूत्रवत्स्वर इष्यते।
   व्यंजनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति सस्वर:।। याज्ञ0 शि0 ।।9
3. दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृप:।
   एवं व्यंजनमासाद्य अकारो हरते स्वरम्। याज्ञ0 शि0 ।।1,
4. दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृप:।
   दुर्बलं व्यंजनं तद्वद्धरते बलवान्स्वर:। ना0 शि0 2.4.4
5. नैते व्यंजनस्य गुणा: अच: एते गुणा: तत्सामीप्यात् व्यंजनमपि-

उसी प्रकार व्यंजन भी स्वर वर्णों को स्वराघात को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार व्यंजनों की भी अपने स्वतन्त्र मात्रा होती है। जिस प्रकार दुर्बल राजा के राज्य का अपहरण करके बलवान् राजा उसके राज्य को अपने में मिला लेता है, परन्तु मूलत: दुर्बल राजा के राज्य की सत्ता भी अपने स्थान पर बनी रहती है। उसी प्रकार व्यंजन की मात्रा को स्वर की मात्रा में समाहित हो जाने पर भी व्यंजन की मात्रा अपने स्थान पर बनी रहती है। फिर भी स्वराश्रित होने से जिस समय " स्वर वर्ण " का उच्चारण होता है उसी समय उसके साथ उसके अंगभूत व्यंजन का भी उच्चारण होता है। इस प्रक्रिया में व्यंजनों का विधिवत् उच्चारण तभी किया जा सकता है जब कि अक्षर-विभाजन का विधिवत् ज्ञान हो।

पुनश्च शौनक: शिक्षा[1] से एक उद्धरण प्राप्त होता है जिसके अनुसार पूर्वाचार्यों ने स्वर संज्ञा द्वारा अकारादि वर्णों का अंगी होना इंगित किया है, कारण कि स्वर वर्ण स्वत: निरपेक्ष होकर उच्चारित होते हैं। तथा व्यंजन संज्ञा द्वारा अकारादि वर्णों का अंगत्व सूचित किया है क्यों कि व्यंजन स्वराश्रित होकर उच्चरित होता है। व्यंजन स्वयं सस्वर नहीं होता है बल्कि वह जिस

मद्गुणमुपलभ्यते तद् यथा द्वयोर्रक्तयोर्मध्ये शुक्लं वस्त्रं तद्गुणमुपलभ्येत।
सि0कौ0 1·2·29 पर महाभाष्य।

1· पूर्वाचार्यैः स्वरसंज्ञया अकारादीनामंगत्वं सूचितम्।
स्वतो राजन्ते वर्णास्ते स्वरा: ----- व्यंजसंज्ञया।
ककारादीनामंगत्वं सूचितं स्वतोऽव्यक्तत्वात्।
स्वरैर्यानि व्यंज्यते स्फुटी क्रियते तानि व्यंजनानि,

स्वर वर्ण का अंग होता है उसके ही समान "स्वर "वाला होता है । इस सन्दर्भ में पातंजलि[1] ने एक बडा ही रोचक दृष्टान्त दिया है । जिसके अनुसार रंग-मंच पर गयी हुई नटी से यदि यह पूछा जाय कि तुम किसकी हो तुम किसकी हो, तो वह नटी यही कहेगी कि मैं तुम्हारी हूं, मैं तुम्हारी हूं । उसी प्रकार प्रत्येक व्यंजनों का स्वरों के प्रति अंगत्व होना स्वत: सिद्ध है । इस प्रकार व्यंजन का ह्रस्वीकरण एवं दीर्घीकरण का का मुख्य आधार स्वर पर ही निर्भर है। अतएव व्यंजनो के सम्यक् उच्चारण हेतु उसके अंगत्व§ अक्षर-विभाजन का ज्ञान अति आवश्यक है ।

अक्षर-विभाजन के नियम

शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में अक्षर-विभाजन के नियम के संबंध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है । जिनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों का क्रमश: विचार किया जा रहा है ।

व्यंजन+ स्वर का आक्षरिक विभाजन

पदादि व्यंजनों का आक्षरिक विभाजन- प्रातिशाख्यों में पदादि व्यंजनों के आक्षरिक विभाजन के नियम के विषय में पर्याप्त विचार किया गया है ।

---

1. तद्यथा नटानां स्त्रियो रंग गता यो य: पृच्छति कस्य यूयं, कस्य यूयम् इति तं तं तवेत्याहु:, एवं व्यंजनान्यपि यस्य यस्याच: कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते । सि0कौ0 6·1·2 पर महाभाष्य

ऋ0 प्रा0 में उल्लेख प्राप्त होता है जिसके अनुसार पदादि व्यंजन यदि संयुक्त नहीं है, तो परवर्ती स्वर वर्ण का अंग होता है।[1] इसी प्रकार अन्य प्राति-शाख्यों में भी विधान किया गया है[2]। यथा-"यजमान" में पदादि में स्थित "य" परवर्ती "अ" का अंग है। इस प्रकार से "यजमान" आक्षरिकविभाजन य + जमान होगा। इस सन्दर्भ में शिक्षाग्रन्थों से कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

2• पदान्त व्यंजन का आक्षरिक विभाजन ऋ0 प्रा0 के मतानुसार पदान्त व्यंजन पूर्वस्वर का अंग होता है,[3] यथा "त्रिष्टुप्" में पदान्त व्यंजन "प्" पूर्वस्वर "उ" का अंग है। इसीप्रकार का विधान अन्य प्रातिशाख्यों में भी प्राप्त होता है।[4] लोमशी शिक्षा में भी ऐसा ही विधान मिलता है।[5]

1• व्यंजनान्युत्तरस्यैव स्वरस्य। ऋ0 प्रा0 18/33

2• तत्परस्वरम्। तै0 प्रा0 21/2

सहाद्यैर्व्यंजनैः। वा0 प्रा0 1/100

परस्यस्वरस्य व्यंजनानि। च0अ0 1/55

3• व्यंजनान्युत्तरस्यैव स्वरस्यान्त्यं तु पूर्वभाक्। ऋ0 प्रा0 18/21,

4• उत्तरैश्चावसिते। वा0 प्रा0 1/101 अवसितं च। वा0 प्रा0 1/106

अवसितं पूर्वस्य अ0 प्रा0 1/102

अवसितं पूर्वस्य। तै0 प्रा0 21/3

पद्यंच। अ0 प्रा0 1/57

5• अक्षरं यन्न दृश्यते व्यंजनं विरते पदे। पूर्वांग तद् विजानीयाद् यत् स्थितं

3. 8. स्वरमध्यवर्ती व्यंजन का आक्षरिक विभाजन ऋ० प्रा० के अनुसार स्वरमध्यवर्ती असंयुक्त व्यंजन उत्तरस्वर का अंग होता है।[1] यथा- "कवि" में (क्+ आ+ व + इ) ककारोत्तरवर्ती अकार तथा वकारोत्तरवर्ती इकार इन दो स्वरों के मध्य में व् स्थित है। व उत्तर स्वर इ का अंग है। वा० प्रा० के अनुसार स्वरमध्यवर्ती संयुक्त व्यंजन संयोगादिपूर्वस्वर का अंग होता है।[2] यथा- हव्ययम्" अश्व " में संयोगादिस्थ "व" तथा "श" पूर्ववर्ती स्वर आंकार के अंग है। जब कि परवर्ती "व्य" तथा "पूव्" परवर्ती स्वर के अंग है। इस प्रकार इनका आक्षरिक विभाजन हव्+ व्यम् तथा अश+ श्व होगा। अन्य प्रातिशाख्यों में भी ऐसा विधान मिलता है। ऋ० प्रा० के मतानुसार संयुक्त व्यंजनों का अक्षर- विभाजन प्रक्रिया वैकल्पिक है। इसके अनुसार व्यंजन संयोगो का आदि वर्ण विकल्प से पूर्व या पर अक्षर का अंश होता है।[3] यथा- "पुत्र:" का अक्षर-विभाजन "पुत्+ र" या "पु+ त्र" दो ही विकल्प से हो सकता है।

उपर्युक्त संयुक्त व्यंजनो के अक्षर-विभाजन का वैकल्पिक विधान प्राकृत रूपों में भी दृष्टिगोचर होती है। यथा मुग्ग,धम्म, कम्म आदि का आक्षरिक

---

1. स्वरान्ते व्यंजनान्युत्तरस्य। ऋ० प्रा० 1/23

   परस्य स्वरस्य व्यंजनानि। अ० प्रा० 1/55

2. संयोगादि पूर्वस्य। वा० प्रा०

3. संयोगादि र्वा। ऋ० प्रा० 1/25

विभाजन- मु + ग्ग या मुग् + ग् , ध+ म्म या धम+ म क् + म्म् या कम्+ म रूपों में होता है । यहाँ पर यह शंका होना स्वाभाविक है कि व्यंजन संयोग का आदि वर्ण परवर्ती स्वर का अंग है, क्यों कि इसका समीकरण द्वितीय व्यंजन के साथ हुआ है । किन्तु यह अयथार्थ है क्यों कि यहाँ पूर्ववर्ती अक्षर को वद्ध रूप में उच्चारित होने वाली प्रवृत्ति कार्य कर रही है । द्वितीय अक्षर का प्रारम्भ द्वित्वरूप में उत्पन्न व्यंजन से नहीं हो सकता । इसलिए "धम्म" आदि पदों का आक्षरिक विभाजन "धम् + म " आदि होता है ।

संयुक्त व्यंजनो के अक्षर-विभाजन से सम्बद्ध सम्बन्ध कुछ महत्वपूर्ण तथ्य है, जिनका यहाँ समुचित विचार करना अपेक्षित है -

1. द्वित्व व्यंजनो का आक्षरिक विभाजन -

यद्यपि कि सभी शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में इस विषय से सहमति है कि संयोगावस्था में आदि के व्यंजन को "द्वित्व" हो जाता है यदि उसके पूर्व स्वर हो ।[1] परन्तु द्वित्व व्यंजनों के अक्षर-विभाजन (अंगत्व) के विषय में

---

1. संयोगगादिस्वरादा द्वित्वं प्राप्नोतीति विदुर्बुधा: । व0र0प्र0शि0 147

स्वरपूर्वमियादे द्वित्वं व्यंजनं व्यंजने परे । व्या0 शि0

स्वरात् संयोगादि: द्विरूच्यते सर्वत्र। प्रा0 प्र0शि0 131,

स्वरादिदत्वमाप्नोति व्यंजनं व्यंजने परे । माध्य0 शि0 2,

स्वरपरसंयोगादिद्वि: । स्व0अ0 शि0 4/5

सर्वत्र स्वरात्संयोगादि: क्रामति रेफहकारवर्जम्। गौ0 शि0 3,

स्वरानुस्वारोपहितो द्विरूच्यते । संयोगादि: स क्रम अविक्रमे सन् ।

शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों में मतवैविध्य है । वस्तुत: द्वित्व को प्राप्त व्यंजन के अव्यवहित पश्चात् कोई न कोई व्यंजन अवश्य होता है । इसलिए द्वित्व कोप्राप्त व्यंजन के अंगत्व पर विचार करना आवश्यक है । वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[1] तथा प्रातिशाख्य प्रदीपशिक्षा मे द्वित्व के अंगत्व के संबंध में उल्लेख प्राप्त होता है । जिसके अनुसार संयोग का आदि वर्ण पूर्ववर्ती स्वर का अंग होता है अर्थात् संयोगावस्था में द्वित्व प्राप्त व्यंजन समूह का प्रथम वर्ण पूववर्ती स्वर का अंगहोताहै तथा द्वितीयवर्ण परवर्ती स्वर का अंग होता है यथा । "अश्श्व:, "इषेत्त्वा " का आक्षरिक विभाजन "अंश+ श्व:, " "इषित्+ त्वा " होता है । जिसमें द्वित्व काप्रथम वर्ण "श" तथा "त" पूर्ववर्ती स्वर "अ" तथा "ए" का अंग है और द्वित्व का द्वितीयवर्ण "श्" तथा "त्" परवर्ती स्वर वर्ण "अ" तथा "आ" का अंग है । जब कि वा0 प्रा0 मे एक उल्लेख जब कि वा0प्रा0 मे प्राप्त उल्लेख के अनुसार यदि द्वित्व प्राप्त व्यंजन समूह अन्तस्थ से भिन्न व्यंजन से पूर्ण हो, तो द्वित्व- व्यंजन- समूह के दोनों वर्ण पूर्ववर्ती स्वर

स्वर पूर्व व्यंजनं द्विवर्ण व्यंजनपरम् । तै0 प्रा0 14/1

संयोगादि: स्वरात् । च0 अ0 3/18

राज् राप् - ऋ0 तै0 5/269

1· संयोगस्यादि भूतो य: स पूर्वाङ्ग भवेद्यथा ।

अश्श्व: शशवसंयोगे श: पूर्व्वाङ्ग: शवोऽन्यत: ।।

वर0प्र0शि0 45

2· संयुयोगादि: पूर्व्वस्य । संयोगस्यादिवर्ण: पूर्वस्याङ्गम्भवति । इषेत्त्वा अत्र द्वित्वे द्वौ तकारो । तत्र प्रथमस्तकार:पूर्वस्य द्वितीयस्तकारो

के अंग होते हैं । [1] यथा "अग्निनम्" "पार्ष्णया" का आक्षरिक विभाजन क्रमश: "अग्ग+ निम्" तथा "पार्ष्" + णया " के रूप में होगा । किन्तु यदि अन्तस्थ, द्वित्व समूह के बाद हो, वो द्वित्व प्राप्त व्यंजन का प्रथम वर्ण ही पूर्ववर्ती अक्षर का अंग होगा यथा-" नाश्श्वर्वम्" वाष्ष्यार्य" का आक्षरिक विभाजन क्रमश: "पार्श । "श्वम" तथा "पार्ष + "ष्याय" होगा ।

परन्तु ऋक्प्रातिशाख्यकार द्वित्वप्राप्त व्यंजनो के आक्षरिक विभाजन के विषय पर एक विशिष्ट विधान का प्रतिपादन करते हैं । इनके अनुसार द्वित्व कृत व्यंजनो में द्वितीय वर्ण वैकल्पिक रूप से पूर्ववर्ती स्वर का भी अंग हो सकता है तथा परवर्ती स्वर का भी अंग हो सकता है । [2] उपर्युक्त दोनों सूत्रों के भाष्यों में उवट का कथन है कि ऐसी स्थलों पर प्रथम व्यंजन तो निश्चित रूप से पूर्ववर्ती स्वर का ही अंग होगा, किन्तु द्वितीयवर्ण पूर्ववर्ती स्वर या परवर्ती स्वर का अंग हो सकता है । यथा-" आत्त्वा " का प्रथम तकार पूर्ववर्ती अक्षर का अंग है अत: यह " आ " के स्वर का भागी होगा । द्वितीय तकार

---

1. क्रमजं च । वा० प्रा० 1/104

तस्माच्चोत्तरं स्वर्ँ । वा० प्रा० 1/105

अपि च द्रष्टव्य- रेफ हकार क्रमजं च । च० अ० 1/58

2. संयोगादिर्वा, चपरक्रमे द्वे । ऋ० प्रा० 1/25, 26

वैकल्पिक रूप से परवर्ती " आ " अथवा पूर्ववर्ती "आ " अक्षर का अंग हो सकता है । अतः वह प्रथम " आ " के उदात्त स्वर या द्वितीय " आ " के अनुदात्त स्वर का अंग हो सकता है । इस प्रकार विकल्प से आक्षरिक विभाजन । आत्त् + वा " अथवा "आत्-। त्वा " हो सकता है ।

उपर्युक्त वा० प्रा० तथा ऋ० प्रा० दोनों द्वारा प्रतिपादित द्वित्व के आक्षरिक विभाजन सम्बन्धी विधान में किसका मत अधिक युक्तिसंगत है । यह एक विचारणीय विषय है । यदि सूक्ष्मतया विचार-मन्थन किया जाय, तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि द्वित्वीकृत व्यंजनों का आक्षरिक विभाजन तभी सम्भव होता है जब कि द्वितीय व्यंजन से पूर्व प्रथम व्यंजन का स्फोटन (विच्छेद) होता है । यथा " अग्निम् " शब्द के उच्चारण में यदि प्रथम "ग" का द्वितीय "ग" से पूर्व विच्छेद होता है तो तभी इसका आक्षरिक विभाजन अग्+ ग्निम् हो सकता है । परन्तु प्रायः सभी भारतीय वैयाकरणों ने द्वित्वीभूत व्यंजनों के अन्तर्गत प्रथम व्यंजन के स्फोटन का विरोध किया है । इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि ऋ० प्रातिशाख्यकार ने " अग्निम् " का जो एक वैकल्पिक आक्षरिक विभाजन "अग्-ग्निम् " के रूप में दिया है । वह उपर्युक्त कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। वास्तव में उपर्युक्त विभाजन का आधार यह होगा कि यद्यपि यह उच्चारित व्यजन अकेला दीर्घ " व्यंजन था जो कि श्रोता को "ग" के उपांश में प्राधान्य का ह्रास सुनायी पड़ता था ।प्रतीति का यह ह्रास एक दीर्घ अनुच्चार के रूप में सदा विद्यमान रहा था ग् के स्फोटनकाल में प्रतीति का आरोह श्रुतिगोचर हुआ । इस

प्रकार लगता है कि श्रोता को दो "ग्" सुनायी देते थे - प्रथम् " अंग् " अक्षर के अंग के रूप में तथा दूसरा " ग्निम्" अक्षर के अंग के रूप में । सम्भवत: ऋक् प्रातिशाख्यकार द्वारा विहित अग्निम का अंग्+ ग्निम् रूप में आक्षरिक विभाजन सम्भव हो सका होगा ।

परन्तु वाजसनेयि प्रातिशाख्यकार को द्वित्व का उपर्युक्त विभाजन मान्य नहीं है । इनके मतानुसार यदि द्वित्व व्यंजन के बाद संघर्षी व्यंजनो के अतिरिक्त कोई अन्य व्यंजन आता है तो " अग्ग्निम्" का आक्षरिक विभाजन" अग्ग्+ निम्" होगा न कि अंग+ ग्निम्" अर्थात् संयुक्त व्यंजन पूर्ववर्ती अक्षर के अंग होगे किन्तु द्वित्व के एक स्थल पर वा० प्रा० " पाश्श्र्वम्" का आक्षरिक विभाजन " पार्श-श्वम्" के रूप में बताता है[1] । इस प्रकार यहां भी ऋ० प्रा०[2] जैसी विवादास्पद स्थिति आ जाती है । विवाद का समाधान कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक आधार पर किया जा सकता है । किसी अन्य स्पर्श या नासिक्य व्यंजन के पूर्व में ऐसा द्वित्व जिसमें कि प्रथम व्यंजन द्वितीयव्यंजन से स्पष्टतया पृथक् सुनाई दे, कम सम्भव है । ऐसा इसलिए होता है कि इस स्थिति में दो स्पष्ट गकारो एवं उत्तरवर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिए श्वास शक्ति को बराबर बनाये रखना इतना आसान नहीं है किन्तु जब उसके बाद कोई स्वर, अन्तस्थ या संघर्षी व्यंजन आता है तो स्पष्ट रूप से द्वित्व सरल हो जाता है क्यों कि इस स्थिति में गकार को उपांश के उच्चारण में श्वास- शक्ति को अधिक रुकावट का सामना नहीं करना पड़ता है । इस प्रकार "अग्निम् " तथा

---

1. वा०प्रा० 1/105

2. ऋ० प्रा० 1/15

"पाश्श्र्वम्" का "अंग+ गिनम्" और पाश् + र्श्वम् के रूप में आक्षरिक विभाजन सम्भव हो सकता है ।

2• यमों का आक्षरिक विभाजन-

शिक्षाओं तथा प्रतिशाख्यों दोनों ही ग्रन्थों में यमों के आक्षरिक विभाजन" के संबंध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है । सामान्यतः सभी शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों के अनुसार अनुनासिक स्पर्श तथा नासिक स्पर्श के मध्य आने वाली विशेष प्रकार की नासिक्य ध्वनि "यम्" कहलाती है[1] । अर्थात् जब किसी व्यंजन- संयोग में पूर्ववर्ती वर्ण अननुनासिक स्पर्श हो एवं एवं परवर्ती

1• स्पर्शानामुत्तमैः स्पर्शैः संयोगाच्चेदनुक्रमात् ।
आनुपूर्व्या यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा ।। माण्डू० शि० ।।6
यत्रोष्मा ष्मा विकृते स्पर्शादुत्तमोर्ध्वे त्वनुत्तमात् ।
आनुपूर्व्याद्यमानेतान्वर्णयन्त्यागमान्न बुधाः ।। व्या०शि० 355
अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वो अन्त्यश्चपरतो यदि ।
तन्मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्वगुणयोः । ना० शि० 2/24
स्वरात्संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः ।
तस्यैव यम संज्ञा स्यात् पंचमैरन्वितो यदि ।व०र०प्र०शि० ।75
अपंचमात् पदे नित्यं पंचमेषु परेषु च ।
यमोत्पत्तिर्भवेत्तत्र रुक्क्मः पोप्पमां निदर्शनम् । व०र०प्र० शि० ।74
अपंचमैश्चैक पदेसंयुक्तं पंचमात्परम् ।
उत्पद्यते यमस्तत्र सः अंग पूर्वाक्षरस्यहि ।। याज्ञ० शि० 213

वर्ण किसी भी वर्ग का पंचम वर्ण हो, तो उनके मध्य पूर्ववर्ती वर्ण के सदृश अतिरिक्त वर्ण का आविर्भाव हो जाता है, जो परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के प्रभाव से अनुनासिक गुणयुक्त उच्चारित होता है। इसी अविर्भूत ध्वनि की संज्ञा "यम" है। इसमें पूर्ववर्ती स्पर्श द्वित्व रूप में उच्चरित होता है, जिसका द्वितीय अवयव आंशिक नासिक्य "स्फोटन" के कारण बन जाता है। अर्थात् "यम्" वे ध्वनियां हैं" जिनका कि स्पर्श एवं नासिक्य के बीच अन्तर्निवेश हो जाया करता है। "यम्" ध्वनियों का अन्तर्निवेश दो व्यंजनों स्पर्श एवं नासिक्य के बीच होता है। अतः इस संयोगावस्था में विद्यमान "यम" के शुद्धोच्चारण हेतु उसका अंगत्व विचारणीय है।

इस सन्दर्भ में वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[1] तथा प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा[2] में उद्धरण मिलता है। जिसके अनुसार "यम् " पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अंग होता है।

+• स्पर्शे यमान् अनुनासिका: स्वान् परेषु स्पर्शेषु अनुनासिकेषु। ऋ० प्र० 6/8
स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्या:। तै० प्रा० 21/12
समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमेयमैर्यथासंख्यम्। च० अ० 1/99,

1• यमश्च पूर्वस्याङ्गं स्याच्चकारात्पूर्वसंयुत:। रुक्क्म÷ पूर्वस्य कयमानुत्तरस्य तु म: स्मृत:। व०र०प्र०शि० 46

2• यमश्चपूर्वस्याङ्गम्। रुक्म:। अत्र ककारो यमश्च पूर्वस्याङ्गम् मकार उत्तरस्य। प्रा० प्र० शि० 154 शि०सं० पृष्ठ 255

यथा " रूक्कम्: " का आक्षरिक विभाजन उपरोक्त नियमानुसार "रूक्कँ-म: " होता है । जिसमें ककार तथा यम् पूर्ववर्ती स्वर " उकार का अंग है तथा " ककार " परवर्ती स्वर अकार का अंग है । इसीप्रकार का उल्लेख वा० प्रा० से भी प्राप्त होता है । जिसके अनुसार यम्, पूर्ववर्ती अक्षर का अंग होता है।[1] परन्तु तैत्तिरीय प्रतिशाख्य से प्राप्त उल्लेख के अनुसार यम परवर्ती अक्षर का अंग होता है ।[2] यथा रूक्कम: का आक्षरिक विभाजन "रूक्+ कँम् " रूप में किया जाता है । वस्तुत: परवर्ती व्यंजन के अंगभूत नासिक्य व्यंजन के उच्चारण हेतु नासिका विवर की विवृति पूर्व व्यंजन के स्फोटन काल में ही नहीं, अपितु इसके उच्चारण के प्रारम्भ होने के पूर्व ही शुरू हो जाती है । कुछ बोलियों में पायी जाने वाले उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं । यथा संस्कृत के "रूक्मिणी" का अर्धमागधी में "रूप्पिणी " रूप मिलता है किन्तु पाली में "रूक्मवती " के लिए "रूम्मवती " मिलता है । प्रथम उदाहरण में अनुनासिकता को व्यंजन संयोग से सर्वथा निकाल दिया गया है जिसके कारण यहाँ नासिक्य ध्वनि अर्थात् यम का पूर्वाक्षर के साथ सम्बद्ध होने का कोईप्रश्न ही नहीं उठता है। दूसरे उदाहरण में

---

1. यमश्च । वा० प्रा० 1/103

   यमा: पूर्वस्याङ्गं भवति च शब्दात् पूर्ववर्णसहित: । यथा-
   रूक्कमँम् ककार यममकारा:संयोग: । तत्र ककारयमो पूर्वस्य मकार
   उत्तरस्य । वा० प्रा० 1/103 पर उ०भा०

2. नासिक्या: । तै० प्रा० 21/8

   नासिक्या: यमा: परस्वरं भजन्ते यथा रूक्कँम् । तै० प्रा० 21/8 पर
   त्रि०भा०

नासिक्य व्यंजन ने स्पर्श ध्वनिको सर्वथा निकाल दिया है जो कि उस उच्चारण की स्थिति का सूचक है जिसमें कि अनुवर्ती नासिक्य व्यंजन के साथ होने वाले समीकरण के प्रभाव से नासा-विवर की विवृति जरा पहले ही प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए इस प्रसंग में "यम" को पूर्ववर्ती अक्षर का अंग कहा जा सकता है।

3. अनुस्वार का आक्षरिक विभाजन-

शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में अनुस्वार के आक्षरिक विभाजन से सम्बद्ध उल्लेख प्राप्त होते हैं। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[1] से प्राप्त उल्लेख से पता चलता है कि अनुस्वार, विसर्ग, नासिक्य, यम जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ये सभी पराश्रयी है अर्थात् स्वर के आश्रित हैं। इसलिए इन संयोग वाहकों का अपना कोई स्वर नहीं होता है। इन कारणों से ये सभी पूर्ववर्ती स्वर के अंग होते हैं। इसी प्रकार ऋ0 प्रा[2] तथा तै0 प्रा0[3] से भी उल्लेख प्राप्त

---

1. अनुस्वारो विसर्गश्च नासिक्योऽथ समास्तथा।
   जिह्वामूलमुपध्मा च नवैते स्यु: पराश्रया:।
   संयोगवाहा एवैते निजस्वरविवार्जिता:।
   पूर्वस्याङ्गं भवन्त्येते स्वर एतेषु पूर्ववत्।। व0र0प्र0शि0 50,51
2. पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ। ऋ0 प्रा0 1/24
   विसर्जनीमानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम्। ऋ0 प्रा0 18/34
3. अनुस्वार स्वरभक्तिश्च। तै0 प्रा0 21/6

होता है । जिसके अनुसार अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती अक्षर का अंग होता है । यथा-"अंशुना" "वसु" में दोनों अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती अक्षर उकार के अंग है । परन्तु सर्वसम्मत शिक्षा[1] तथा आख्यशिक्षा[2] से प्राप्त उल्लेख के अनुसार काठक शाखा में "वांसासि" शब्द का अनुसार पृथक् रूप से अक्षर का निर्माण करता है । वास शब्द से सम्बन्धित अनुस्वार स्वतन्त्र अनुदात्तस्वर भागी अक्षर बनता है, जो कि पूर्व अक्षर का अंग नहीं बनता है ।

इस प्रकार वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा, तथा सर्वसम्मत शिक्षा द्वारा प्रतिपादित अनुस्वार के अंगत्व सम्बन्धी विधान के अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों शिक्षाएं अनुस्वार के अंगत्व के सम्बन्ध में एकमत नहीं है । वस्तुत: अनुस्वार का अंगत्व उसकी प्रकृति पर आधारित है । परन्तु भारतीय वैयाकरणों में अनुसार की प्रकृति के संबंध में एकमत नहीं है । कुछ वैयाकरणी अनुस्वार को स्वर की अनुनासिकता स्वीकारकरते हैं,[3] कुछ वैया० अनुस्वार को शुद्ध व्यंजन स्वीकार करते हैं[4] तथा कुछ ऐसे भी है जिनके अनुसार अनुस्वार

---

1. काठकाख्ये चरणे वास: शब्दादुत्तरोऽनुस्वार: पूर्वस्यांग न भवति । सर्व स०शि० 2/38
2. वासशब्ददानुस्वार: काठके नीच इष्यते । ना०शि० 52
   वास: शब्दात् प्रतीयमानोऽनुस्वार: काठके पृथगेव न पूर्वांशमित्यर्थ: । ना०शि० 52 पर भाष्य,
3. नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिक: । च०अ० 1/67
   अनुस्वयति पश्चार्धे स्वरवदुच्चायति इत्यनुस्वार: । तै० प्रा० 1/18 परउ०भा।

स्वर भी है एवं व्यंजन भी है अर्थात् इनके मतानुसार अनुस्वार और व्यंजन दोनों के गुणो से युक्त परन्तु दोनों से पृथक् एक वर्ण है । यदि अनुस्वार को केवल स्वर क अनुनासिकता माना जाय, तो वह उसी स्वर का अंग होगा, जिसकी अनुनासिकता के फलस्वरूप वह विद्यमान है । यदि अनुस्वार को व्यंजन माना जाय तब तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह पूर्ववर्ती स्वर का अंग होगा या परवर्ती स्वर का । यदि अनुस्वार को स्वर एवं व्यंजन का संयुक्त रूप स्वीकार किया जाय तब तो उसका व्यंजनांश स्वरान्तरवर्ती होगा ऐसी स्थिति में दो स्वरों के मध्य विभाजन किया जा सकता है और यदि उसे पूरी सावधानी पूर्वक तथा उसके बाद वाले स्वर को "प्रबल बलाघातयुक्त उच्चारित किया जा रहा है तो ऐसी स्थिति वह अनुस्वार परवर्ती अक्षर का अंग हो सकता है । यदि इसके बाद कोई व्यंजन आ रहा हो तथा पूरी सावधानी पूर्वक उच्चारित किया जा रहा हो तो तब अनुस्वार स्वतन्त्र अक्षर भी बन सकता है ।

जहाँ तक ऋ0प्रा0 तथा तै0 प्रा0 दोनों के अनुस्वार को पूर्ववर्ती स्वर का अंग मानने का प्रश्न है, वह अवश्यमेव विचार करने का विषय है । यद्यपि कि ऋ0 प्रा0 अनुस्वार की गणना आठ ऊष्म व्यंजनो में करता है परन्तु इस कथन से अनुस्वार का पूर्ववर्ती स्वर का अंग होना सिद्ध नहीं होता है । तै0 प्रा0 अनुस्वार को व्यंजन अंगीकार करता है । इसके अनुसार अनुस्वार अर्द्ध "ग" के सदृश उच्चारित होता है । अस्तु यह पूर्णतया एक व्यंजन है । प्राय: रेफ तथा ऊष्म वर्ण के बाद में होने पर मकार का अनुस्वार हो जाता है ।[1] इस प्रकार यह

---

1. अनुस्वारश्च रोष्मसु मकारस्य यो पिधि: । व0र0प्र0शि0 ।40

मकारो रेफे ऊष्मसु च परेष्वनुस्वारमापद्यते । प्रा0प्र0शि0 5/1

स्पष्ट होता है कि पदान्त अनुस्वार व्यंजन से पूर्व में आने वाले "म" कर परिवर्तित रूप है । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मकार अपने परवर्ती व्यंजन का अंग तो हो नहीं सकता । क्यों कि, व्यंजन स्वयं स्वराश्रित होता है । इसलिए अनुस्वार रूप में परिवर्तित मकार अपने पूर्ववर्ती स्वर का अंग होगा । दूसरी बात यह भी है कि अनुस्वार के उच्चारण काल के उसके पूर्ववर्ती स्वर की मात्रा के फलस्वरूप अनुस्वार की मात्रा घटती बढ़ती रहती है । यदि अनुस्वार से पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ है, तो अनुस्वार की मात्रा ह्रस्व होती है तथा यदि उसके पूववर्ती स्वर ह्रस्व है तो अनुस्वार की मात्रा दीर्घ होती है । [1] इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुस्वार का अधिक झुकाव पूर्ववर्ती स्वर की ओर ही होता है, तभी पूर्ववर्ती स्वर के अनुसार अनुस्वार की मात्रा भी घटती बढ़ती रहती है। पा०शि० के अनुसार अनुस्वार को उच्चारण स्वर के अव्यवहित पश्चात् ही होता है।[2]

अनुस्वारस्तु कर्तव्य: नित्यं हो: शषसेषु । च । पा० शि० 23

अनुस्वारं रोष्मसु मकार: । वा०प्रा० 4/1

म्वोऽनुस्वार: । सि०कौ० 8·3·23

1· अनुस्वारस्तु यो दीर्घदक्षराद् भवेद पर: ।

स तु ह्रस्व इतिप्रोक्त: मन्त्रेष्वेव विभाषया ।। याज्ञ० शि० 142

अनुस्वारस्योपरिष्टात्संवृतं यत्र दृश्यते ।

दीर्घं तं तु विजानीयात् श्रोता ग्रावाणेति निदर्शनम् ।

अनुस्वारस्तु यो दीर्घादक्षराच्च भवेत्तत: ।

स तु ह्रस्वइति प्रोक्तो मन्त्रेष्वेव विभाषया । च०पारा०शि० 29,30

ह्रस्वात्परो भवेद्दीर्घो - - -।

दीर्घोत्परो भवेद ह्रस्वोमां ---- । ऋ० ल०मा०शि० 13,

इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर के बिना स्थित नहीं हो सकता है, तो इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर का अंग है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों का यह विधान कि अनुस्वार पूर्ववर्ती अक्षर का अंग होता है, युक्ति संगत एवं समीचीन है।

4• स्वरभक्ति का आक्षरिक विभाजन-

शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों दोनों ही ग्रन्थो से स्वरभक्ति के अंगत्व के विषय मेंपर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[1] से प्राप्त उल्लेख के अनुसार स्वरभक्ति पूर्ववर्ती स्वर का अंग होती है। यथा-" बर्हि" में "स्वरभक्ति पूर्ववर्ती अक्षर का अंग होकर उच्चरित होती है। इसी प्रकार का उल्लेख ऋ० प्रा०[2] तथा तै० प्रा०[3] से भी प्राप्त होता है। कुछ शिक्षाओं से स्वरभक्ति के अक्षर- विभाजन के सम्बन्ध में अतिमहत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है। जैसा कि तै० प्रा० के वैदिकभरण भाष्य में किसी शिक्षा से एक कारिका उद्धृत की गयी है जिसके अनुसार स्वरित से बाद में आने वाली स्वरभक्ति स्वतन्त्र अक्षर का निर्माण करती है[4]। अतः इसे स्वतन्त्र स्वरभक्ति" या स्वप्रधाना-स्वरभक्ति कहते है। ऐसी "स्वरभक्ति" स्वर सापेक्ष नहीं होती है बल्कि इसका उच्चारण स्वतः होता है। यह किसी स्वर का अंग नहीं होती है। यथा

1• स्वरभक्तिश्च पूर्वाङ्गम्। व०र०प्र०शि० 52

2• स्वरभक्तिः पूर्वभागाक्षराङ्गम्। ऋ० प्रा० 1•32

3• स्वरादीर्घापदान्तस्थात्स्वरभक्तिस्तु या भवेद्।

सा पूर्वस्वराङ्गं स्यात् -----। तै० प्रा० 21/15 पर

"यद दर्शपूर्णमासौ"[1] एवं एतां दर्शभामालभन्त ।[2] इन उदाहरणों में स्वरभक्ति स्वरित परा है अतः यह उपर्युक्त नियमानुसार "स्वप्रधाना यह स्वरभक्ति स्वतन्त्र अक्षर का निर्माण करती है । इसलिए इसके अंगत्व का कोई सवाल ही नहीं उठता है । इसी प्रकार परिशिक्षा[3] तथा व्यासशिक्षा[4] से भी उल्लेख प्राप्त

---

4. स्वरात्परा स्वर भक्तिः स्वप्रधाना प्रकीर्तिता ।
यास्य धूरषदं चेति स्वतन्त्राभक्तिरिष्यते ।
तैoप्राo 21/15 पर वैo आo

1. तैo संo 1·6·7

2. तैo संo 2·1·4

---

3. दीर्घाच्च ह्रस्वाद् स्वरितादनन्त्यात्पृथग्भवेद् भक्तिर्-
संहिता च पारिo शिo129/130

4. दीर्घाद् स्वारादनन्त्या च स्वरभक्तिःपृथग् भवेद् ।
व्याo शिo 23/6

होता है जिसके अनुसार स्वरित के उपरान्त चाहे ह्रस्व स्वर आये या दीर्घ स्वर आये, दोनों ही स्वरों के साथ स्वरभक्ति एक स्वतन्त्र अक्षर का निर्माण करती है । इसी से मिलता हुआ उल्लेख "आरण्य शिक्षा"[1] से भी प्राप्त होता है स्वरित आघात वाले ह्रस्व स्वर के बाद आने वाली स्वरभक्ति स्वर से अभिन्न होती है तथा उसका सम्बन्ध पूर्ववर्ती के साथ नहीं होता है अर्थात् वह पृथक् सत्ता वाली होती है । इस प्रकार कुछ स्थलों पर स्वरभक्ति एक स्वतन्त्र अक्षर का निर्माण करने में सक्षम हो जाती है ।

इसप्रकार वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा तथा पारिशिक्षा एवं आरण्य शिक्षा द्वारा प्रतिपादित स्वरभक्ति के अंगत्व सम्बन्धी विधान के सम्यक् अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि ये तीनों शिक्षाएं स्वरभक्ति के अंगत्व के विषय पर एकमत नहीं है । वस्तुत: यदि हम स्वरभक्ति के शाब्दिक अर्थ की ओर ध्यान दें तो इस सम्बन्ध में यथोचित दिशा निर्देशन मिल सकता है । स्वरभक्ति का शाब्दिक अर्थ- "स्वर का भाग" होता है।[2] ऋक्प्रा० प्रा० के भाष्यकार का यह कहना है कि "स्वर भक्ति" स्वर का एक प्रकार है ।[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि "स्वरभक्ति"

---

1. ह्रस्व स्वारात् स्वराभिन्ना इत्यादि लक्षणप्राप्तस्वरभक्तीनां पूर्वांगत्वं निषिध्य कुत्राचित् पृथक्त्वं विधत्ते । आ० शि० ।18, ।19
2. स्वरस्य भक्ति: स्वरभक्ति: । भक्ति भाग: अवयव: एकदेश: इति यावत् । तै० प्रा० 21/ 6 र त्रि० भा०
3. स्वरभक्ति: स्वरप्रकार: इत्यर्थ: । ऋ० प्रा० 1/32 पर उ० भा०.

को स्वतन्त्र स्वतन्त्र अक्षर नहीं माना जा सकता है क्यों कि यदि वह स्वर होती तो उसको "स्वर का प्रकार" कहने का कोई औचित्य ही नहीं था । दूसरी बात यह है कि मुख्यत: स्वर दो प्रकार का होता है- ह्रस्व तथा दीर्घ । ह्रस्व स्वर एक मात्रा काल वाला या इससे कम मात्रा काल वाला होता है । तथा दीर्घ स्वर दो मात्रा काल वाला होता है।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वर कम से कम एक मात्रा काल वाला होता है ।[3] ऋ0 प्रा0 के मतानुसार" स्वरभक्ति " दो प्रकार की होती है- " ह्रस्वा " एवं "दीर्घा" । ह्रस्वा स्वर भक्ति 1/4 या इससे कम मात्रा काल वाली तथा दीर्घा 1/2 मात्रा काल वाली होती है ।[4] इस कथन की पुष्टि च0अ0 से प्राप्त उल्लेख, से भी होती है।[5] इससे भी यही

1• एकमात्रो भवेद्ध्रस्व: । व0प्र0शि0 22

मात्रा ह्रस्व: । ऋ0 प्रा0 1/29

एक मात्रिको ह्रस्व: एक मात्रो ह्रस्व: । अ0 प्रा0 1/59

अमात्रस्वरो ह्रस्व: । मात्रा च । वा0 प्रा0 1/59

2• द्विमात्रो दीर्घ: । च0अ0 1/61, द्वे दीर्घे । ऋ0 प्रा0 1/29

मात्रा सह भवेद् दीर्घ ह्रस्व मात्रा विना भवेद् । पा0 शि0 5,

तै0 प्रा0 1/35, वा0 प्रा0 1/57, ऋ0 तं0 43, चान्द्र 45,

3• स्वरश्च मात्राकाल: तै0 प्रा0 21/ 3 पर वि0 भा0

4• ह्राघीयसी सार्धमात्रा । अर्धानान्या । ऋ0 प्रा0 1/33, 1/35

5• रेफादूष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिरकारस्यार्धं चतुर्थमित्येके अन्यस्मिन् व्यंजने चतुर्थमष्टमं वा । च0अ0 1/101, 102

स्पष्ट होता है कि "स्वरभक्ति "स्वर का भाग है । अत: "स्वरभक्ति" पूर्ववर्ती स्वर का अंग होना चाहिए । परन्तु शिक्षाग्रन्थों के उपर्युक्त मन्तव्य को पूर्णतया अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है । हो सकता है शिक्षाओं के उदय के प्रारम्भिक काल में स्वरभक्ति को पूर्ववर्ती स्वर का अंग मानने की धारणा रही हो । परन्तु कालान्तर में स्वरित आदि कतिपय वैशिष्ट्यों के कारण उत्पन्न विशेष परिस्थिति वश स्वरभक्ति का उच्चारण एक स्वतन्त्र स्वर के रूप में होने लगा हो ।

नवम-अध्याय

उच्चारण-विधि (उच्चारणवृत्ति)

सामान्य उच्चारण नियम -

शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों दोनों ही ग्रन्थों से उच्चारणविधि या उच्चारणवृत्ति से सम्बन्धित पर्याप्त उल्लेख मिलता है। उच्चारणविधि से सम्बन्धित अतीव रोचक दृष्टान्त याज्ञवल्क्य आदि शिक्षाओं से प्राप्त होते है, जिनके अनुसार जिस प्रकार व्याघ्री ध्वंस के भय से भयभीत होती हुई अपने विशाल दशनों से स्वकीय पुत्रों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है, उसी प्रकार बुधीजन अक्षरो का समुच्चारण न अधिक शिथिलतापूर्वक और न अधिक आघात से करें।[1] नारदीयादि शिक्षा से प्राप्त एक अन्य दृष्टान्त में इस विषय को और अधिक स्पष्ट किया गया है। जिसके अनुसार अक्षरों का उच्चारण वैसे ही करे जैसे कि " अनुस्वार का उच्चारण तुम्बीफल वीणा के सदृश किया जाता है।[2] पुन: और अधिक स्पष्ट करते हुए पाणिनीय शिक्षा में

---

1. (क) व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान्दष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
   भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान्प्रयोजयेत्। याज्ञ॰शि0 0/95
   अ च द्र0 - ना0शि0 2·7·30 माण्डू0
   शि0 43 पा0 शि0 25 शै0शि0

   (ख) व्याघ्री दद्भिर्हरेत्पुत्रान् भीता पाताच्च पीडनात्।
   तद्वत् प्रयोजयेत् वर्णांस्तेन लोके महीयते ।। पा0 श्लो0 शि0 15,

2. अलाबुवीणा निर्घोषो दन्तमूल्य: स्वरानुग:।
   अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रों: शषसेषु च ।। पा0शि0 23

कहा गया है कि " अक्षरों का उच्चारण इस प्रकार करें कि वे न तो अस्पष्ट करें और न पीडित (कर्कश) होवे । अच्छी प्रकार से वर्णों को उच्चारण करने वाला मनुष्य ब्रह्मलोक में पूजित होता है । [1]

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार व्याघ्र - शिशु दाँतों द्वारा पकड़े जाने पर भी दन्तपीडा का अनुभव लेश मात्र भी नहीं करता है उसी प्रकार वर्णों का भी वैसा ही उच्चारण होना चाहिए कि दन्तादि स्थानों द्वारा उच्चरित होने के बावजूद भी श्रोता को ऐसा प्रतीत नहीं होना चाहिए कि वक्ता बलपूर्वक दन्तादि पीडनद्वारा उच्चारण कर रहा है अर्थात् मृदुता के साथ उच्चारण होना चाहिए । दूसरी बात यह है कि वर्णोच्चारण स्पष्ट रूप से किया जाना चाहिए । ताकि श्रोताओं को सम्यक्तया उसकी प्रतीति हो सके, न कि अन्तर्दन्तादिसो से ऐसा उच्चारण करे कि वर्ण अव्यक्त ही रह जाय । उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त वर्णोच्चारण के समय में ध्यान में रखने वाली कुछ और भी बाते जिसका सम्यक् प्रतिपादन याज्ञवल्क्य शिक्षा[2] में किया गया है । इस शिक्षा के मत-

---

1. एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिता ।
   सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते । ना०शि० 7·7·30
   अपि च द्र०- पा०शि० 31 माण्डूकी शि० 44

2. प्रसन्नमानसोभूत्वा किंचिन्नम्नमधोमुखः ।
   कूर्मोऽङ्गानीवसंहृत्य चेष्टां दृष्टिं दृढं मनः ।
   स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो वर्णानुच्चारयेद्बुधः ।
   नाभ्याहन्यान्न निर्हन्यान्न गायेन्नैव कम्पयेत् ।।
   यथैवोच्चारयेद् वर्णांस्तथैवैतान् समापयेत् ।।

नुसार वर्णोच्चारण के समय में शरीर चेष्टा, इधर- उधर से दृष्टिव्यापार तथा मनोव्यापार का नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है । शरीर-चेष्टा के अनियन्त्रित होने पर इधर- उधर हस्तादि अवयवों के चालन से सम्यक्तया वर्णाभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। इसलिए वर्णनिष्पादक वायु का प्रशस्त संचार आवश्यक है, इसके लिए शरीर स्थिति का नियन्त्रण अपेक्षित है । इसलिए शब्दप्रयोगार्थ शब्दविषयक ज्ञान धारा भी अपेक्षित है । दृष्टि, तथा मन का इधर उधर के अनावश्यक व्यापार से अवश्यमेव उस ज्ञानधारा में व्यवधान उत्पन्न हो जायेगा । इसी प्रकार अन्यत्र भी वाक्य तथा वाक्यघटक पदों का उच्चारण कैसे करना चाहिए जिससे कि श्रोताओं को अनायास ही बोध हो जाय - इसका भी दृष्टान्त सहित प्रतिपादन याज्ञवल्क्य शिक्षा में किया गया है । इस शिक्षा में कहा गया है कि जिस प्रकार समुमत्त नागेन्द्र एकपग के पश्चात् दूसरा पग रखता चला जाता है उसी प्रकार वक्ता को चाहिए कि वर्णोच्चारण के समय एक पद के पश्चात् दूसरा पदा का इस प्रकार उच्चारण कि श्रोता को सभी पद स्पष्ट रूपेणपृथक् पृथक् सुनायी पड़े ।[1] इस शिक्षा में कहा गया है कि जिस प्रकार मेघ-दुन्दुभि की आवाज होती है, भाद्रमास में मेघ का शब्द करता है, सिंह रूदन करता है उसी प्रकार नाद करना चाहिए । जिस प्रकार बन्दर एक डाली से दूसरी डाली पर छलांग लगाताहै उसीप्रकार वर्णोच्चारण करना चाहिए ।[2]

---

1. यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात्पादं निधापयेत् ।
   एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक्पृथक् । याज्ञ० शि० ।97

2. मेघदुन्दुभिनिर्घोषो जायते पयसो ह्रदात् ।
   एवं नादः प्रयोक्तव्यः सिंहस्य रूदितं यथा ।
   मासे भाद्रपदे मेघः शब्दं कुर्वीत यादृशम् ।

वेदानुसार विशिष्ट वर्णोच्चारण नियम -

1· "य" वर्ण का जकारोच्चारण- विभिन्न स्थितियों में वेदों में वर्णो का उच्चारण शाखानुसार विविध भाँति किया जाता है। जैसे कि छन्दों में किसी किसी प्रकार का जकार सदृश उच्चारण किया जाता है। इससे सम्बन्धित उल्लेख याज्ञवल्क्य शिक्षा से प्राप्त होता है। जिसके मतानुसार पाद के प्रारम्भ में, शब्द के आरम्भ में व्यंजन संयोग में या अवग्रह के बाद य का उच्चारण ज् की भाँति किया जाता है, यथा "यज्ञेन यज्ञं" में पदादि में तस्मादोज्यातं में शब्दो के आदि में तथा संयोगादि में अन्यत्र इसका उच्चारण य् की भाँति होता है, किन्तु सोपसर्ग शब्दों के आद्यक्षर के य् का उच्चारण अन्तस्थ की भाँति ही होता था, यथा ""विद्युत" में। जब र या ह् से संयुक्त हो तो य् का उच्चारण ज् के रूप में होता था, यथा "रय्या" का उच्चारण "रज्या" होता है।[1] इसी प्रकार "लघुअमोघा-

---

* शाखायां वानरा यद्वत् निपतन्त्युत्पतन्ति च।
एवं वर्णा: प्रयोक्तव्या इहेहेषां निदर्शनम् ।। याज्ञ0 शि0 179- 181

1· पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च ।
ज: शब्द इति विज्ञेयो योऽन्य: स्य इति स्मृत: ।
उपसर्ग परो यस्तु पदादिरपि दृश्यते,
पदादौ विद्यमानस्य हासंयुक्तस्ययस्य च ।।
आदेशो हि जकार: स्याद्युक्त: सन् हरेणनतु ।
यज्ञेन यज्ञं वैलक्ष्यं मयूरे प्रत्युवाहति: ।।
तस्माद्यज्ञाद् सर्वहुत: समस्माद्यतयैव च ।
रेफेणाद्य हकारेण युक्तस्य सर्वथा भवेद् ।
सह रय्या तथा वृद्दया चोपसर्गपरस्य न: ।।

नन्दिनी शिक्षा के अनुसार भी जब र् या ह् से संयुक्त हो तो माध्यन्दिन शाखा में वैदिक मूलग्रन्थों में य् का उच्चारण ज् के रूप में होता है, यथा "बाह्य" का उच्चारण "बाह्ज" तथा "सूर्य" का उच्चारण "सूर्ज" होता है। ऋ से पूर्व में आने वाले य् का उच्चारण सदा ही ज् होता है, यथा "व्यृद्ध" का उच्चारण जृद्धि होता था। किन्तु कहा गया है। कि उपसर्ग के बाद सामान्यतः य का उच्चारण ज् नहीं होता है, यथा उपराज्ञात् में य् का ज् नहीं होता है। अन्य शिक्षाओं में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[2]

---

1. पादादौ च पदादौ च संयुयोगावग्रहेषु च।
   ज शब्द इति विज्ञेयो योन्यः स य इति स्मृतः।
   युक्तेन मनसा तद्वत्तत्वा यामि तथा परम्।
   अनुकाशेन बाह्यं च तुरीयमनुया पदे ।।
   पदादावप्यविच्छेदो संयुयोगान्ते च तिष्ठताम्।
   वर्जयित्वा रहौ यानाभीषत्स्पृष्टत्वमिष्यते ।।
   उपसर्गपरो स्तु पदादिरापि दृश्यते।
   ईषत्स्पृष्टो यथा वियात पदच्छेदात्परो भवेत् ।।
   विभाषया यकारश्च नित्यमाम्रेडितेऽपि च।
   यत्रयत्रेहि मा यत्नं तथा येति पदादपि। ल० अमो० शि० 1-6
2. पदादौ विद्यमानस्य द्वासंयुयुक्तस्य यस्य च।
   आदेशो हि जकारः स्याद्युक्तः सन् हरपेन तु ।।
   यत्नेन यत्नं वैलक्ष्यं मयूरे प्रत्युदाहृतिः।

क्रमशः ---

ध्यातव्य है कि "य्" का "ज्" रूप में उच्चारण की प्रक्रिया मात्र "वाजसनेयि संहिता" में ही पायी जाती है, अन्य संहिताओं में नहीं जैसा

----

* तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत: समस्याद्यन्तयैव च ।
रेफेणाथ हकारेण युक्तस्य सर्वथा भवेत् ।
सूर्ययोर्वाहयन्तु वैलक्ष्यं शष्पयाय प्रत्युदाहृति: ।।
यकारकारियुक्तस्य जकार: सर्वथा भवेत् ।
सहरय्या तथा व्यूढा चोपसर्गपरस्य न ।।
उपयज्ञम्मानुषाणामपि यन्तीत्युदाहृति: । द्रि0 ल0मा0शि02-6
पदमध्ये पदाद्यन्त ऋहरेफैश्च संयुक्ते ।
यकारे जं विजानीयाद्युंजानेत्यादिकं यथा । व0र0प्र0शि0 ।6
आद्यान्तस्थस्य जोच्चार: पदादौ पठितस्य च ।
उपसर्ग परो यस्तु यस्य छन्दसि नेष्यते ।
प्रदस्याद्यन्तमध्ये स्यादरहे: स्युयुक्तस्य च ।। तत्कृता पं0 शि0 7-8
पदान्तमध्ये ऋकारहकाररेफैश्च युक्तस्य यस्य जोच्चारणं छन्दसि माध्यन्दिनीये या यस्य हरेफयुक्तस्य न: पदाद्यन्तमध्ये । के0शि0 § शि0सं0 पं0 ।40 §
पादादौ च पादादौ च संयोगावग्रहेषु च ।
ज: शब्द इति विज्ञेयो योऽन्य: स य इति स्मृत: ।
पदादावप्यविच्छेदे संयोगान्ते च तिष्ठताम् ।
वर्जयित्वा रहयाणामयादेश प्रदृश्यते । ना0शि0 2·1·16,17
अपि0 च द्र0 - माण्डू0 शि0 87
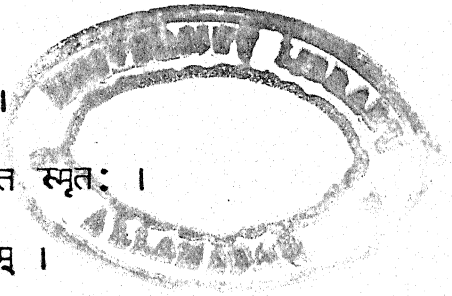
कि " लघु अमोघानन्दिनी शिक्षा " में उल्लेख मिलता है कि " वाजसनेयी शाखाध्यायियों को छोड़कर अन्य सभी शाखाओं में लिखित "य्" का उच्चारण "य" रूप में ही किया जाता है ।[1] दूसरी बात यह है कि यद्यपि कि उपर्युक्त विशेष परिस्थितों में " य् " का उच्चारण "ज्" के रूप में किया जाता है, परन्तु अपने लिप्यात्मक रूप में य् ही होता है । हाँ इतना अवश्य है कि जब यह "यज्ञात्" जैसे पाठों में शब्दारम्भ में होता था तो इसका उच्चारण "गुरु" ध्वनि के साथ किया जाता है ।[2]

2· "ष्" वर्ण का खकारोच्चारण- शिक्षाग्रंथों से षकार क "ख" रूप में उच्चारण सम्बन्धी उल्लेख भी मिलता है । " ष् " का " ख् " रूप में उच्चारण के संबंध में द्वितीयलघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा से उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके मतानुसार " जिस "ष" से पूर्व मूर्धन्य स्पर्श (टवर्ग) को छोड़कर कोई अन्य ध्वनि होती है उसका ही उच्चारण "ख" रूप में किया जाता है ।[3] यथा-"इषेत्वा

1· यत्कृतं शूत्रकारेण तद्वत् स्यात्सम्प्रसारणम् ।

तज्ज्ञेयं सर्वशाखासु न तु वाजसनेयिनाम् । ल0अ0मो0शि0 ।3

2· लक्षणस्य विरोधोऽपि पाठैक्यं यदि दृष्यते ।

तत्तथा प्रतिपत्तव्यं युयज्ञायज्ञाव इत्यथ । ल0 अमो0शि0 ।4

3· अथ शिक्षाप्रवक्ष्यामि माध्यन्दिन मतं यथा ।

षकारस्य खकार: स्याट्टुकयोगे तु नो भवेत् । द्वि0 ल0म0शि0 ।

तथा "विभष्टर्यस्तवे" में "ष्" वर्ण का उच्चारण "ख्" रूप में किया जाता है । अन्य शिक्षाओं में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है ।[1] केशवी शिक्षा से प्राप्त एक उल्लेख से पता चलता है कि षकार के खकारोच्चारण की प्रवृत्ति सम्भवत: ब्राह्मण ग्रन्थों में भी रही होगी यथा- इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानाम्-

---

1. टवर्गमन्तरा षस्य खोच्चारश्छन्दसिदित: । स्व०भ०ल०प०शि०17

2. ष: खष्टुमृते च पदान्तमध्ये षकारस्य खकारोच्चारस्यादटवर्ग विना छन्दसि माध्यन्दिनीये । के० शि० 3,

अस्युयुक्तस्य मूर्धन्योष्मण: खोच्चारणं मतम् ।
टुमृते स्युयुक्तस्यापि कस्य योगे ष एव हि ।।

त्कृ० प० शि० 14

षकारस्य अस्युयुक्तस्य टवर्ग विना अन्यहला संयुक्तस्य च खकारोच्चारणम् । इषेत्वा, विभष्टर्यस्तवे, शुष्कक्याय । प्रा० पृ० शि० (शि० सं० पृ० 299)

मूर्धन्योष्मणो संयुयुक्तस्य टुमृते स्युयुक्तस्य च खकारोच्चारणम् ।
प्रा०सू० 2

में " ष् " का उच्चारण ख्स्प में होता है ।[1]

"ष" के खकारोच्चारण की प्रवृत्ति केवल वैदिक संस्कृत के उच्चारण प्रक्रिया में ही नहीं रही है बल्कि लौकिक संस्कृत के उच्चारण प्रक्रिया में भी इसका दर्शन होता है । यथा- षोडश, षष्ठी, षोढा आदि का खोडश, खष्ठी, खोढा आदि रूपों में उच्चारण होता है यद्यपि कि तत्त्वतापद्यात्मिका शिक्षा में एक उल्लेख मिलता है जिससे यह ज्ञात होता है कि लौकिक संस्कृत में "ष्" का उच्चारण प्रकृतिभूत व्यंजन में ही अभिप्रेत रहा है।[2] परन्तु अनभिप्रेत होते हुए भी इसकी प्रवृत्ति पूर्णतः बन्द नहीं हुई । कतिपय क्षेत्रीय बोलियों में भी इस प्रवृत्ति का दर्शन होता है । यथा ऋषि का ऋखि आदि रूप में उच्चारण प्रायः होता है ।

3• ऋकार एवं लृकार का रेकारोच्चारण- शिक्षाग्रन्थों में "ऋ" एवं "लृ" वर्ण का एकार के साथ उच्चारण सम्बन्धी उल्लेख भी मिलते हैं । केशवी शिक्षा से एक उल्लेख प्राप्त होता है जिसके अनुसार एक ऊष्मवर्ण परे रहते ऊष्मवर्ण

1• एवं ब्राह्मणेऽपि इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानामित्यत्र कवर्गीय खकारसदृशोच्चारो न मूर्धन्यषकार इति ।
केश० {शि०सं० पृ० 140}

2• छन्दसिइत्येव खोच्चारो लोके प्रकृतिरिष्यते ।
– तत्त्व० प० शि० 15

का एकार सहित उच्चारण होता है ।[1] तथा ऋ वर्ण का भी एकार के साथ (ऐकोच्चारण) उच्चारण होता है ।[2] यथा-" कृष्णोऽसि" का क्रेष्णोऽसि, "पितृमते" का पित्रेमते अन्य शिक्षा ग्रन्थों[3] तथा सूत्रग्रन्थों[4] में भी ऐसा विधान मिलता है । प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा में एक उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार "लृ" वर्ण का उच्चारण भी एकार के साथ होता है । यथा "क्लृप्तम्" का उच्चारण " क्लेप्तम्" रूप में किया जाता है ।[5] अन्य शिक्षाग्रन्थों में भी ऐसा विधान मिलता है ।[6]

---

1. अहलु शल्यूहवीरपस्य ऐकार: प्राक् च । के0शि0 ।
2. "हलयुतायुतस्यो: ऐकारश्च-" पदान्तमध्ये हल्युतायुतस्य ऋकारस्य ऋवर्णस्यैकारइवोच्चार: स्याच्छन्दसि माध्यन्दिनीये । के0शि0 (शि0 सं0 ।47)
3. रेफो रेपत्वमाप्नोतिशषभेषु परेषु च । द्वि0 ल0म0शि0 ।0
4. ऋकारस्य तुस्ययुक्तासंयुयुक्तएव विशेषेण सर्वमेवम् । प्रति0सू0 6 अस्यार्थ: पदान्तमध्येषु स्ययुक्तासंयुक्तस्य ऋवर्णस्य रेकार: स्यात् । सर्वत्र संहितायां पदे च । यथा कृष्णोऽसि इत्यत्र क्रेष्णोसीत्युच्चार: । ऋत्वियो इत्यत्र रेत्विय: इत्युच्चार: ।
5. वार्तिकेन लृकारस्यापि ले इत्युच्चार: । क्लृप्तमित्यत्र क्लेप्तमित्युच्चार: ।। प्रा0 प्र0शि0 (शि0 सं0 पृ0 296)
6. लकारोऽपि च सावर्ण्यादिकारस्दृशो भवेत् । द्वि0ल0मा0शि0 ।।

4• अनुस्वार का ठ॑0§ गुँ§ रूप में उच्चारण – द्वितीय लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा में अनुस्वार का ठ॑0§ गुँ§ रूप में उच्चारण विषयक विधान मिलता है[1]। तथा यह उच्चारण ह्रस्व, दीर्घ तथा गुरू तीन रूपों में होता है।[2] अनुस्वार का उच्चारण ह्रस्व स्वर के पश्चात् "दीर्घ" रूप में होता है, यथा – "ह ठ॑0 सऽइति"। इसी प्रकार दीर्घ स्वर से पर में अनुस्वार का उच्चारण "ह्रस्व" रूप में होता है, यथा "माꣳसे-य:"। इसी प्रकार गुरूस्वर के अव्यवहित पश्चात् अनुस्वार का उच्चारण "गुरू" रूप में कियाजाता है।[3] इसी प्रकार माण्डूकी शिक्षा में भी अनुस्वार को उच्चारण की दृष्टि से ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुते तीन भागों विभक्त किया है।[4]

5• यकार तथा वकार वर्णो गुर्वादि त्रिविधयुच्चारण के सम्बन्ध में लघुअमोघानन्दिनी शिक्षा में कहा गया है कि "य्" का जब यज्ञात जैसा पाठ आता है तो इसका उच्चारण शब्दारम्भ में गुरू§ भारी "§ ध्वनि के साथ होता था।[5]

1• अनुस्वारो यत्र कुत्र ठ॑ § गुँ§ कारो भवति ध्रुवम्। द्वि0ल0म0शि0 12

2• ह्रस्व दीर्घो गुरूश्चेति त्रिविध:। परिकीर्तित:। द्वि0ल0मा0शि0 13

3• ह्रस्वात्परो भवेद्दीर्घो हठ॑ स दर्शनम्।

दीर्घात्परो भवेद् ह्रस्वो मा से-य इति दर्शनम्।

गुरौ परे ह्यनुस्वारो गुरूरेव हि स स्मृत:। द्वि0ल0मा0शि0 13,14

4• अनुस्वारश्च कर्तव्या ह्रस्वदीर्घप्लुतास्त्रय:। माण्डू0 शि0 9

5• लक्षणस्य विरोधेऽपि पाठैक्यं यदि दृश्यते।

तत्तथा प्रतिपत्तव्यं युयज्ञायज्ञाव इत्यथ। ल0अमो0 शि0 14

यथा "यज्ञात् " का " य्यज्ञात् " होता है । याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि "य्" वर्ण त्रिविध उच्चरित होता है । आदि में विद्यमान होने पर यकार का उच्चारण " गुरु " रूप में, मध्य में लघु तथा अन्त में होने पर लघुतर रूप में उच्चरित होता है ।[1] यथा य्यदिदिवायेद य्यस्मान्नजात मेय का उच्चारण गुरु, " नाशयित्रीवलासस्या " में य का उच्चारण लघु तथा "महायइन्द्रो " में य का उच्चारण लघुतर रूप में होता है । इसी प्रकार "व" के गुर्वादि त्रिविध उच्चारण के सम्बन्ध में भी याज्ञवल्क्य शिक्षा[2] में विधान मिलता है । जिसके अनुसार "व" त्रिविध उच्चरित होता है । आदि में विद्यमान होने पर "गुरु" रूप में उच्चरित होता है, यथा- "व्वाचस्पतिम्" तथा "व्वाजाय स्वाहा " में । मध्य में स्थित होने पर " व् " का उच्चारण "लघु " होता है, यथा-" देवस्य चेतत: " में " ष् " का उच्चारण " लघु" रूप में होता है । इसी प्रकार अन्त में होने पर "व्" का उच्चारण लघुतर होता है, यथा-" विष्णव् उरुगाय " में वकार का उच्चारण "लघुतर " रूप में होता है । अन्य शिक्षा-ग्रन्थों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है ।[3] शिक्षाग्रन्थों में "य"

---

1. यवर्णस्त्रिविध: प्रोक्त: गुरुर्ल्लघुर्लघुतर: ।
   आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते तु लघुतर: । याज्ञ0 शि0 156
2. वकारस्त्रिविध: प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघुतर: ।
   आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदयान्ते लघुतर: ।। याज्ञ0 शि0 155
3. वकारस्त्रिविध: प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघुतर: ।
   आदौ गुरुर्ल्लघुर्म्मध्ये पदान्ते च लघुतर: । अमो0 शि0 27, अपि च

तथा , "व्" के गुर्वादि त्रिविध उच्चारण के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट नियमों सम्बन्धी उल्लेख भी मिलते है । याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] में कहा गया है कि पदान्तीय "य्" तथा "व्" वर्ण सन्धिजन्य होने पर या यदि इनके पूर्व कोई उपसर्ग हो तो "लघु" रूप में उच्चरित होता है, तथा " उत्तमास्योषधे, "त्र्यम्बकम्, " संय्यौमि ", संव्व्पामि " इत्यादि में । परन्तु " मा " "स" एव "न" शब्दो के बाद में ये वर्ण विकल्प से अन्तस्थ अर्थात् कभी "लघु" और कभी "लघुतर " रूप में उच्चरित होता है । अन्य शिक्षाग्रन्थों में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है ।[2] याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] तथा प्रातिशाख्य शिक्षा[4] में उल्लेख

+• वकारस्त्रिविध: प्राक्तरेगुरुर्लघुर्लघुतर: ।
आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदस्यान्ते लघुतर: ।। वर्ण० प्र० शि० 28
अथान्त्यस्थान्त:स्थानां परादिमध्यान्तस्य त्रिविधं
वकारस्य अपदादौ मध्ये अन्ते च विद्यमानस्य
यथाक्रमं गुरुमध्यमलघुवृत्तया चोच्चारणम् ।।

{प्रा० प्र० शि०} {शि० सं० 299} अपि च द्र० प्रति सू02}

1• संधिजौ तु पदान्तीयावुपसर्गपरौ लघु ।
अथ मा स न शब्देभ्यो विभाषाकेऽिते यवौ । याज्ञ० शि० 157

2• संधिजौतु पदान्तीयावपसर्गपरौ लघु
अथ मासन शब्देभ्यो विभाषाऽऽम्रेडिते यवौ । प्रा० प्र० शि०} शि०सं०
अपि चद्र० - वर्ण० प्र० शि० 209, ल०मा० शि8-9

वे वां वा वेवि वौ पाठे उपसर्गात्परो लघु: ।
अथ मा स न शब्देभ्यो विभाषाम्रेडिते यवौ० ल०अमो०शि09

3• पंचमादुत्तरोयो वोयदि चैकपदे भवेत् ।
संहितायां लघुसोऽपि पदकाले गुरुर्भवेत् । याज्ञ० शि० 158

मिलता है कि वर्गों के पंचम स्पर्श से पर में विद्यमान " य " तथा " व् " वर्ण " गुरू " रूप में उच्चरित होते हैं । किन्तु संधिजन्य "य्" तथा "व्" का उच्चारण लघु ही होता है । याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] में कहा गया है कि "ह" तथा रेफ से संयुक्त अथवा " ॠ" से पूर्व में आने वाला " य् " वर्ण " गुरू " होता है । इसके अतिरिक्त ध्वनि से संयुक्त होने पर " य " गुरू नहीं होता है, यथा "बाह्य: " तथा " व्यृद्धि " में गुरू है । पाराशरी[2] तथा अमोघनन्दिनी[3] शिक्षाओं में कहा गया है कि " ओ " तथा "अ" की संधि से उद्भूत " व " का उच्चारण लघुतर होता है । यथा " अ ग्नावग्नि: " में । पाराशरी शिक्षा[4] महा गया है कि मन्त्रों में दो ह्रस्व स्वरों के मध्य में आने वाले "य्" तथा "व्" वर्ण केवल लघुतर ही नहीं बल्कि "ह्रस्व" लघु भी होते हैं । यथा- अभियुध्य" में य वर्ण

---

1. हकाररेफसंयुक्तऋवर्णोदय एव वा ।
   सुस्पृष्टं तं विजानीयधकारो नान्ययुग्पदि ।। याज्ञ० शि० ।6।

2. ओकारान्ते पदे पूर्वे अकारे परत: स्थिते ।
   लघुतरं विजानीयादग्नावग्निश्चेति निदर्शनम् । च० पारा० शि० 64

3. ओकारे पदे पूर्वे अकारे परत: स्थिते ।
   लघुतरं च विजानीयादग्नावग्निनिदर्शनम् । अमो० शि० 29

4. आद्यन्तह्रस्वयोर्मध्ये वकारो यत्र दृश्यते ।
   स तु ह्रस्व इति प्रोक्तो भियुध्येति निदर्शनम् । च० पारा० शि० 8।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि "य्" तथा "व्" वर्ण विविध परिवेशों में लघु॥ ह्रस्व॥ लघुतर ॥ दीर्घ॥ तथा गुरु उच्चरित होते हैं ।

इस प्रकार ये सभी उच्चारण विधि छान्दस् हैं । इन उच्चारण नियमों के आधार पर वर्णोच्चारण केवल यजुर्वेद सम्बन्धी शाखाओं में ही होता है, ऋग्वेद सम्बन्धी शाखाओं में इस प्रकार उच्चारणनहीं किया जाता है, बल्कि प्राय: जैसे वर्ण हैं वैसे ही उच्चारण किया जाता है । यद्यपि कि देखा जाय तो इन नियमों के आधार पर भाषाओं में यकार का जकार तथा षकार का खकार उच्चारण करना निर्मूल ही है फिर भी वैदिकोच्चारण के संस्कार वंश इसप्रकार का उच्चारण करना दोषयुक्त कहा जाय या कि अति-शयवेदाभ्याससंस्कार रूप गुण कहा जाय ।

उच्चारणवृत्ति के भेद

वृत्ति शब्द वृत् धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है । जिसका शाब्दिक अर्थ " गति " होता है । इस प्रकार उच्चारणवृत्ति का अर्थ है उच्चारण की गति ।[1] अर्थात् वक्ता कभी तो धीरे- धीरे बोलता है, कभी तीव्र गति से बोलता है तथा कभी मध्यम गति से बोलता है । तै0 प्रा0 तथा कालनिर्णय शिक्षा में मध्यम गति से बोलने को ही मानदण्ड माना गया है ।[2] माध्यमावृति को ही ध्यान में रखकर स्वर, व्यंजन तथा विवृत्ति की

---

1. संस्कृत हिन्दी कोश- वामन शिवराम आप्टे - पृ0 97।
2. मध्यमेन स वाक्यप्रयोग: । तै0 प्रा0 23/18,
   स्वरवर्णविरामाणां भिन्नवाग्वृत्तिवर्तिनाम् । एकरूप्येण कालस्य कथनं नोपपद्यते । मध्यमां वृत्ति माश्रित्य यया चेयं कृति: कृता । प्राति शाख्ये निषिध्यान्ये यस्माद् सैव बोध्यते । - का0नि0शि0 3,4

मात्राकाल निश्चित किया गया है । वाक्य के मात्राकाल का अध्ययन उच्चारण वृत्ति में किया जाता है । काल का निर्धारण अनुमानिक तथा पारम्परिक है । एक ही वाक्य का भिन्न भिन्न वक्ताओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से कियाजाता है । जिसके फलस्वरूप उच्चारण में कालभेद होता है। एक वक्ता किसी वाक्य को कम समय मेंउच्चारण करता है तो दूसरा उसी वाक्य को अपेक्षाकृत अधिक समय में उच्चारण करता है । शिक्षाग्रन्थों में वाक्योच्चारण के क्रमशः ह्रासएवं वृद्धि को ध्यान में रखकर तीन रूपों में विभाजित किया गया है । इस सम्बन्ध में माण्डु की शिक्षा में उल्लेख मिलता है । जिसके अनुसार उच्चारण वृत्ति तीन प्रकार की होती है ।· द्रुता, 2· मध्या तथा 3· बिलम्बित ।[1] भिन्न भिन्न परिवेशों में भिन्न- भिन्न प्रकार से उच्चरित की जाती हैं । इसके समय में याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि वेदाभ्यास करते समय द्रुतावृत्ति से वाक्या का उच्चारण करना चाहिए, प्रयोग के समय में मध्यमा वृत्ति तथा शिष्यों को उपदेश करते समय विलम्बित वृत्ति से वाक्य का उच्चारण करना चाहिए ।[2] अन्य शिक्षाओं में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है ।[3]

1· तिस्रो वृत्तीरनुक्रान्ता द्रुत मध्यविलम्बिता: । माण्डु0 शि0 ।

2· अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ।। याज्ञ0 शि0 54

3· अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिरुपलब्धौ विलम्बिता ।
मध्यमा तु प्रयोगार्थे न तद् वचनमन्यथा ।। माण्डु0 शि0 3

क्रमशः --

उपर्युक्त शिक्षाकारो के कहने का तात्पर्य यह है कि अभ्यासार्थ यानी अपने पाठ को कण्ठस्थ करते समय आवृत्ति हेतु द्रुता वृत्ति का आश्रय ले सकते हैं। अन्यत्र इसे शास्त्रकारो ने निन्दित माना है। इसीप्रकार प्रयोगार्थ यानी कर्मानुष्ठानादि में उच्चारणार्थ मध्यम वृत्ति का आश्रय ले सकते हैं। यद्यपि कि मध्यमा वृत्ति का आश्रय अभ्यासार्थ भी लेने में कोई दोष नहीं है फिर भी आवृति करने में इसके द्वारा समय अधिक लगने के कारण यह अभ्यासार्थ अनुपयुक्त सिद्ध होती है। जब शिष्यों को उपदेश दिया जा रहा हो उस समय उच्चारणार्थ विलम्बित वृत्ति ही आश्रयणीय है। याज्ञवल्क्य शिक्षा के भाष्यकार श्री अमरनाथ शास्त्री ने उपर्युक्त कारिका की व्याख्या में लिखा है, कि द्रुतमध्य तथा विलम्बित वृत्तियाँ संगीत भाषा में भी "दून" "बल्लत" "ठाह" इन रूपों में दृष्टिगोचर होती है[1]। इस प्रकार भाष्यकार ने इनादि गानवृत्तियों

+• अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्। पा० शि० पृ० 30
- लघु पाठ का० 22

अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्। ना० शि० ना०शि०
(शि० स० पृ० 417)

1• याज्ञ० शि० 54 पर अमरनाथ शास्त्रीकृत भाष्य।

का द्रुतादि वृत्ति में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है तथा अपने अभिप्राय की पुष्टि हेतु "रत्नावली" की कारिका "अर्धमात्रे द्रुतं ज्ञेयं द्रुतार्धं चाप्यनुद्रुतम" को प्रमाण प्रस्तुत किया है । परन्तु यह समीचीन नहीं प्रतीत होता क्यों कि गायकों की दुनादि व्यपदेश की जो वृत्ति होती है वह एकापेक्षी होती है तथा दूसरे में दुना अन्तर होता है । परन्तु जो द्रुतमध्य-विलम्बित वृत्ति है वह एकापेक्षी नहीं होती है और दूसरे में दूने का अन्तर-होता है ।

प्रातिशाख्यों में भी वृत्तिव्यवस्था का दर्शन होता है । ऋ० प्रा० में भी शौनक द्वारा उपर्युक्त वृत्तिव्यवस्था प्रतिपादित की गयी है ।[1] "अष्टाध्यायी" के महाभाष्य में भी उपर्युक्त वृत्ति का उल्लेख मिलता है । इस महाभाष्य ने वृत्तिविभाग को वक्ता पर निर्भर माना है । क्यों कि एक ही वाक्य को भिन्न- भिन्न वाक्ताओं के द्वारा उच्चारण होने पर निश्चय ही काल भेद होता है । एक वक्ता किसी वाक्य के उच्चारण में कम समय लगाता है तो दूसरा वक्ता उसी वाक्य के उच्चारण में अपेक्षाकृत अधिक समय लगाता है।[2]

---

1. तिस्रो वृत्तिरुपदिशन्ति वचो विलम्बितां मध्यांश्च द्रुतां च ।
   वृत्त्यन्तरे कर्म विशेषमाहु मात्रा विशेषः प्रतिवृत्त्युपैति । ऋ० प्रा० 13/48
2. अवस्थिता वर्णा द्रुतमध्यविलम्बितासु--- वक्तुश्चिराचिरवचनात्
   वृत्तयो विशिष्यते । वक्तैव कश्चिदाशु अभिधायी भवति आशु
   वर्णानभिधत्ते कश्चिच्चिरेण कश्चित् चिरतरेण तद् यथा तमेवाध्वानं कश्चिद
   चिरेण गच्छति । रथिकः आशुगच्छति आश्विकाश्चिरेण पदातिश्चिरतरेण।
   म० भा० 1·1·70

ध्यातव्य हो कि वह वृत्ति विभाग वक्ता पर ही नहीं, बल्कि वाक्यगत शब्द संयोजना, संयुक्त तथा असंयुक्त ह्रस्व दीर्घ आदि वर्णों का प्रयोग तथा वर्णक्रम पर भी निर्भर करता है। मूलत: संयुक्त तथा असंयुक्त ह्रस्व, दीर्घ वर्णों का प्रयोग तथाशब्दक्रम का परिष्कार जन्य होना यह सब कुछ छन्द-शास्त्र का विषय है। संस्कृत के कुछ छन्दों में उच्चारणगति में तीव्रतातिशय कुछ में विलम्बभूयस्त्व, कुछ में आरोह, कुछ में अवरोह तथा कुछ में आरोहावरोह उभयगुण हैं। गद्यपद्यगति का संयोजन अतिशय अभ्यास एवं परिष्कार से उत्पन्न कवि धर्म है। सामान्य जन द्वारा प्रयुक्त भाषा सहज, सरल स्वाभाविक और लघुवाक्यात्मिका होती है। वस्तुत: जलधारा में चलती हुईसमान गति वाली नाव के समान, अविच्छिन्न तैलधारा की भाँति, वाक्योच्चारण धारा अतिप्रशस्ता मानी गयी है।[1]

सामान्यत: बातचीत में प्राय: मध्यमा वृत्ति का प्रयोग होता है। माण्डूकी शिक्षा ने बातचीत और स्वाध्याय में द्रुता तथा विलम्बिता का निषेध किया है।[2] कालनिर्णय शिक्षा ने भी द्रुता तथा विलम्बिता वृत्तियों

---

1. यथा नैस्त्रोतसां मध्ये समम् गतिसंयुता।
   तैलधारेण वा वक्त्र तद्वर्णान् प्रयोजयेत्। माण्डू० शि० 5।

2. दोषा: प्रकाशास्तु विलम्बितायाम्। वर्णा द्रुतायां न च सुलक्षा:।
   तस्माद् द्रुतांचैव विलम्बितांच त्यक्त्वा नरो मध्यमया प्रयुंजीत।
   माण्डू० शि० 5

का निषेध किया है और लेखन ने मध्यमावृति को ही प्रमाण मानकर वाक्योच्चारण वृत्ति काल का प्रतिपादन किया है।[1] नारदीय शिक्षा[2] में भी तथा माण्डूकी शिक्षा[3] यह कहा गया है कि शिक्षक और शिक्षमाण दोनों को मध्यमावृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। सरस्वतीकण्ठाभरण में छन्दोविचार के प्रसङ्ग में द्रुता विलम्बिता, द्रुतमध्या तथा मध्यबिलम्बिता इन तीन अतिरिक्त मिश्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है।[4] अन्य लौकिक संस्कृत में भी तीन वृत्तियों का उल्लेख मिलता है।[5]

---

1. मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य मया चेय कृति: कृता।
   प्रातिशाख्ये निशिध्येऽन्ये यस्माद् सैवं बाध्यते।
   स्वरवर्णविरामाणां भिन्नवाग्वृतिवर्तिनाम्।
   ऐक्य रूपेण कालस्य कथनं नोपपद्यते ।। का०नि० शि० 3,4
2. आचार्या समिच्छन्ति पदच्छेदं तु पण्डिता:।
   स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विक्रुष्टमितो जना:। ना० शि० § शि० सं०4 04
3. सर्वा एव तु निर्दोष वृतय: समुदाहृता:।
   स्वधीतस्य सुवक्त्रस्य शिक्षकस्य विशेषत:। माण्डू०शि० 6
4. द्रुता विलम्बिता मध्या साथ द्रुतविलम्बिता।
   द्रुतमध्या च विज्ञेया तथा मध्यविलम्बिता। सर० क० 2/22
5. लयस्त्रेधा द्रुतं मध्यं विलम्बितम्, शारदातनय। भा०प्र० 7/60
   द्रुता विलम्बिता मध्या द्रुतमध्यातथापरा।
   गतिर्द्रुतविलम्बा स्याद् षष्ठी मध्यविलम्बिता ।।
   इति गद्यस्य षट्प्रोक्ता गतय: पूर्वसूरिभि:। स०र०प्रबन्ध पृ० 251

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षाग्रन्थों प्रातिशाख्यों एवं लौकिक संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थों में इस बात पर मतैक्य है कि वृत्तियाँ तीन ही होती है-

1. द्रुतावृत्ति 2. मध्यमावृत्ति तथा
3. विलम्बिता वृत्ति ।

द्रुतावृत्ति-

शिक्षाग्रन्थों में इस वृति के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है । इस वृत्ति में असंयुक्त अक्षर, लघु तथा अपरूषअक्षर होते हैं क्योंकि संयुक्त अक्षर दीर्घ एवं परूष अक्षर होने के कारण उच्चारण में समयाधिक्य हो जाता है लघुवर्ण की अधिकताहोने से गति भंग नही होती है, गति की तीव्रता बनी रहती है । द्रुता के मात्रा के सम्बन्ध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है । माण्डू की शिक्षा ने क्रम द्रुता, मध्यमा तथा विलम्बित वृत्तियों के उच्चारण में लगने वाले मात्राकाल का अनुपात 1:2:3 का माना है । अर्थात् प्रत्येक परवर्ती वृत्ति में मात्रा का आधिक्य होता है।[1] ऋ0 प्रा0 में भी ऐसा हीउल्लेख मिलता है । इसके भाष्यकार उवट का कथन है कि द्रुत वृति में जो वर्ण उच्चरित होताहै, वह मध्यम वृत्ति में उच्चरित होने पर उसका तिहाई भाग मात्राकाल अधिक हो जाते हैं, इसी प्रकार मध्यम वृति में जो वर्ण उच्चरित

---

1. तिस्रो वृतीरनुक्रान्ता द्रुतमध्यविलम्बिता:=
   यथाऽऽनुपूर्व प्रथमा द्रुता: पृश्नि: प्रशस्यते ।।
   मध्यैकान्तरा वृत्तिद्यन्तरा हि विलम्बिता ।
   नैनं बुधा: प्रयुंजीत यदीच्छेद्वर्णसम्पदाम् ।। माण्डू0 शि0 2

होते हैं, वे विलम्बित वृत्ति मेंउच्चरित होने पर तिहाई भाग मात्रा काल से अधिक समय लगता है । इस प्रकार इन वृत्तियों के उच्चारण में लगने वाले मात्राकाल का अनुपात 9:12:16 होगा । उवट ने यह भी कहा किकतिपय आचार्य इस अंतर को चौथाई भाग से अधिक मानते हैं ।[2] इस प्रकार उनके अनुसार यह अनुपात 16:20:25 हो जायेगा । ऋ तं0 में इस अनुपात को 3:4:5 माना गया है । इसके अनुसार यदि किसी ऋचा के उच्चारण में मध्यमवृत्ति में 4 मात्रा का समय लगेगा तो उसे द्रुतवृत्ति में उच्चरित करने पर 3 मात्रा का समय लगेगा । इसी प्रकार विलम्बित वृत्ति में उच्चरित करने पर 5 मात्रा का समय लगेगा । इसप्रकार यह स्पष्ट होताहै कि द्रुता में किसी ऋचा का उच्चारण करने पर मात्रा त्रिकल्प अर्थात् तीन मात्रा का समय लगेगा ।[1] उदाहरणार्थ- लीलाशुक कवि रचित गणपतिस्तोत्र का एक श्लोक प्रस्तुत है-

मद जलविलुलितकटतट लिलुठितमधुकरपरिकरमुखरितपरिमल ।

अभिमतवरभर वितरणपरिणतमदकलकरतलगजमुख । जय जय ।।

मध्यमावृत्ति-

मध्यमावृत्ति वाक्योच्चारणार्थप्रशंसनीय मानी गयी है । मध्यमावृत्ति को वर्णों के मात्राकाल निर्धारण के लिए मानदण्ड माना गया है । जैसा कि

---

1. द्रुतायां तिस्रः मात्रा - - - - ।। ऋ0 तं0 31,

काल निर्णय शिक्षा में कहा गया है कि मध्यावृत्ति को ही प्रमाण मानकर वाक्योच्चारण कि मात्रा को निश्चित किया गया है।[1] माण्डूकी शिक्षाकार ने तो यहाँ तक कहा कि द्रुता तथा विलम्बित वृत्तियाँ सदोष है, इसलिए इन वृतियों को छोडकर मनुष्यों को चाहिए कि वे बातचीत में मध्यमावृत्ति का प्रयोग करें।[2] इसी प्रकार नारदीय शिक्षा का भी कहना है कि शिक्षक तथा शिक्षार्थी को मध्यमावृत्ति का प्रयोग करना चाहिए।[3] इस प्रकार मध्यमा अदोष और सर्वसामन्या है। जिसप्रकार सुमत्तगजेन्द्र एक के बाद दूसरा पद सौम्यभाव से रखता है, उसी प्रकार मध्यमा में एक के बाद दूसरा पद उच्चरित होता है।[4] मध्यमा में वर्णस्फुटता सुस्पष्टता और अतिशय सुश्रव्यता रहती है। जिसप्रकार प्रवहमान जलस्रोत में नाव समान गति से

1· मध्यमा वृत्तिमाश्रित्य मया चेयं कृति कृता। प्रातिशाख्ये निषिद्धेऽन्ये- यस्मात् सेव बाध्यते।।। स्वरवर्णविरामाणां भिन्नवाग्वृत्तिवर्तिनाम्। ऐक्य सेण कालस्य कथनं नोपपद्यते। का०नि०शि० 3,4

2· दोषा: प्रकाशास्तु विलम्बितायाम्। वर्णाद्रुतायां न च सुमलशा:। तस्माद् द्रुतांचैव विलम्बितां च त्यक्त्वा नरोमध्यमया प्रयुंजीत।

माण्डू०शि० 5,

3· आचार्या समिच्छन्ति पदच्छेदं तु पण्डिता:।

स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विक्रुष्टमितरे जना:।। ना०शि०{ शि०सं० 404 अपि च० द्र०- याज्ञ शि० 120, माण्डू० शि० 176

4· यथा सुमत्तनागेन्द्र: पादात्पादं निधापयेत्। एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक्पृथक्। याज्ञ० शि० 197

चलती है उसी प्रकार अविच्छिन्न तैल धारा की भाँति वाक्योच्चारण धारा चलती है।[1] जिस प्रकार व्याघ्री ध्वंस के भय से भयभीत होती हुई अपने विशाल दशनों से स्वकीयपुत्रों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है, उसी प्रकार सुधीजन मध्यमा वृत्ति में वर्णों का उच्चारण न अधिक शिथिलतापूर्वक और न अधिक आघात से करते है[2]। इसी प्रकार अन्य शिक्षाओं में भी मध्यमा वृत्ति की प्रशंसा की गयी है।[3] याज्ञवल्क्य शिक्षा तथा माण्डूकी शिक्षा में मध्यमा को ऐन्द्री, विलम्बिता को प्राजापत्या कहा गया है।[4] ऋक्तंत्र में मध्यमा के मात्राकाल के संबंध में कहा गया है, कि मात्रा में चतुष्कला

---

1. यथा नैस्त्रोतसां मध्ये समम् गति संयुता।
   तैल धारेण वा वक्त्र तद्वर्णान् प्रयोजयेत्।। माण्डू० शि० 5।
2. व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभ्यां न च पोडयेत्।
   भीतापतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान्प्रयोजयेत्। याज्ञ० शि० ।95
   अपि च द्र०- ना०शि० 2/7/30 माण्डू० शि० 43, पा०शि० 25 शै०शि०
   व्याघ्री दाद्भिर्हरेत्पुत्रान् भीता पाताच्चपोडनात्।
   तद्वत् प्रयोजयेत् वर्णास्तेन लोके महीयते।। पो०श्लो० शि० ।5
3. मध्यमां वृत्तिमालम्ब्य एवं कालः सुनिश्चितः।
   प्रातिशाख्यादिषु ह्यत्र वृत्तिस्साप्यवलम्बिता।। व्या० शि०
   उपांशु त्वरितं चैव योऽधीते वित्रसन्निव।
   अपि रूपसहस्रेषु सन्देहेष्वेव वर्तते। ना०शि०
4. ऐन्द्री तु मध्यमावृत्तिः प्राजापत्या विलम्बिता।

मात्रा होती है ।[1] मध्यमावृत्ति के उदाहरणस्वरूप उमामहाचार्य द्वारा रचित मातंगीस्तोत्र का एक श्लोक द्रष्टव्य है-

करोदंचद्वीणं कनकदलताऽकनिहित,
स्तनाभ्यामानम्रतरूपमिहिराक्तवसनम् ।
महः कल्याणं तन्मधुमदभराताम्रनयनं,
तमालश्यामं नः स्तवकयतुसौख्यानि सततम् ।।

विलम्बितावृत्ति-

विलम्बिता वृत्ति में स्वरविकर्षणातिशय तथा व्यंजनो में अनुपलक्ष्यता होती है । माण्डुकी शिक्षा तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा[2] में बिलम्बिता को प्राजापत्या कहा गया है । ऋक्तंत्र के मतानुसार विलम्बिता की मात्राकाल पंचकला हो जाती है।[3] वस्तुतः करुण रस में विलम्बिता, अद्भुत रौद्र तथा वीर में परुषपरा संयुक्ताक्षरयुताद्रुतागति हास्य तथा श्रृंगार में कोमल कान्त पदावली कलिता, मध्यमावृत्ति प्रशस्या कही जाती है ।[4] लौकिक संस्कृत साहित्य के

---

1. द्रुतायां तिस्रः मात्रा चतुष्कला मध्यमायां, पंचकला विलम्बितायाम् ।
   ऋ0 तं0 31-33
2. ऐन्द्री तु मध्यमावृत्तिः प्राजापत्या विलम्बिता ।
   अग्निमारुतयोः वृत्तिः सर्वशास्त्रेषु निन्दिता । माण्डु0 शि0 4
   अपि चद्र0 याज्ञ0 शि0
3. द्रुतायां तिस्रः मात्रा चतुष्कला मध्यमायां,
   पंचकला विलम्बितायाम् । ऋ0 तं0 31-33
4. द्रुतमध्यविलम्बितास्त्रयो लयाः रसेषूपादेयाः । क्रमशः

रसराज कालिदास की मन्दाक्रान्ता और शिखरिणी को विलम्बित वृति का पर्याय कहा जा सकता है। विलम्बिता पदस्फुटता, स्वर व्यंजन स्पष्टता अक्षराभिव्यक्ति पदच्छेद तथा माधुर्य से ओतप्रोत होती है। सुधीजन विलम्बिता वृत्ति में उसी प्रकार उच्चारण करते है जिस प्रकार सुमत्त नागेन्द्र एक पद के बाद दूसरा पद रखता है।[1] उदाहरणार्थ कालिदास विरचित "अभिज्ञानशाकुन्तलम्-से मदाक्रान्ता छन्द प्रस्तुत किया जा सकता है -

तन्वीश्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्येक्षामा चकितहरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणी भारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।।

---

* तत्रहास्य श्रृंगार मध्ये मध्योलयःकरूणे विलम्बितो -
वीररौद्रभयानकेषु द्रुत इति। ना0 शा0 पृ0 399

1. यथा सुमत्त नागेन्द्रःपदात्पदं निधापयेत्।
एवं पदं पद्यान्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक्।।
माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्य गुरूलघुत्वं च षडेते पाठक गुणाः।
मधुरं चापि नाव्यक्तं सुव्यक्तं न च पीडितम्।
सनाथस्यैक देशस्यन वर्णसङ्करतां गताः। याज्ञ0 शि0 197- 199

उच्चारणार्थ प्रातरादि सवन व्यवस्था-

शिक्षाग्रन्थों में जिस प्रकार वर्णोच्चारणविषयक तीनवृत्तियों का उल्लेख किया गया है उसी प्रकार मन्द्र, मध्यम तथातारसंज्ञक स्वरों का भी उल्लेख किया गया है । इस सम्बन्ध में वा० प्रा० तथा ऋ० प्रा० में तीन स्थानों का उल्लेख किया गया है । इनमें मन्द्र, मध्यम तथातार इन तीन अवस्थाओं का विधान किया गया है ।[1] तै० प्रा० में कहा गया है कि इन तीनों को क्रमश: उर:, कण्ठ तथा शिर या मूर्धा से उच्चरित करना चाहिए ।[2] वस्तुत: उच्चारणावस्था में जब वायु वक्ता के प्रयत्नसे मूलाधार से उद्भूत होकर उर (हृदय, छाती) प्रदेश में संचरण करती हुई स्वर को उत्पन्न करती है,तो उसे "मन्द्र" कहा जाता है जब वायु, कण्ठदेश में संचरण करती हुई स्वर को निष्पन्न करती है तब उसे "मध्य" कहा जाता है तथा जब वायु शिर (मूर्धा) प्रदेश में संचरण करती हुई स्वर को उत्पन्न करता है तब उसे "तार" स्वर कहा जाता है । जैसा कि पाणिनीय शिक्षा से प्राप्त उद्धरण से स्पष्ट होता है ।[3]

---

1. त्रीणि स्थानानि । वा० प्रा० 1/10
   त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च स्थानान्याहु: सप्त यमानि वाच: ।
   ऋ० प्रा० 13/42

2. उरसि मन्द्र कण्ठेमध्यमं शिरसि तरम् । तै० प्रा० 23/10

3. मारूतस्तुरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
   प्रात: सवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ।।
   कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ।
   तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगतम् ।। पा० शि० 7, 8

जब मन्द्र स्वरसे उच्चारण किया जाता है तो उसमें हृदय प्रदेश में विशेष वायुव्यापार होता है । जब मध्य स्वर से उच्चारण किया जाता है तब कण्ठ देश में वायु का विशेषव्यापार होता है तथा जब तार स्वर से उच्चारण किया जाता है तब शिर अर्थात् मूर्धा प्रदेश में वायु का विशेष व्यापार होताहै ।

वर्णोच्चारण के इन तीन अवस्थाओं के प्रयोग के समय सम्बन्धी विचार भी शिक्षा ग्रन्थों में अत्यन्त रोचक ढंग से किया गया है । पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि प्रात: सवन में मन्द्र स्वर से , माध्यन्दिन सवन में मध्य-स्वर से तथा तृतीयसवन या सायं सवन में तार स्वर से वर्णोच्चारणकरना चाहिए इसका तात्पर्य यह है कि सोमादि यागों में सोमाभिषव कर्म होता है । प्रात:, मध्याह्न तथा सायं । जो कर्म प्रात: किया जाता है उसे प्रात: सवन कहते हो तथा इस समय के सभी कार्य सम्बन्धी मन्त्रों का उच्चारणमन्द्रस्वर में होता है । जो कर्म मध्याह्न में होते हैं उन्हें मध्याह्नसवन कहते हैं तथा इस समय में प्रयुक्त होने वाले सभी मन्त्र मध्यस्वर से उच्चरित होते हैं । इसी प्रकार सायं काल में तृतीय सवन होता है तथा इसमें सभी मन्त्र तारस्वर से उच्चरित होते हैं ।पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि मन्द्र स्वर उसी प्रकार करना चाहिए जिसप्रकार व्याघ्र गम्भीर ध्वनि करता है, मध्यस्वर उसीप्रकार करना चाहिए जिस प्रकार चक्रवाक पक्षी कूंजने करते है तथा जिस प्रकार मयूर हंस अथवा कोकिल बोलता है उसी प्रकार वर्णोच्चारणया मन्त्रोच्चारण कियाजाता है।[1]

---

1. प्रात: पठेन्नित्यमुर: स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।
माध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वकूजितसन्निभेन ।।

माण्डू की शिक्षा[1] तथा तै0 प्रा0[2] में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

उच्चारण गुण -

उच्चारण विधि शिक्षाग्रन्थों का प्रधान विषय होने के कारण प्राय: सभी शिक्षाओं में उच्चारण के गुण, दोष का प्रतिपादन किया गया है। दोष रहित होना ही गुण है। शास्त्रकारो द्वारा उच्चारण की जो नियम रेखा खीचे है वस्तुत: उसका अनतिक्रमण न करना ही गुण है। इस सम्बन्ध में पाणिनीय शिक्षा में उच्चारण सम्बन्धी छ: गुण बताया गया है- 1· माधुर्य 2· अक्षरव्यक्ति 3· पदच्छेद, 4· सुस्वर 5· धैर्य 6· लयसमर्थ[3] इस प्रकार पाठक के माधुर्यादि छ: गुण बताये गये है। माधुर्य का अभिप्राय यह होता है कि श्रवण मात्र से ही श्रोतागण आह्लादित हो उठे। माधुर्य गुण को तो " नारदीय

पिछला फुटनोट- ~~कण्ठे-मध्य-~~

तारन्तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।

मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिर: स्थितेन ।। पा0 शि0 36·37

1· प्रातर्वदेन्नित्यमुर: स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।

मध्यन्दिनेकण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन ।।

तारं तु विद्यात्सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ।

मयूरहंसादिस्वराणां तुल्येन नादेन शिर: स्थितेन ।। माण्डू0 शि0 41,42

2· प्रात: पयेन नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।

मध्यन्दिनेकण्ठगतेन चैव चक्रा वसं कूजितसन्निभेन ।

तारं तु विद्यात्सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्चसदाप्रयोज्यम् ।

मयूरहंसान्यभृतस्वनानां तुल्येन नादेन शिरस्थितेन ।। तै0प्रा0 23/1 पर त्रि0भा0

शिक्षा * ने भी आवश्यक बताया है । स्वभावो पनीतललिलतपदाक्षरगुणसमृद्ध को मधुर कहा गया है । सुस्पष्ट वर्णों के उच्चारण को अक्षरव्यक्ति कहा गया है । पदान्त तथा पदाद्य वर्णों के मध्य विराम पूर्वक उच्चारण को पदच्छेद कहा गया है । जैसा कि " याज्ञवल्क्य " शिक्षा " में कहा गया है कि जिस प्रकार समुत्त मागेन्द्र एक पद के बाद दूसरा पद सौम्यभाव से रखता है उसीप्रकार वाक्योच्चारण या मन्त्रोच्चारण करते समय एक पद के बाद दूसरा पद का सौम्यभाव से उच्चारण करना चाहिए ।[2] उदात्तादि स्वरों का यथाक्रम सन्निवेश अर्थात् स्वरसौष्ठव को सुस्वर कहा गया है । चित को स्थिर करके उच्चारण करना या उच्चारणसमय में चित्त को इधर उधर के व्यापार से नियन्त्रित करने को धैर्य कहा गया है । मन के निर्विकारत्व को ही धैर्य कहा गया है । एक मात्रा का जितना उच्चारण करना चाहिए उतना ही प्रत्येक मात्रा का उच्चारणकरना ही लयसमर्थ कहलाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि किसी वर्ण का उच्चारणमध्यम वृत्ति में, किसी वर्ण का द्रुत वृत्ति में तथा किसी वर्ण का उच्चारणद्रुततर वृति में नही करना चाहिए । जिस वृत्ति में उच्चारण प्रारम्भ करते है उसी में उसका अन्त भी होना चाहिए ।

---

* धैर्य लयसमर्थ च षडेते पाठकगुणा:। पा0 शि0 33

1. गानस्य तु दशविध गुणवृत्तिस्तद्यथा रक्तं पूर्णमलंकृतं
   प्रसन्नं व्यक्तं विक्रुष्टं श्लक्ष्णं समं सुकुमारं मधुरमितिगुणा: ।
   ना0शि0 (शि0 सं0 401)

2. यथा सुमत्तनागेन्द्र: पदात् पदं निधापयेत् ।
   एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक् । याज्ञ0 शि0 147

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मधुरता, वर्णोच्चारण की सुस्पष्टता, पदों का विभाग, सुस्वरता, मन्दगतित्व और लययुक्तता - ये छः वर्णोच्चारण के गुण है ।

इसी प्रकार "पाणिनीय शिक्षा" में और अन्य गुणों का विधान किया गया है । इस शिक्षा में कहा गया है कि अक्षरो का उच्चारण इस प्रकार करें कि वे न तो अस्पष्ट रहे और न पीडित[कर्कश] होवें । अच्छी प्रकार से वर्णों को उच्चारणकरने वाला मनुष्य ब्रह्म लोक में पूजित होताहै । [1] वस्तुतः इसे वर्णोच्चारण का गुण नहीं कहा जा सकता है क्यों कि दोष के अभाव को गुण नहीं माना जाता है बल्कि उत्कर्षाधायकत्व को गुण माना जाता है तथा अपकर्षकत्व को दोष माना जाता है। पाणिनीय शिक्षा के इस कथन में कोई न तो उत्कर्षाधायकत्व है और न हि कोई अपकर्षकत्व है, इसलिए इसे न तो गुण कहा जायेगा और न हि दोष । हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पाणिनीय शिक्षा के इस उल्लेख से सम्यक् उच्चारण के लाभ की जानकारी मिलता है कि अच्छी प्रकार उच्चारण करने वाला देवलोक में प्रशंसनीय स्थान प्राप्त करता है।

---

1. एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिता ।
   सम्यग्वर्ण प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ।।

   पा0 शि0 31

नारदीय शिक्षा में भी गीति के दश गुण का सविस्तार किया है-

1• रक्त 2, पूर्ण, 3• अलंकृत 4• प्रसन्न 5• व्यक्त।

6• विक्रुष्ट 7• श्लक्ष्ण, 8• सम 9• सुकुमार तथा 10• मधुर

वेणुवीणा के स्वरो के एकीभाव को "रक्त" कहा जाता है। स्वरश्रुतिपूरण से तथा छन्दपादाक्षर संयोग से पूर्णता आती है। जिसे "पूर्ण" कहा गया है। शिर तथा मूर्धा में कण्ठ युक्त होने को "अलंकृत" कहा गया है। अपगतगद्गद निर्विशंक होने को "प्रसन्न" कहा गया है।। पदपदार्थप्रकृतिविकार, आगम, लोप, कृत्तद्धित, समास, धातु निपात, उपसर्ग, स्वर, लिंग वृत्ति, वार्तिक तथा विभक्ति प्रभृति वचनो के सम्यक् उपपादन की अभिव्यक्ति को "व्यक्त" कहा गया है। उच्च स्वर से उच्चरित व्यक्त पदाक्षर को "विक्रुष्ट" कहा गया है। अद्भुत अविलम्बित उच्चनीच, प्लुत, समाहार हेलता, लोप नयनादि उपपाद-

---

1• गानस्य तु दश विधा गुणवृत्तिस्तद्यथा-

रक्तं पूर्णमलंकृतं प्रसन्नं व्यक्तं विक्रुष्टं

श्लक्ष्णं समं सुकुमारं मधुरमिति गुणा:।

तत्र रक्तं नाम वेणुवीणा स्वराणामेकीभावे रक्तमिरूच्यते।

पूर्णं नाम स्वरश्रुतिपूरणाच्छन्द: पादाक्षरसंयोगात्पूर्णमित्युच्यते।।

अलंकृतं नामोरसि शिरसि कण्ठयुक्तमित्यलंकृतम्।

प्रसन्नं नामापगतगद्गद निर्विशंकं प्रसन्नमित्युच्यते।।

व्यक्तं नाम पदपदार्थप्रकृतिविकारागमलोपकृत्तद्धित।

समास धातु निपातोपसर्ग स्वरलिंगवृत्तिवार्तिक-

विभक्त्यर्थ वचनानां सम्यगुपपादने व्यक्तं इत्युच्यते।।

विक्रुष्टं नामोच्चाच्चैरूच्चारितं व्यक्तपदाक्षरमिति

विक्रुष्ट।।श्लक्ष्णं नामद्भुतमविलाम्बितमुच्चनीच् - क्रमश: ---

नादि को "श्लक्षण" कहा गया है । आवाप निर्वाप प्रदेशों का प्रत्यन्तर स्थानों का समास "सम्" कहलाता है । मृदपदवर्ण स्वरकुहरणयुक्तता को "सुकुमार कहते हैं । "+स्वभावोपनीत ललितपदाक्षरगुणसमृद्धता मधुर कहलाती है।

शिक्षाग्रन्थों में उपर्युक्त गुणों में से किस गुण का कौन अभिलाषी है । इसका भी ललित शैली में विधान किया गया है । याज्ञवल्क्य तथा माण्डूकी शिक्षा में यह उल्लेख मिलता है कि आचार्य लोग" सम" को चाहते हैं पण्डित जन "पदच्छेद" पदविभाग ॥ को स्त्रियां "मधुर "को तथा अन्य जन "विकृष्ट" नामक गुण को चाहते हैं।। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अध्यापक गण आवापनिर्वाप प्रदेशों का तथा प्रत्यन्तर स्थानो समास रूप "सम् " पाठ का अनुमादन करते हैं । पण्डित जन पदविभाग की इच्छा रखते है स्त्रियों । मधुरपाठ को चाहती है अर्थात् स्त्रियां स्वामाधुर्य को चाहती हैं ।

+. प्लुतसमाहारखेलतालोपनयनादिभिस्सपादनादिभि: श्लक्ष्णम् इत्युच्यते । समं नाम आवापनिर्वापप्रदेशानां प्रत्यन्तरस्थानानां समास: समम् इत्युच्यते । सुकुमार नाम मृदुपदवर्णस्वरकुहरणयुक्तं सुकुमारम् इत्युच्यते । मधुरं नाम स्वभावोपनीतललित पदाक्षरगुणसमृद्धं मधुरमित्युच्यते । ना0 शि0 शि0सं0 40।

।. आचार्या: सममिच्छन्ति पदच्छेदन्तु पण्डिता: ।
स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विकृष्टमितरे जना: । याज्ञ0 शि0 ।20
अपि च द्र0 माण्डू0 शि0 ।76, ना0शि0॥शि0सं0 404 ॥

इसी प्रकार आचार्यादि से अतिरिक्त जन श्रोतागण उच्चस्वरर से उच्चरित व्यक्तपदाक्षर वाले पाठ को चाहते हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त विचारमन्थन से स्पष्ट होता है कि पदोच्चारणार्थ, वाक्योच्चारणार्थ या मन्त्रोच्चारणार्थ अतिप्रशंनीय चारही पाठ है- 1• समपाठ 2• पच्छेद पाठ§ पद- विभाग पाठ§ 3• माधुर्यपाठ तथा 4• विक्रुष्ट पाठ ।

उच्चारण दोष -

शिक्षाग्रन्थों में उच्चारण गुण की भांति उच्चारण दोष से सम्बन्धित उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । " पाणिनीय शिक्षा " में तो उच्चारण-दोष विषयक विधान अत्यन्त स्पष्ट रूप से किया गया है । इसके शिक्षा में + 1• शंकित, 2• भीत, 3• उद्घृष्ट, 4• अव्यक्त 5• अनुनासिक, 6• काकस्वर 7• शिरसि गत, 8• स्थान विवर्जित 9• उपांशु, 10• दष्ट, 11• त्वरित, 12• निरस्त 13• विलम्बित, 14• गद्गदित 15• प्रगीत, 16• निष्पीडित, 17• ग्रस्तपदाक्षर, 18• दीन 19• सानुनास्य इनकी गणना उच्चारण दोष के अन्तर्गत किया गया है ।

1• शंकित का तात्पर्य संयुक्त उच्चारण से है । यह ओकार है अथवा

1• शंकितं भीतिमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसिग तथा स्थान विवर्जितम् ।
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्नदीनं न तु सानुनास्यम् ।

अकार है इस प्रकार का उच्चारण श्रोताओं के लिए सन्देहोत्पादक होते हैं।

2• भीत का अभिप्राय भयसहित उच्चारण से है। भयसहित वर्णोच्चारण करना "भीत" कहलाता है। इस प्रकार का उच्चारण श्रोताओं के लिए शंका उत्पन्न करने वाला होता है।

3• उद्घुष्ट का अर्थ प्रकृष्ट ध्वनि युक्त या उच्चस्वरयुक्त होता है। अर्थात् अपेक्षित ध्वनिसे अधिक ध्वनि से उच्चारण करने से उद्घुष्ट दोष होता है।

4• अव्यक्त का शाब्दिक अर्थ- अस्पष्ट उच्चारण या स्पष्टतारहित उच्चारण होता है।

5• अनुनासिक का तात्पर्य अनुनासिक युक्त से है। अर्थात् अनुनासिक-मय उच्चारण करना परन्तु कहीं कहीं अव्यक्त तथा अनुनासिक को एक दोष माना गया है। इस प्रकार यदि अनुनासिक प्रधान वर्णो का उच्चारण में आई अपेक्षित मात्रा में नासिक व्यापार नहीं किया गया; तो उसका अनुनासिकत्व स्पष्ट नहीं होगा। इस प्रकार अनुनासिकत्व का अव्यक्तत्व दोष कहा जायेगा। इसलिए ये दोनों पृथक् दोष नहीं है बल्कि दोनों एक ही दोष हैं।

6• काकस्वर का शब्दार्थ काक की तरह कर्कश ध्वनि से है अर्थात् कर्णकटु उच्चारण करना।

7• शिरसिगत का तात्पर्य उत्तमांग को पीड़ित करके उच्चारण करने से है।

आवश्यकता की अपेक्षा स्वसामर्थ्य की अपेक्षा से अत्यन्त उच्च स्वर से उच्चारण करने से शिरसिगत दोष आता है ।

8• स्थानविवर्जित का अभिप्राय स्थानभ्रष्ट से है । जिस वर्ण का जहाँ से उच्चारण करना चाहिए वहाँ उच्चारण न करके अन्य स्थान से उच्चारण करने से "स्थानविवर्जित" दोष होता है ।

9• उपांशु का शब्दार्थ "अन्तरमुख उच्चारण" है ।

10• दष्ट का शाब्दिक अर्थ दन्तदर्शन पूर्वक उच्चारण करना है । दाँतों को परस्पर आहत करके उच्चारण करने से "दष्ट" दोष होता है । अर्थात् दन्तघर्षण पूर्वक अथवा ओष्ठदर्शनपूर्वक उच्चारण से "दष्ट" दोष होता है । व्यवहार में इसे दुष्ट दोष कहा जाता है । किसी-किसी आचार्यों ने उपांशुदष्ट दोनों को एक गुण माना है ।[1] परन्तु यह समीचीन प्रतीत नहीं होता है क्योंकि ये शक्ति तथा भीत के सदृश दोनों परस्पर विशेष्य विशेषण भाव युक्त पद साहचर्य से उपांशुदष्ट में भी दोनों परस्पर निरांकांक्ष होने से पृथक् पृथक् दोष है इस दोष का कथन "माण्डुकी शिक्षा" में भी कियागया है।[2]

1• पाणिनीय शिक्षा पर रूद्रप्रसादशर्मा द्वारा लिखित व्याख्या ।

2• दोषा: प्रकाशास्तु विलम्बितायाम् वर्णाद्रुतायाम् न च सुपलक्षा := ।

माण्डु० शि० 5

उपांशु त्वरितम् चैव योऽधीयेऽवत्रसन्निव -

अपि समसहस्त्र संशयेष्वेव वर्तते । माण्डु० शि०

11. त्वरित का तात्पर्य क्षिप्रतापूर्वक उच्चारण करने से है । जिस वर्ण, पद या वाक्य के लिए जितना समय अपेक्षित है उससे कम समय में उच्चारण करने पर " त्वरित " दोष होता है । इस दोष का उल्लेख " माण्डू की शिक्षा " में भी किया गया है ।

12. निरस्त का शब्दार्थ निष्ठुर है । महाभाष्यप्रदीप में कैयट द्वारा इसका स्पष्ट रूप से अर्थ निरस किया गया है । याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी नीरस वचना का दोष कहा गया है । काकस्वर कर्णकटुत्वार्थ है पर यह अर्थ की दृष्टि से नीरस दोष कहलाता है । यद्यपि कि अमरकोष में निरस्त का अर्थ त्वरित किया गया है परन्तु यहाँ पर कैयट द्वारा किया गया नीरसदोष ही स्वीकरणीय है ।

13. विलम्बित का अर्थ " अत्यन्त विलम्ब " से है । अपेक्षित काल की अपेक्षा अधिक समय से उच्चारण करने से " विलम्बित दोष " होता है ।[1] माण्डूकी शिक्षा में इस दोष स्पष्ट उल्लेख किया गया है ।

14. गद्गदित- अर्थात् गद्गद् कण्ठ से या कण्ठावरोधसे उच्चारण करने पर " गद्गदित " दोष होता है । बाष्पादि द्वारा कण्ठावरोध हो जाने से शब्दजनक वायु सम्यक्तया प्रसारित नहीं हो पाती । ऐसी स्थिति में उच्चारण करने पर " गद्गदित " दोष होता है ।

15. प्रगीत अर्थात् " गानपूर्वक " उच्चारण करना " याज्ञवल्क्य शिक्षा में इस प्रकार उच्चारण को मना करते हुए कहा गया है कि शंकर तथा कम्पायम

---

1. दोषाप्रकाशस्तु विलम्बितायाम् । माण्डू० की शि० 5,

मान स्वर से उच्चारण नहीं करना चाहिए। [1] उसे उच्चारण दोष माना गया है।

16. निष्पीडित अर्थात् प्रयत्नाधिक्य से उच्चारण करना। जिसके उच्चारण में जितना प्रयत्न अपेक्षित है उससे अधिक प्रयत्न से उसका उच्चारण करना। ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट ने भी पीडनशब्द का ऐसा ही अर्थ किया है। [2] पीडन तथा निष्पीडित अनर्थान्तर ही है। भाषा में यकार के स्थान पर किसी-किसी द्वारा जकारोच्चारण किया जाता है उसे इसदोष का उदाहरण कहा जा सकता है। जो ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न के यकार के उच्चारण में प्रयत्नाधिक्य में उच्चारण करने पर यकार का जकार के रूप में उच्चारण होता है।

17. ग्रस्तपदाक्षर अर्थात् बीच-बीच में वर्णों को व्यक्त किये बिना ही उच्चारणकरना। पदवर्ण के ग्रास से उच्चारण ग्रस्तपदाक्षर दोष कहलाता है। तत्तत्पद वर्णों के उच्चारण करने की अक्षमता ही तत्तत्वर्णपदग्रास का कारण है। अतिशय शिघ्रता वश उत्पन्न होने के कारण इसका त्वरित दोष के अन्तर्गत अन्तर्भाव हो जाता है।

---

1. नाभ्याहन्यान्न निर्हन्यान्न गायेन्नैव कम्पयेत्। याज्ञ० शि० 2[illegible]
2. विहारसंहारयोर्व्यासपीडने ऋ० प्रा० 14/3

   विहार: विहारणम् विस्तार: संहार: संहरणम् अन्यथाकरणं संकोचं वा। कस्य स्थानं करणयो:। विहारे व्यासो नाम दोषो जायते, संहारे पीडनं च। पीडन द्विभाव:। तावपि परिहर्त्तव्यौ।

   ऋ० प्रा० 14/3 पर उ० भा०

18. दीन का अर्थ दीनतापूर्वक उच्चारण करने से है अर्थात् निरुत्साह पूर्वक वर्णोच्चारण करने से दीन दोष होता है । इसका अभिप्राय यह है कि उच्चारण के समय वक्ता को सोत्साह होना चाहिए । जैसा कि याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी कहा गया है कि जो प्रगल्भ अर्थात् उच्चारण में जिसका सोत्साह हो तथा जो विनीत हो वही वक्ता वर्णों का उच्चारण कर सकता है।[1]

19. सानुनास्य अर्थात् अनुनासिक को भी सानुनासिक करके वर्णोच्चारण नहीं करना चाहिए । अव्यक्त अनुनासिक दोष की व्याख्या के समय इसकी भी व्याख्या की जा चुकी है । अर्थात् ये दोनों एक ही दोष हैं ।

इस प्रकार पाणिनीय शिक्षा में अठारह दोषों की व्याख्या की गयी है। इनमें प्राय: बहुतों में वर्णस्वरूप भंजकता तथा दूषकता के बीज विद्यमान है । इन दोषों में कुछ अनियत हैं, अर्थात् उनमें सर्वत्र दोष ही नही है अपितु कहीं कहीं पर वह गुण भी हो ~~सकता~~ जाता है । इसका भाव यह है कि जिस स्थलविशेष में उसीप्रकार उच्चारण करना शास्त्रीय दृष्टि से विहित है तो वहाँ वह दोष नहीं है । यथा द्रुत और विलम्बित अन्यत्र दोष होता है परन्तु अभ्यास और उपदेश में वह गुण है । जैसा कि याज्ञवल्क्यादि[2] शिक्षा में उल्लेख

---

1. प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति । या0शि0 26

2. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ।। याज्ञ0 शि0 54
अपि च द्र0 - ना0शि0 (शि0 सं0 पृ0 417, पा0 शि0 प्र0 30
अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिरुपलब्धौ विलम्बिता ।
मध्यमा तु प्रयोगार्थे न तद् वचनमन्यथा । माण्डू0शि0 3

किया गया है । इसी प्रकार प्रगीत गीति प्रधान उच्चारण में दोष नहीं होता है, अपितु गुण होता है । इसी प्रकार शोक दैन्य आदि अभिनयों में गद्गदित दीनउच्चारण दोष नहीं होता है बल्कि उसीप्रकार का उच्चारण वहाँ व्यंग्य तथा व्यंजना समर्थ होने से वह गुण ही होता है ।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी चौदह पाठ दोषों का उल्लेख मिलता है।[1] जिनमें प्रारम्भिक सात दोष पाणिनीय शिक्षा में प्रतिपादित प्रारम्भिक सात दोषों के समान ही है । जो दोनों शिक्षाओं में समान रूप से पाये जाते हैं वे इसप्रकार हैं- 1. शंकित 2. भीत, 3. उद्‌धृष्ट, 4. अव्यक्त अनुनासिक 5. काकस्वर 6. शिरसि {मूध मूर्धिनगत} गत तथा 7. स्थान विवर्जित । शेष याज्ञवल्क्य शिक्षानुसार प्रतिपादित दोष इस प्रकार है 8. विस्वर अर्थात् अक्षर होता है, 9. विरस को पाणिनीय शिक्षा का निरस्त दोष समझना चाहिए । 10, विश्लिष्ठ दोष ऋ० प्रा० में विक्लिष्ट शब्द से कहा गया है । जहाँ पर जबड़ो को दूर खींचने पर विक्लिष्ट दोष बतलाया गया है ।[2] प्रकर्षण का अर्थ है सब ओर चलना तथा विक्लिष्ट का अर्थ

---

1. शंकित भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
   काकस्वरं मुर्ध्निगतं तथा स्थानविवर्जितम् ।।
   विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् ।
   व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश । याज्ञ० शि० 26, 27
2. प्रकर्षणे तद् विक्लिष्टमाहु: । ऋ० प्रा० 14/7

है असंयुक्त या न मिलनाया दूर खीच लेना । ।1· विषमाहत का अभिप्राय है स्वर वर्णों का मात्राओं के अनुसार उच्चारणन करना; । जैसा कि ऋ० प्रा० में उल्लेख किया गया है कि मात्राओं के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत स्वर वर्णों का मात्राओं के अनुसार उच्चारणन करना दोष है । प्राय: दीर्घ स्वर वर्णों में और अनुनासिक ह्रस्व स्वरवर्णों में मात्रा का आधिक्य करते हैं ।[2] ।2· व्याकुल का अभिप्राय है चित्तविपेक्ष आदि के कारण स्वर वर्णों का वैषम्य उच्चारण करना । जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में स्वर और वर्ण से हीन मन्त्रों का उच्चारण अभीप्सित अर्थ के प्रदान करने वाला नहीं होता है- का उल्लेख किया है ।[3] ।3ताल हीन का अभिप्राय है मधुरता और वर्णोच्चारण की स्पष्टता पदो का विभाग, सुस्वरता मन्दगति और लयपद्धता से हीन उच्चारण करना । जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में उल्लेख मिलता है ।[4] इसी प्रकार

1· अयथामात्रं चयनं स्वराणाम् । ऋ० प्रा० ।4/10

2· यथामात्रम् ह्रस्वदीर्घप्लुतोनामयथामात्रोच्चारणं दोषो भवति । प्रायेण दीर्घेषु ह्रस्वेषु च रक्तेषु मात्राधिक्यं कुर्वन्ति । ऋ० प्रा० ।4/10 पर उ०भा०

3· मन्त्रोहीन: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । पा०शि०52 अपि च द्र० ना० शि० § शि० सं० पृ० 395§ म०शा०शि० 6 माध्य शि०। अमो शि० ।22

4· माधुर्यमक्षरव्यक्ति: पदच्छेदस्तु सुस्वर: ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणा: । पा० शि० 33,
इन गुणो से हीनउच्चारण को " तालहीन " कहते हैं ।

नारदीयशिक्षा में भी गीतिदोष के रूप में उच्चारण सम्बन्धी चौदह दोषों का उल्लेख किया गया है।[1] इसीप्रकार माण्डुकी शिक्षा में भी उच्चारण दोषों से सम्बन्धित उल्लेख मिलता है।[2]

पाणिनीय शिक्षा में छः अधम पाठकों का उल्लेख किया गया है। जिसे दोष अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है। इस शिक्षा में कहा गया है कि गानपूर्वक, त्वरा से (जल्दबाजी में) शिर कंपाते हुए, स्वलिखित, अर्थज्ञान-रहित और अल्पयस्त पाठ को पढ़ने वाले ये छः पाठक अधम होते हैं।[3] याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[4] इसी प्रकार माण्डुकी शिक्षा में भी उल्लेख किया गया है।[5] नारदीय शिक्षा में भी कहा गया है कि

---

1. शंकित भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
   काकस्वरं शिरसिगतं तथा स्थानविवर्जितम्।।
   विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्।
   व्याकुलतां तालुहीनं च गीतिदोषाश्चतुर्दश। ना० शि० (शि० सं० पृ० 404)

2. ब्रुवन् भ्रुवौ कर्णलताटनासिका न कम्पयेदोष्ठचुलुर्न निभुजेत्।
   मुखं न विक्लिश्य न म नागनवक्त्रजो न चापि सन्दष्टहनुर्न बाह्यवाक्।
   न रूक्षवाक्स्यान्न च उतस्वरं वदेन्न चानिमेषो न च गर्वमाचरेत्।
   गजव्ययेषी बलवानतन्द्रितो व्यपेतरोषश्रमशोकहर्षभी:।
   नचानुकुर्वेत् पदमादितो ब्रुवन्न नासिकानित्यमनुष्ठितं वदेत्।
   नचापदान्ते श्रमपीडित: श्वसेत् न चोच्छ्वसेदुक्तपदोऽप्यभीक्ष्णश:।।

   माण्डु० शि० 130-132

3. गीति शीघ्री शिर: कम्पी तथा लिखितपाठक:।
   अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमा:।। पा०शि० 32.

गुरु के विना पुस्तक पढ़ने से भी दोष होता है जिसप्रकार हस्तलिखित पाठ करने से होता है।[1] इसीप्रकार अमोघानन्दिनी शिक्षा में भी कहा गया है कि अर्थ का विना ज्ञान किये वर्णोच्चारणकरना भी दोष है[2]। इस प्रकार पाठक की अक्षमता सिद्ध होती है। जितना उच्चस्वर से उच्चारण अपेक्षित है उतना उच्च स्वर से उच्चारण न करना दोष है। इसीप्रकार ऋ० प्रा० के चौदहवें पटल में उच्चारण दोषों का सविस्तारउल्लेख मिलता है। इसप्रकारइन दोषों के सुधार से वर्णो के स्वरूप शब्द के स्वरूप तथा भाषा क स्वरूप में परिवर्तन सम्भव है। इस प्रकार ध्वनिपरिवर्तन प्रवृत्ति में एक भाषा और अनेक अपभ्रंश भाषाओं के प्रवृत्ति में इन दोषों का महत्वपूर्ण स्थान है।

---

4. - - - -न गायेन न च कम्पयेत्।
यथादावुच्चारेद्वर्णास्तथैवेतान्तस्मापयेत् ।।

याज्ञ० शि० 21, 22

5. ब्रुवन् भ्रुवौ कर्णललाटनासिका न कम्पयेदोष्ठचुलुर्नभ्रिजित्।

माण्डू०शि० 130

----

1. पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ ।
न शोभन्ते सभामध्ये जारगर्भा इव स्त्रिय: ।।

ना०शि० (शि०सं० पृ० 447) अपि च द्रअमो० शि०।।९

2. यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तद् ज्वलति कर्हिचित्।
स्थाणुर भारहार: किलाभूत ।

'याज्ञवल्क्य शिक्षा" में वर्णोच्चारण में सक्षम व्यक्ति के पहचान की सम्यक्तया विचार किया गया है। इस शिक्षा में कहा गया है कि जिसका शरीर तथा मन: स्वास्थ्य सुखवाह हो, जिसके दन्तोष्ठ शोभनीय हो अर्थात् वर्णोच्चारणार्थ समर्थ हो, जोवर्गोच्चारण में सोत्साह हो, वही उच्चारण में समर्थ हो सकता है।[1] इसी प्रकार "पाणिनीय शिक्षा" में भी कहा गया है कि आत्मा अपने में संस्थित घट- पटादि पदार्थों को बौद्धिक रूप से एकत्रित कर बोलने की अभिलाषा से मनसे समन्वित होताहै अर्थात् उसको प्रेरित करता है वह मन जठराग्नि को आहत करताहै और वह जठराग्नि प्राणवायु को समुत्तेजित करता है। इसी प्रकार नारदीय शिक्षा में चित्त की एकाग्रता कोउच्चारणार्थ आवश्यक बताया गया है।[3] इस प्रकार स्वाध्याय में चित्त एक होने से, भ्रान्तिरहित होने से, अत्यन्त अविलम्ब शब्दोच्चारण होने से, अविकृत दन्तोष्ठहोने से रमणीयशब्द उच्चरित होते हैं।

1• प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ।
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ।। याज्ञ0शि0 25अपिचद्र0-माण्डू0 शि0 157

2• आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन: कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारूतम् ।। पा0 शि0 6

3• एकचित्तो निरून्नतिस्तांतगानविवर्जित:।
स तु वर्णान्प्रयुञ्जीत दन्तोष्ठ यस्य शोभनम् ।। ना0शि0 {शि0सं0पृ0 445}

दशमअध्याय

संयोग-विषयक उच्चारण वैशिष्ट्य

दो या दो से अधिक व्यंजनों के परस्पर मेल को "संयोग" कहा गया है। संयोगस्थ व्यंजनों के उच्चारण कुछ विशेष स्थितियों में कुछ विशिष्ट प्रकार का होता है। कभी उच्चार्यमाण दोनों व्यंजनों के मध्य में किसी अतिरिक्त व्यंजन का आगम हो जाता है तथा कभी उन दोनों में से किसी के उच्चारण में किंचिद्विकार आ जाता है। उच्चारण में उत्पन्न वैशिष्ट्यों को शिक्षाकार प्रातिशाख्यकार एवं अर्वाचीन भाषाविदों ने "अङ्गुङ्गु," "रंङ्ग", "अभिनिधान" "यम," "स्वरभक्ति," "ध्रुव, "स्फोटन" तथा "द्वित्व" आदि नामों से कहा है।

1. संयोग -

"सम्" उपसर्ग पूर्वक "युज्" धातु से "घञ्" प्रत्यय के योग से संयोग शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका तात्पर्य "मेल" से है। सर्वप्रथम इस पद का प्रयोग गोपथब्राह्मण में मूल अर्थ में हुआ है।[1] शिक्षाग्रन्थों में संयोग के लिए "पिण्ड" शब्द का प्रयोग, किया गया है।[2] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में संयोग को "घनबन्धा" अर्थात् अत्यन्त मजबूती से मिला हुआ कहा गया है।[3]

---

1. कतिपदः कः संयोगः ----- ।। गो0 ब्रा0 1·1·24
2. अथसप्तविधाः संयोगपिण्डाः । याज्ञ0 शि0 202
3. अपिण्डेन ते तुल्याः घनबन्धाः प्रकीर्तिताः ।। व0र0प्र0शि0 176

प्रातिशाख्यों में व्यंजनसन्निपात[1], व्यंजनसंगम[1] एवं व्यंजनसंघात[2] को संयोग कहा गया है। सन्निपात, संगम तथा संघात का तात्पर्य "मेल" ही है। वस्तुतः दो या दो से अधिक व्यंजनों के अव्यवहित मेल को "संयोग" कहते हैं।[3] तैत्तिरीयप्रातिशाख्यों के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार के मतानुसार दो अथवा बहुत व्यंजनों का [संघात, समूह] संयोग होता है।[4] अन्य प्रातिशाख्यों में स्वर के द्वारा अव्यवहित व्यंजनों को संयोग कहा गया है।[5] यथा-पक्ववम्

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जब दो या दो से अधिक व्यंजन, बिना किसी स्वर वर्ण के व्यवधान, परस्पर संयुक्त होते हैं तो उन व्यंजनो को "संयोग" कहा जाता है। संयुक्त होते हैं तो व्यंजनों को "संयोग" कहा जाता है सयुक्त होने वाले व्यंजनों में प्रत्ये वर्ण को संयोग नहीं कहा जाता बल्कि संयुक्त होने वाले व्यंजनों के पूरे समुदाय को "संयोग" कहा जाता है। संयुक्त होने वाला प्रत्येक वर्ण "संयुक्त" वर्ण कहलाता है।

---

1. संयोगस्तु व्यंजनसन्निपातः। ऋ० प्रा० 1/37

   संयोगं विद्याद्व्यंजन संगमम्। अ० प्रा० 18/40

2. संयोगो व्यंजनसंघात। तै० प्रा० 21 / 4 पर वै०भ०

3. स्वराव्यवहितव्यंजनसमूहः संयोगः व्यंजनं यत्रोपर्युपरिसंयुक्तं तत्संयोग संज्ञं भवति। गो० शि०

   हलोऽनन्तराः संयोगः। पा० सू० 1·1·7

4. द्वयोर्बहूनां वा संयोगो भवति। तै० प्रा० 21/4 परि त्रि० भा०

   संयोगो व्यंजनसंघात। तै० प्रा० 21/4 पर वै० भ०

शिक्षाओं में संयोग को " पिण्ड " शब्द से अभिहित किया है तथा उसे सात प्रकार माना है[1]-

1. अय: पिण्ड-

"अय:" का तात्पर्य होता है लोहा तथा " पिण्ड " का तात्पर्य गोला अर्थात् जिस प्रकार लोहे के पिण्ड को सरलता पूर्वक नहीं तोड़ा जा सकता उसी प्रकार उस व्यंजन संयोग को सरलता से अलग अलग करके उच्चारित नहीं किया जा सकता। इसलिए वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में उस " संयोग " को "घनबन्धा:" कहा है।[2] जिसका तात्पर्य होता अत्यन्त मजबूती से मिला हुआ। जब किसी व्यंजन संयोग में पूर्ववर्ती वर्ण किसी भी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ स्पर्श में से कोई वर्ण हो तथा द्वितीय वर्ण किसीभी वर्ग का पंचम वर्ण हो, तो इस प्रकार के संयोग को "अय: " पिण्ड कहा गया है।

2. दारू-पिण्ड-

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में इस प्रकार के संयोग को "श्लथबन्द" कहा गया है[3]। जिसका तात्पर्य "ढीला बन्धन वाला संयोग" से है। इस संयोग

+. अनन्तरं अव्यवहितं व्यंजनं व्यंजनेन सह संयोगसंज्ञं भवति। तद्यथा पक्वम् कितिकितिविति। वा0 प्रा0 1/48 पर उवट भाष्य व्यंजनानि अव्यवेतानि स्वरै:संयोग:। च0अ0 1/98 सयुक् सप्। ऋ0 तं0 27

1. अथ सप्तविधा: संयोगपिण्डा: अय: पिण्डो, दारूपिण्ड, ऊर्णापिण्डो, ज्वालापिण्डो, मृत्पिण्डो, वायुपिण्डो, वज्रपिण्डश्चेति। या0शि0 90

2. स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वारो ये समा: स्मृता:। अयस्पिण्डेन ते तुल्या: घनबन्धा: प्रकीर्तिता:। व0र0प्र0शि0 176

3. स्पर्श: पंचमा ये च अन्तस्थाभिश्च संयुता:। दारूपिण्डेन ते तुल्या:

को सरलता पूर्वक तोडा जा सकता है अर्थात् जिस संयोग को सरलता पूर्वक पृथक्- पृथक् करके उच्चरित किया जा सकता है । इसमें स्पर्श तथा अन्तस्था वर्ण के संयोग में दोनों वर्णों को पृथक्- पृथक् उच्चरित किया जा सकता है । जिस व्यन्जन- संयोग में पूर्व वर्ण उपन्चम स्पर्श हो, तथा परवर्ती वर्ण कोई अन्तस्थ हो, उसे " दारूपिण्ड" कहा गया है । यथा- वल्क्य: में ककार तथी यकार को सरलता पूर्वक पृथक् करके उच्चरित किया जा सकता है ।

3• ज्वाला-पिण्ड-

जिस प्रकार अग्नि एक वस्तु से दूसरी वस्तु में अतिशीघ्र व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संयोग में नासिक्य ध्वनि की नासिक्यता समीपवर्ती वर्णों में तीव्रता से व्याप्त हो जाती है । वर्णरत्नप्रदीपिको शिक्षा में नासिक्य वर्ण से युक्त संयोग को " ज्वालापिण्ड" के समान कहा गया है।[1] यथा- ब्रह्मन् में नासिक्य के प्रभाव से हकार भी अनुनासिकता को प्राप्त हो जाता है ।

4•उर्ण-पिण्ड-

जिस प्रकार ऊन के गोले में ऊन का प्रत्येक तागा एक- दूसरे से पृथक रहता है उसी प्रकार संघर्षी वर्ण नासिक्य वर्ण से पृथक् रहता है, उनमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता है । जब संघर्षी वर्ण के साथ नासिक्य वर्ण का संयोग होता है तो उसे"उर्णपिण्ड" केसमान कहा जाता है।[2] यथा- अश्मन्।

1• ज्वालापिण्डान्सनासिक्यान् । या० शि० 93

2• अन्तस्थयमवर्ज तु उर्णापिण्डंविनिर्दिशेद् । या०शि० 91।

5. मृत्पिण्ड-

अनुस्वार से युक्त संयोग को "मृत्पिण्ड" के समान कहा जाता है।[1] यथा- यामेरयं चन्द्रमसि।

6. वायुपिण्ड-

उपध्मानीय से युक्त संयोग को "वायुपिण्ड" के समान कहा जाता है।[2] यथा द्यौ ≍ पिता।

7. वज्रपिण्ड-

जिह्वामूलीय से युक्त संयोग को व्रजपिण्ड के सदृश कहा गया है।[3] यथा- या ≍ कामयेत्।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संयोग सात प्रकार का होता है, जिसमें अन्तिम तीन प्रकार के संयोग अत्यधिक शिथिल होते हैं। इनमें पूर्ववर्ती वर्ण अपने परवर्ती वर्ण से किसी प्रकार प्रभावित नही होता है। मृत्पिण्ड अन्य संयोगो की अपेक्षा कम शिथिल होता है। क्यों कि यह अनुस्वारवर्णयुक्त होने के कारण, उसके उच्चारण करते समय नासिक्य ध्वनि अपने समीपवर्ती वर्ण को आंशिक रूप से प्रभावित करती है।

संयोग के विषय में विचार करने के उपरान्त अब शिक्षाग्रन्थों में प्राप्त होने वाले संयोग विषयक उच्चारण वैशिष्ट्यों के विषय में विशद विवेचन किया जा रहा है-

---

1. सानुस्वारां स्तु मृण्मयान्। या० शि० 93
2. सोपध्मान् वायुपिण्डान्। या० शि० 93
3. जिह्वामूले तु वज्रिण:। या० शि० 93

स्वरभक्ति

शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में " स्वरभक्ति" का सुसम्यक् प्रतिपादन किया गया है । स्वरोपहित रेफ को ऊष्मवर्ण से संयोग होने पर ऋकारसम "स्वरभक्ति" का आगम होता है।" इसलिए यह एक प्रकार का "स्वरागम" है । यह "स्वर " और " भक्ति" दो शब्दों के योग से बना है। "स्वरभक्ति" की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है-

1. स्वरभक्ति" का शब्दार्थ है- स्वर के भक्ति अर्थात् अंश या भाग । "ह्रस्व" स्वर भी एक मात्राकाल वाला होता है परन्तु "स्वरभक्ति" ह्रस्वस्वर भाग या अंश ही होता है । इसलिए स्वर की " भक्ति" या भाग होने के कारण ही उसे "स्वरभक्ति" कहते हैं । ऋ0 प्रा0 के भाष्यकार उवटने से "स्वर का प्रकार" बताया है।[1] तै0 प्रा0 पर वैदिकाभरण भाष्य में कहा गया है कि " भक्ति" का अर्थ है " धर्म" क्यों कि यह प्राप्त किया जाता है । "स्वर " के समान " भक्ति" है जिसकी वह स्वर- धर्म वाली " स्वर भक्ति" कही जाती है ।[2] त्रिभाष्यरत्न में भी कहा गया है कि " स्वर " की भक्ति

---

1. स्वरभक्ति: स्वरप्रकार इत्यर्थ: । ऋ प्रा0 32 पर उ0 भा0
2. भज्यत इति भक्ति धर्म: । स्वरस्येव भक्तिर्यस्य तथोक्त: । स्वर धर्मो भवतीति यावत् । तै0 प्रा0 ‖ वै0 भा0 21/15

0.

"स्वरभक्ति" है । जो इस रेफ का समान "करण" वाला "स्वर" है उसकी भक्ति होती है और ऋकार ही, जिह्वा के अग्रभाग के "करण" होने से तथा रेफ के समान सुनाई पड़ने से रेफ के समान धर्मवाला है । "भक्ति" का अर्थ है अवयव, अथवा एकदेश ।[1]

1. स्वरभक्ति का शाब्दिक अर्थ है- स्वर के द्वारा विभक्त किया हुआ । "भक्ति" शब्द" विभक्त करना अर्थ वाली "भज्" (सम्भक्तौ" धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है । यदि रेफ या लकार के बाद में "व्यंजन" वर्ण आये तो रेफया लकार का उच्चारण उचित रीति से नहीं किया जा सकता है । इस असुविधा को दूर करने के लिए उन संयुक्त व्यंजनों की कुछ विशेष परिस्थितियों में एक अति "ह्रस्व" स्वर" का आगम होता है जिससे संयोग" को प्राप्त "व्यंजन" दो भागों में बँट जाते हैं । अस्तु संयुक्त व्यंजन को दो भागों में विभक्त करने के कारण इस "अतिह्रस्वस्वरागम" को "स्वरभक्ति" कहा जाता है ।

स्वरभक्ति एवं उसका उच्चारण

शिक्षाग्रन्थों[2] में ही नहीं अपितु प्रातिशाख्यों[3] में भी "स्वरभक्ति" का

---

1. स्वरस्य भक्तिः स्वरभक्तिः । योऽयस्यरेफस्य समानकरणः स्वर तद् भक्तिः स्यात् । ऋकारश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन रश्रुत्या च समानधर्मः । भक्ति अवयव एकदेश इति । तै० प्रा० (21)

2. रलाभ्यां पर ऊष्माणो यत्र स्युः स्वरितोदयाः ।

क्रमशः ----

सुसम्यक् प्रतिपादन किया गया है। "याज्ञवल्क्य" शिक्षा में "स्वरभक्ति" के सम्बन्ध में नियम का विधान करते हुए कहा गया है कि जहाँ पर रेफ और लकार के बाद स्वरपरक ऊष्म वर्ण हों, वहाँ पर ऊष्म- वर्ण और उस रेफ या लकार के बाद उसी रेफ या लकार के स्वरूप वाली स्वरभक्ति का उच्चारण होता है। [1] इसी प्रकार "वर्णरत्नप्रदीपिका" शिक्षा में भी उल्लेख

+• स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्यपठ्यते। याज्ञ० शि० 102

रेफो वा थलकारो वा यत्रोष्मणि स्वरोदये।

स्वरभक्तिर्भवेत्तत्र पूर्व्वमाक्रम्य पठ्यते।। व०र०प्र०शि० 53

अपि चन्द्र० प्र० प्र०शि० 5

ऊष्मस्थौ यत्र दृश्येते स्वरवर्णौ स्वरोदयौ।

स्वर्णौ तथा ज्ञेयौ स्वर भक्ति इति संस्थितौ। माण्ड० शि० 11

रेफो रेफत्वमाप्नोति शषहेषु परेषु च।

दर्शं वर्षो अर्हच्च संयुयोगे नैव कारयेत्।।

लकारो अपि च सावण्यादिकारसदृशो भवेत्।

शतवल्शा अपि च वल्हा च तत्र तावदुदाहृतिः।।

द्वि० माण्ड० शि० 10- 12

3• रूपात्स्वरोपहितात्व्यंजनोदयादृकारवर्णा स्वरभक्तिस्तरा। ऋ०प्र०

रेफोष्मसंयोगे रेफस्स्वरभक्तिः। तै० प्रा० 21/15

रलावृलृवर्णाभ्यामृष्मणि स्वरोदये सर्वत्र। वा० प्रा० 4/1

रफादूष्मणि स्वरे परे----- । अ० प्रा० 1/12

1• रलाभ्यां पर ऊष्माणो यत्र स्युः स्वरितोदयाः।
स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते। याज्ञ० शि० 102

मिलता है जहाँ रेफ और लकार से पर ऊष्म वर्ण होते हैं और ऊष्म वर्ण से पर स्वर होते हैं, वहाँ अतिह्रस्वस्वरागम रूप "स्वरभक्ति" होती है।[1] इसी प्रकार "प्रातिशाख्यप्रदीप" शिक्षा में भी स्वर परक ऊष्म- वर्ण बाद में होने पर ही पूर्ववर्ती रेफ का लकार के पश्चात् स्वरभक्ति का उच्चारण होता है।[2] यथा देवम्बर्हि शतवल्शा:, उपबल्हामसि वर्षो वर्षीयं, गार्हपत्य:, अर्शि उपचितामसि, वेर्होत्रम्, सवितुर्हवामहे, चर्षणीधृत:, एता अर्षन्ति, सहस्रशीर्षा पुरुष: इत्यादि। "माण्डूकी" शिक्षा में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[3]

उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट होता है कि शिक्षाग्रन्थों ने सर्वसम्मत से स्वीकार किया है कि रेफ और लकार के बाद स्वरपरक ऊष्म वर्ण होने पर ऊष्म वर्ण और रेफया लकार के बाद स्वरभक्ति का उच्चारण होता है। परन्तु प्रातिशाख्यों में इस सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। ऋ० प्रा० के मतानुसार स्वर वर्ण पूर्व में हो तथा व्यंजन वर्ण बाद में हो वे जिसके ऐसे

---

1. रेफो वा अथ लकारो वा यत्रोष्मणि स्वरोदये।
   स्वरभक्ति भवितत्र पूर्वमाक्रम्य पठ्यते। व०र०प्र०शि० 53
2. रकारो अथ लकारो वा यत्रोष्मणि स्वरोदये।
   स्वरभक्ति भवेत्तत्र पूर्व्वमाक्रम्य पठ्यते। प्रा० प्र० शि० 5
3. ऋलृवर्णो तथा ज्ञेयो स्वरभक्तिति संस्थितो।
   ऊष्मसु यत्र दृश्यते स्वरवर्णो स्वरोदयो।
   माण्डू० शि० 99

रेफ से बाद में अवर्णात्मक " स्वरभक्ति " उत्पन्न होती है ।[1] यथा- कर्हि" में रेफ से पूर्व स्वर वर्ण अकार है एवं व्यंजन वर्ण हकार बाद में है । इसलिए रेफ के बाद में अवर्णात्मक " स्वरभक्ति " का उच्चारण होता है जिससे "कर्हि" का उच्चारण " कर अहि " के रूप में होता है । आचार्य शौनक कहते हैं कि सघोष अभिनिधान के बाद में भी स्वर भक्ति उत्पन्न होती है, यदि बाद में स्पर्श या ऊष्म वर्ण हो ।[2] यथा- " अर्वाग् देवा: ", में सघोष व्यंजन गकार के " अभिनिधान " के बाद में " स्वर भक्ति " उत्पन्न हुई है । ऋ० प्रा० में सूत्रकार ने केवल रेफ के बाद में ही " स्वरभक्ति " का विधान किया है । कहीं भी लकार के बाद स्वर भक्ति का विधान नहीं किया है, किन्तु भाष्यकार उवट ने ऋ० प्रा० के भाष्य में एक स्थल पर " स्वरभक्ति " के उदाहरण के रूप में " जल्हव: " पद को प्रस्तुत किया है ।[3] एक अन्य स्थल पर उवट लिखते हैं कि " स्वरभक्ति " रेफ या लकार दोनों के बाद होती है । रेफ के बाद रेफ सदृश तथा लकार के बाद लकार सदृश स्वरभक्ति होती है[4]। इसी प्रकार

---

1. रेफात्स्वरोपाहितादृव्यंजनोदयादृकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा ।

   ऋ० प्रा० 6/46

2. विच्छेदात्स्पर्शोष्मपराच्च घोषिण: । ऋ० प्रा० 6/47

3. ऋ० प्रा० 6/52 पर उ०भा० द्रष्टव्य है ।

4. सा स्वरभक्ति: पूर्वं रेफं लकारं वा भजते । रेफादुत्तरा रेफसदृशी भवति लकारादुत्तरा लकारसदृशी भवति । ऋ० प्रा० 1/32 पर उ०भा०

वा० प्रा० में भी उल्लेख मिलता है कि स्वर के बाद में ऊष्म वर्ण हो तथा स्वर वर्ण ऊष्म वर्ण के बाद में हो तो सर्वत्र ऋवर्ण तथा लृवर्ण के सदृश स्वर भक्ति का आगम होता है।[1] परन्तु तै० प्रा० में केवल रेफ के बाद "स्वरभक्ति" का विधान मिलता है।[2] इसी प्रकार च०अ० में भी केवल रेफ के बाद "स्वरभक्ति" का विधान किया गया है।[3] परन्तु ऊष्मवर्ण का द्वित्व होने पर तथा ऊष्मवर्ण के पश्चात् किसी भी वर्ग प्रथम स्पर्श होने पर उनके मध्य में स्वरभक्ति नहीं होती है प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा के मतानुसार ऊष्म वर्ण का द्वित्व होने पर "स्वरभक्ति" नहीं होती है।[4] यथा "हार्षीत्"। इसी प्रकार वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी विधान मिलता है। कि ऊष्म वर्ण का दित्व होने पर "स्वरभक्ति" नहीं होती है।[5] इसी

---

1. रत्नावृलृवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र। वा० प्रा० 4/17
2. रेफोष्मसंयोगे रेफस्वर भक्तिः। तै० प्रा० 21/15
3. रेफादूष्मणि स्वर परे स्वरभक्तिः। - - - - -।।

   च० अ० 1/101
4. ऊष्माणां स्वरभक्तिस्तु द्विभावं बाधते यथा।
   वर्षो वर्षीयसि ह्वार्षीच्छतवल्शोऽपि सिध्यति। प्रा० प्र० शि० -6
5. ऊष्माणां स्वर भक्तिस्तु द्विभावं बाधते यथा। वर्षो-वर्षीयसि
   व्वर्षो व्वर्षीयासि ह्वार्षीच्छतबल्शोऽपि सिध्यति।

   व०र०प्र०शि० 55

प्रकार तै० प्रा० में भी यह विधान मिलता है कि ऊष्मवर्ण का द्वित्व होने पर तथा ऊष्मवर्ण के पश्चात् किसी भी वर्ग का प्रथम- स्पर्श होने पर इनके मध्य में " स्वर भक्ति " नहीं होती है ।[1]

" स्वरभक्ति " के उच्चारण के सम्बन्ध में शिक्षाग्रन्थों तथा प्राति-शाख्यो के मत में पर्याप्त भिन्नता है क्यों कि वेदों की विभिन्न शाखाओं में स्वरभक्ति का उच्चारण विभिन्न प्रकार से किया जाता है । " लोमशी " शिक्षा के अनुसार स्वर भक्ति का उच्चारण "अ" के समान किया जाना चाहिए। परन्तु माण्डूकी शिक्षा इसका स्पष्ट निषेध करती है क्यों कि ये स्वरभक्ति के अकार, उकार रूपोच्चारण को सदोष मानती है ।[3] इसीप्रकार याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी स्पष्टत: बताया गया है कि स्वर भक्ति का प्रयोग करने वाले को अकार इकार तथा उकार आदि उच्चारण रूप त्रिविध दोषों से बचना चाहिए ।[4] इसी प्रकार " नारदीय " शिक्षा भी "स्वरभक्ति" के अकार,

---

1• न क्रमे प्रथम पदे प्रथमपदे । तै० प्रा० 21/16

2• स्वरभक्तेस्तथैव च ,अवर्णवत् प्रयोग: । लो० शि० 5/4

3• तां ह्रस्वां प्रतिजानीयाद्यथा मात्रा भवेदादि ।
सम्यक्षेनां विजानीयाद् द्वौ दोषौ परिवर्जयेत् ।।
सम्यगेनां यदा पश्येच्छ्रुतवलिशति निदर्शनम् ।
अकारं चाप्युकारं च विच्छिन्नं विवृतन् तथा ।। माण्डू० शि० 100/101

4• स्वरभक्तिं प्रयुंजानस्त्रीन् दोषान्परिवर्जयेत् ।
इकारं चाप्युकारं च ग्रस्तदोषं तथैव च । याज्ञ० शि० 103

इकार तथा उकार रूप त्रिदोषों से बचने का निर्देश देती है।[1] स्वरभक्ति के उच्चारण के संबंध में केशवी शिक्षा का मत उपरोक्त मत से भिन्न है। इसके अनुसार "स्वरभक्ति" का उच्चारण "एकार" की भाँति करना चाहिए।[2] यथा-"दर्शतम्" का "दरेशतम्" के रूप में तथा पर्शव्येन" का "परेशव्येन" के रूप में उच्चारण करना चाहिए। द्वितीय लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा के अनुसार भी स्वर भक्ति का उच्चारण "एकार" के समान करना चाहिए।[3] प्रातिज्ञासूत्र में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[4] प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा के मतानुसार

---

1. स्वरभक्ति प्रयुंजानस्त्रीन्दोषान्परिवर्जयेत् ।
   इकारं चाप्युकारं च ग्रस्तदोषं तथैव च ।। ना0 शि0 2.5.9
2. अहत्वाल्पुदृध्वरेफस्य रेकारः प्राक्च ।। के0 शि0 4
3. रेफो रेकत्वमाप्नोति शषहेषु परेषु च ।
   दरर्श वर्षो अहल्च्च संयुयोगे नेवं कारयेत् ।।
   लकारो अपि च सावर्ण्यादिकारसदृशो भवेत् ।
   शतवल्शा अपि च वल्हा च तत्र तावदुदाहृतिः ।।
   द्वि0 माध्यं0 शि0 10, ।।
4. अथापरान्तस्थस्यायुक्तान्यहलः संयुक्तस्योष्मकाररेकार सहितोच्चारणम् । एवं तृतीयान्तस्थस्य क्वचित् लकारस्य तु संयुक्तासंयुक्तस्या विशेषेण एवमेव । प्र0 सू0 2/4

यद्यपि कि "स्वरभक्ति" ॠवर्ण तथा ॡवर्ण से ॠवर्ण तथा ॡवर्ण के समान श्रुतिगत होती है। परन्तु हल् विहीन रेफ का श ष स तथा ह पर में होने पर एकार रूप उच्चारण होता है।[1] इसी प्रकार "केशवी" शिक्षा में भी उल्लेख मिलता है।[2] इस प्रकार प्रातिशाख्यों में भी "स्वरभक्ति" के उच्चारण के संबंध में मतवैविध्य मिलता है। ॠ० प्रा० में "स्वरभक्ति" का उच्चारण ॠकार रूप में होता है।[3] इसी प्रकार वा० प्रा० में भी ॠकार तथा ॡकार रूप में "स्वरभक्ति" का उच्चारण किया जाता है।[4] तै० प्रा० में स्वरभक्ति का उच्चारण रेफ के रूप में[5] तथा च० अ० में अकार रूप में किया जाता है।

---

1. रेफलकारौ ऋलृवर्णाभ्यां समृत्सदृशश्रुतिभ्यां यथासंख्यं व्यवधीयेते। पदाद्यान्तमध्ये हल्विहीनस्य शलि ऊर्ध्वं रेफस्य एकारःप्रागुच्चारः स्याच्छन्दसि। प्रा०प्र० शि०। 25/1
2. पदान्तमध्ये हल्युतायुतस्य ऋकारस्य ऋवर्यस्य एकारवोच्चारः स्याच्छन्दसि माध्यन्दिनीये। के०शि० 8 पर भाष्य
3. रेफात्स्वरोपहिताद्व्यंजनोदयादृकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा। ऋ०प्रा० 6/1
4. रलावृलृवर्णाभ्यामृष्मणि स्वरोदये सर्वत्र। वा० प्रा० 4/17
5. रेफोष्मसंयोगे रेफस्वरभक्तिः। तै० प्रा० 21/15
6. रेफादूष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिरकारस्यार्धं चतुर्थमित्येके अन्यस्मिन्व्यंजने चतुर्थमष्टया वा। च०अ० 1/102

इसके अतिरिक्त कुछ आचार्य " स्वरभक्ति " को पूववर्ती या परवर्ती स्वर के समान मानते हैं ।[1] यथा- धूर्षदम् तथा बर्हिषदम् मे " स्वर भक्ति " क्रमशः उकार वर्ण तथा इकार वर्ण है ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि शाखा भेद से पूववर्ती तथा परवर्ती स्वरों के आधार पर " स्वरभक्ति " का अकार, इकार, उकार तथा एकार आदि रूपों में उच्चारण होता है । ध्यातव्य है कि सभी संहिताओं में " स्वरभक्ति " का उच्चारण मात्र होता है उसे लिपिबद्ध नहीं किया गया है।

स्वरभक्ति का उच्चारणकाल

शिक्षाग्रन्थों में " स्वरभक्ति " के उच्चारण काल के सम्बन्ध में यद्यपि स्पष्टतः उल्लेख नहीं मिलता है फिर भी प्रसंग वश यत्किंचित उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर विचार किया जा रहा है । " नारदी " शिक्षा में " स्वरभक्ति " के उच्चारण काल के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऋवर्ण में रेफ पृथक् होने पर यदि ऊष्म वर्ण से संयुक्त होवे तो "स्वरभक्ति" का उच्चारण काल "लघु" होता है और जब केवल ऋवर्ण ऊष्म वर्ण से संयुक्त होता है तो " स्वर भक्ति " का उच्चारण काल " गुरु " होता है ।[2] दीर्घ स्वर वर्ण

---

1. पूर्वोत्तर स्वरसरूपतां च । ऋ0 प्रा0 6/53

2. ऋवर्ण स्वरभक्तिं च छन्दोमानेन निर्दिशेत् ।
   प्रत्ययेन सहारेफ भिमति स्वर भक्तिषु । ।

क्रमशः ----

को ही "गुरु" कहा जाता है।[1] तथा "ह्रस्व" को "लघु"[2] कहा जाता है। इसी प्रकार माण्डुकी शिक्षा में भी उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार "स्वरभक्ति" का उच्चारण काल "ह्रस्व" होता है।[3] अन्य शिक्षा-ग्रन्थों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। ऋक्प्रातिशाख्य में उच्चारण-काल की दृष्टि से "स्वरभक्ति" को "दीर्घ" एवं ह्रस्व दो भागों में विभक्त किया गया है। इसके अनुसार "ऊष्म" वर्ण बाद में हो तो वह "स्वरभक्ति" दीर्घ होती है।[4] यथा "बर्हि" तथा "प्रत्यु अदर्शि" इन पदों "दीर्घ स्वरभक्ति" है क्योंकि रेफ के बाद में ऊष्म वर्ण हकार तथा शकार हैं। यह स्वरभक्ति आधी

ऋवर्णो तु पृथग्रेफः प्रत्ययस्तु पृथग्भवेत् ।
विद्यात्लघुमृकारं तु यदि तूष्माणसंयुतः ।
ऊष्मणैव हि संयुक्तऋकारो यत्र पीड्यते ।
गुरुवर्णः सविज्ञेयस्तृचं चात्रानुदर्शनम् । ना० शि० 2•5•2-4

1• गुरुणिदीर्घाणि । ऋ० प्रा० 1/20

2• लघु ह्रस्वं च चेत्संयोग उत्तरः। ऋ० प्रा० 18/38

3• ऊष्मणो यत्र दृश्येते स्वरवर्णौ स्वरोदयौ । ऋ.लृवर्णौ तथा ज्ञेयौ स्वरभक्तीति संस्थितौ । तां ह्रस्वां प्रतिजानीयाद्यथामात्रा भवेद्यदि ।
माण्डु० शि० 99/100

4• द्राघीयसी तूष्मापरा । ऋ० प्रा० 6/48

मात्राकाल वाली होती है।[1] इसके उच्चारण में आधी मात्रा का समय लगता है। "ह्रस्वा स्वरभक्ति" के संबंध में ऋ० प्रा० में कथन है कि द्वित्व को प्राप्त ऊष्म वर्ण बाद में हो तो वह "स्वरभक्ति" ह्रस्वा कहलाती है।[2] इसके उच्चारण में आधी मात्रा से कम अर्थात् पादमात्रा (1/4) का समय लगता है।[3] यथा "वण्र्यान्" में। च० अ० में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है यदि रेफ के बाद में ऊष्म वर्ण हो और ऊष्म वर्ण से पर स्वर हो तो "स्वरभक्ति" 1/2 मात्राकाल वाली तथा अन्य स्थलों पर 1/4 या 1/8 मात्रा काल वाली होती है।[4]

स्वरभक्ति का प्रकार

शिक्षाग्रन्थों में स्वरभक्ति के प्रकार के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में स्वरभक्ति को पाँच प्रकार का बतलाया है।[5] 1. करिणी, 2. कुर्विणी, 3. हरिणी 4. हरिता तथा 5. हंसपदा।

---

1. द्राघीयसी सार्धमात्रा। ऋ० प्रा० 6/68
2. इतरा क्रमे। ऋ० प्रा० 6/44
3. अर्धोनान्या। ऋ० प्रा० 1/35
4. च० अ० 1/101-102
5. कारिणी कुर्विणी चैव हरिणी हरिता तथा।

   तद्वंसपदा नाम पंचैता: स्वर भक्तय:। याज्ञ० शि० 98

स्वरभक्ति लक्षणपरिशिष्ट शिक्षा में भी ऐसा ही कथन है कि करिणी आदि पाँचप्रकार की "स्वरभक्ति" होती है।[1] इसी प्रकार लोमशी शिक्षा में भी करिणी, कुर्विणी, हरिणी हरिता तथा हंसपदा इन पाँचप्रकार के ही स्वरभक्ति" का उल्लेख किया गया है।[2] परन्तु माण्डूकी शिक्षा में करिणी, कुर्विणी, हरिणी तथा हंसपदा इन चार प्रकार के स्वरभक्ति" का उल्लेख मिलता है।[3] ऋ० प्रा० के अनुसार "स्वर भक्ति" दो प्रकार की होती है- 1. ह्रस्वा तथा 2. दीर्घा।[4] इसके अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में "स्वरभक्ति" के प्रकार के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि "स्वर भक्ति" पाँचप्रकार की होती है-

---

1. स्वरभक्ति: पञ्चधा स्यात् - - - -।

स्व०भ०ल०शि० 36

2. करेणु कुर्विणी चैव हरिणी हरितेति च।
तथा हंसपदानाम् पंचैता: स्वरभक्तय:। लो० शि० 1/2

3. करिणीं कुर्विणीं चैव हारिणीं लहकारयो:।
यातु हंसपदानाम सा तु रेफषकारयो:। माण्डू०शि० 102

4. द्राघीयसी सार्धमात्रा। इतरा ह्रस्वे। ऋ० प्रा० 6/48 -49

1· कारिणी स्वर भक्ति-

"स्वरभक्ति लक्षणपरिशिष्ट" शिक्षानुसार रेफ और हकार का संयोग होने पर जो "स्वरभक्ति" होती है, उसे "कारिणी स्वर भक्ति" कहलाती है।[1] यथा-"बर्हि" में रेफ और हकार का संयोग होने से जो ऋकार वर्ण "स्वर भक्ति होती है, "करिणी स्वर भक्ति" कहलाती है। इसी प्रकार "याज्ञवल्क्य" शिक्षा में भी उल्लेख मिलता है।[2] परन्तु लोमशी शिक्षा में यह उल्लेख मिलता है कि रकार और हकार का संयोग होने पर "कारिणी स्वरभक्ति" होती है।[3] जिसका अन्य शिक्षाओं में कोई उल्लेख न मिलने से उपरोक्त विधान ही समीचीन है।

2· कुर्विणी स्वरभक्ति-

"स्वरभक्ति लक्षण परिशिष्ट" शिक्षा में यह कथन है कि लकार और हकार के संयोग होने पर जो "स्वर भक्ति" होती है, उसे "कुर्विणी" स्वरभक्ति कहते हैं।[4] यथा "उपवल्हेति" में लकार और हकार के संयोग से निष्पन्न लृवर्ण स्वर भक्ति "कुर्विणी" है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी उल्लेख मिलता है।[5] इसी प्रकार माण्डूकी शिक्षा में भी उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार लकार और हकार के संयोग से निष्पन्न स्वर भक्ति "कुर्विणी" कहलाती है।[6] परन्तु लोमशी ~~परन्तु~~ शिक्षा का मत है कि ऋकार

1· रकारेण हकारेण संयोगो यत्र दृश्यते ।
कारिणी सा तु विज्ञेया बर्हिरसीति निदर्शनम् । स्व०भ०ल०शि36

2· कारिणी रहयोर्योगे । याज्ञ० शि० 99

3· करेणुस्सहयो र्विद्यात् । लो० शि० 2

तथा हकार के संयोग से निष्पन्न स्वरभक्ति " कुर्विणी " कहलाती है ।[1]
परन्तु ऐसे उदाहरण सामवेद के अतिरिक्त अन्य संहिताओं में नहीं मिलते हैं।

3• हरिणी स्वरभक्ति-

" स्वरभक्ति लक्षण परिशिष्ट " शिक्षा के मतानुसार रेफ और शकार के संयोग से निष्पन्न होने वाली " स्वरभक्ति " हरिणी " कहलाती है ।[2] यथा- याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी ऐसा ही उल्लेख है ।[3] परन्तु लोमशी शिक्षानुसार

कुर्विणी सा हि विज्ञेया उपवल्हेति निदर्शनम् । स्व०भ०ल०शि० 37

5• कुर्विणी लहकारयोः । याज्ञ० शि० ।।

6• करिणी कुर्विणी चैव हारिणी लकारयोः । माण्डू० की शि० ।02

1• कुर्विणी ऋहिकारयोः । लो०शि० 3,

2• रकारस्य शकारेण संयोगो यत्र दृश्यते ।

हरिणी सा तु विज्ञेया ऽर्शसऽइत्यादि दर्शनम् । स्व०भ०ल०शि० 38

3• हरिणी रशयोर्योगे ।

याज्ञ० शि० ।।

हकार और शकार के संयोग से निष्पन्न" स्वरभक्ति" "हरिणी" स्वरभक्ति" कहलाती है।[1] ऐसा विधान सामवेद के अतिरिक्त उपलब्ध नहीं होता है। माण्डुकी शिक्षा के अनुसार ऋकार तथा षकार के संयोग से निष्पन्न "स्वरभक्ति" "हरिणी स्वरभक्ति" कहलाती है।[2] ऐसा दृष्टान्त केवल अथर्ववेद संहिता में प्राप्त होता है।

4. हरिता स्वरभक्ति-

याज्ञवल्क्य शिक्षा में "हरिता स्वरभक्ति" के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह "स्वरभक्ति" जो लकार और शकार का संयोग होने पर निष्पन्न होती है, उसे "हरिता स्वरभक्ति" कहते हैं।[3] यथा- "शतवल्शः" इसी प्रकार "स्वरभक्ति लक्षणपरिशिष्ट" शिक्षा में भी उल्लेख मिलता है।[4] माण्डुकी शिक्षा में भी यह कथन मिलता है कि लकार और शकार का संयोग होने पर जो स्वरभक्ति होती है, वह हारिता स्वरभक्ति" कहलाती है।[5] परन्तु लोमशी शिक्षानुसार ऋकार तथा शकार का संयोग होने से निष्पन्न "स्वरभक्ति" हारिता" कहलाती है।[6] परन्तु ऐसा दृष्टान्त केवल सामवेद संहिता में प्राप्त होता है।

----

1. हरिणी हशयो र्विद्यात् ------ । लो० शि० 3,
2. हरिणी ऋषयो र्विद्यात् ----- । माण्डु० शि० 102
3. हरिता लशकारयोः ----- । याज्ञ० शि० 11,
4. लकारेण शकारेण संयोगो यत्र जायते ।

   तां हरितां विजानीयाच्छतवल्शेति दर्शनम् । स्व०भ०ल०शि० 39
5. हारितां लशकारयोः ----- । माण्डु० शि० 102
6. हारितां ऋशकारयोः । लो० शि० 3

5. हंसपदा स्वरभक्ति-

"याज्ञवल्क्य" शिक्षा के मतानुसार जो "स्वरभक्ति" रेफ, और षकार के संयोग से निष्पन्न होती है, उसे "हंसपदा स्वरभक्ति कहते हैं।[1] यथा- "व्वर्षो व्वर्षीयसि", "सहस्रशीर्षापुरुषः," "वर्षपीधृतः" इत्यादि में। "स्वरभक्ति लक्षणपरिशिष्ट,[2] "लोमशी"[3] तथा "माण्डुकीशिक्षा"[4] में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त विववरण से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षाग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के स्वर भक्तियों के विधान के संबंध में मतवैविध्य है। जहाँ पर स्वरभक्ति लक्षणपरिशिष्ट तथा याज्ञवल्क्य ने रेफ तथा हकार से निष्पन्न "स्वरभक्ति" को "कारिणी" माना है वहीं लोमशी शिक्षा ने इसे सकार तथा हकार के संयोग से निष्पन्न माना है। इसी प्रकार "कुर्विणी स्वरभक्ति" जहाँ पर याज्ञ0 शि0 स्व0 भ0 ल0शि0 तथा माण्डु0 शि0 ने लकार तथा हकार केसंयोग से निष्पन्न माना है वहीं लोमशी शिक्षा में शकार तथा हकार से निष्पन्न माना है। इसी प्रकार "हरिणी स्वरभक्ति" को जहाँ पर याज्ञ0 शि0 तथा स्व0भ0ल0शि0 ने रेफ तथा शकार के संयोग से निष्पन्न माना है वहीं लोमशी शिक्षा ने हकार तथा शकार के संयोम से एवं माण्डुकी ने षकार तथा

---

1. या तु हंसपदा नाम सा तु रेफषकारयोः। याज्ञ0 शि0 100
2. रेफस्य षकारेण संयोगो यत्र दृश्यते।
   हंसपादेति विज्ञेया व्वर्षो व्वर्षीयसीति च। स्व0भ0ल0शि040
3. तथा रेफषकारे तु हंसपदाप्रकीर्तिता। लो0 शि0 4
4. या तु हंसपदा नाम सा तु रेफषकारयोः। माण्डु0 शि0 103

षकार के संयोग से निष्पन्न माना है । इसी प्रकार " हरिता स्वर भक्ति" को याज्ञ० शि० स्व० भ९ ल९ शि० एवं माण्डु० शि० ने लेकर तथा शकार के संयोग से निष्पन्न माना है तो लो० शि० ने ऋकार तथा शकार के संयोग से निष्पन्न माना है । इसी प्रकार " हंसपदा स्वरभक्ति" को याज्ञ० शि०, स्व०भ०ल०शि०लो०शि तथा माण्डु० शि० सभी ने एकस्वर से रेफ तथा सकार के संयोग से निष्पन्न माना है । इस मतवैविध्य का कारण शाखाभेद है । वेदों की विभिन्न शाखाओं में स्वरभक्ति का उच्चारण विभिन्नप्रकार से किया जाता है । फिर भी अधिकांश शिक्षाग्रन्थों में रेफ और लकार के साथ होने वाले ऊष्म वर्णों के संयोग के पांच प्रकार के रूप रेफ+ हकार, लकार+ हकार, रेफ+ शकार, लकार+ शकार तथा रेफ+ शकार के पक्ष में बहुमत दृष्टिगोचर होता है । इस प्रकार स्वरभक्ति के पांच प्रकार बताये गये हैं । यदि सूक्ष्म विवेचन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित स्वरभक्ति के पांच प्रकार ऋ० प्रा० प्रतिपादित " दीर्घ" स्वरभक्ति के ही विविध रूप हैं क्यों कि ये सभी " ऊष्मवर्णपरा है । पुन: शिक्षाग्रन्थों में "ह्रस्वा" स्वरभक्ति को नहीं स्वीकार किया गया है । इससे यह स्पष्टहोता है कि " स्वरभक्ति" आधी मात्रा काल वाली ही होती है । इससे यह ज्ञात होता है कि स्वर भक्ति का सम्बन्ध व्यंजनों के संयुक्तोच्चारणसे है और वह भी जब रेफ अथवा लकार के पश्चात् कोई ऊष्म वर्ण उच्चरित हो रही हो । यद्यपिऊष्मवर्ण के अतिरिक्त जब कोई अन्य व्यंजन होता है, तब भी "स्वर-भक्ति" का उच्चारण किया जाता है, परन्तु इसकी मात्रा अत्यल्प होती है । वस्तुत: वैदिक मन्त्रों के धारा प्रवाह पाठ में पाठशुद्धता बनाये रखने के लिए

रेफ और लकार से पर ऊष्म वर्ण होने पर उच्चारण में होने वाले आयास को कम करने के लिए एक अतिह्रस्व स्वर का आगम कर लिया जाता है। जो अतिह्रस्व होकर भी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा काल वाला होता है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि " स्वरभक्ति " का उच्चारण संयुक्त उच्चारण में होने वाली कठिनाई का निराकरण करने के लिए ही किया जाता है।

स्फोटन

शिक्षाग्रन्थों में स्फोटन का विधान प्रातिशाख्यों की अपेक्षाकृत कम है। " स्फोटन " शब्द अलग करना या पृथक् करना इस अर्थ वाली " स्फुट " धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका शाब्दिक अर्थ है- पृथक्करण स्फोटो किन्हीं विशेष स्थितियों में कुछ विशेष वर्णों के संयोग से प्राप्त द्वित्व को रोककर उनके पृथक् उच्चारण का विधान करता है।

स्फोटन का स्वरूप तथा उच्चारण प्रक्रिया

"वर्णरत्नप्रदीपिका" शिक्षा के मतानुसार स्पर्श के पश्चात् ककार हो तो " स्फोटन " विकल्प से होता है।[1] अन्य शिक्षाग्रन्थों में "स्फोटन के विधान

---

1. स्पर्शात् परककारस्य स्फोटनं दोषकृन्न वा । व0र0प्र0शि0 185

के संबंध में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है । विशेषत: वा० प्रा० तथा अ० प्रा० (च०अ०) में ही "स्फोटन" के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। वा० प्रा० के अनुसार भी स्पर्श के बाद ककार आने पर "स्फोटन" विकल्प से होता है।[1] "स्फोटन" के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार उवट लिखते हैं कि पिण्डीभूत संयोग का पृथक् उच्चारण "स्फोटन" कहलाता है।[2] इसी प्रकार च अ० में स्फोटन को व्यंजक कहा गया है । वस्तुत: स्पर्श वर्णों के संयुक्तोच्चारण के समय जिस ध्वनि का स्फोटन होता है उसके पश्चात् 1/4 या 1/8 मात्र काल वाली एक अतिरिक्त अतिह्रस्व ध्वनि का आगमन हो जाता है, जिसके कारण स्फोटन को प्राप्त होने वाली ध्वनि स्पष्ट रूपेण व्यंजित हो जाती है अर्थात् उच्चरित हो जाती है । फलस्वरूप दोनों ध्वनियों के मध्य में पृथक्करण सा आ जाता है। इसी "पृथक्करण" को "स्फोटन" कहा जाता है । यथा- "वषट्-कृतम्" में पदान्त "ट्" अधिक स्पष्ट उच्चरित होता है तथा "ड्" को "स्फोटन" होता है और संयुक्त व्यंजनों का पृथक् उच्चारण किया जाता है ।

ध्यातव्य है कि स्पर्श वर्णों के उच्चारण में तीन प्रक्रियायें होती हैं- वायु का उच्चारण स्थान तक आना, करण द्वारा उसका अवरोध तथा उच्चारेणाङ्गों के पृथक्करण द्वारा स्पर्श की समाप्ति हो जाने से वायु का मुखविवर से बाहर निकल जाना । इसमें अन्तिम क्रिया "स्फोटन" कही जाती है ।

---

1. स्फोटनं च ककारवर्षे वा स्पर्शात् । वा० प्रा० 4/165

2. स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम् ।

वा० प्रा० (उ०भा०) 4/162

जिनके उच्चारण में अन्तिम क्रिया नहीं होती है। उसे ही अभिनिधान" कहते हैं । इस प्रकार " स्फोटन " अवसान में स्थित स्पर्श के अभिनिधान का अपवाद है । क्योंकि " अभिनिधान" में ध्वनि को दबाकर उसका स्पष्ट उच्चारण किया जाता है जब कि " स्फोटन" में ध्वनि स्पष्टतः उच्चरित होती है ।

"स्फोटन" के स्वरूप को स्पष्ट करते हुई "चतुरध्यायिका" में कहा गया है कि किसी भी व्यंजन - संयोग में जब पूर्ववर्ती वर्ग का स्पर्श बाद में हो तथा परवर्ती वर्ग का स्पर्श पूर्व में हो तो पूववर्ती स्पर्श का क उच्चारण स्फोटन से होता है, यदि पूववर्ती वर्ण के बाद किञ्चिद् विराम होता है ।[1] यथा-" यद " गायत्रे" में कवर्ग के गकार से पूर्वतवर्ग का दकार वर्णविपर्यय का उदाहरण है । अतः इस दकार तथा गकार के उच्चारण के मध्य" स्फोटन" नहीं होता है, बल्कि संयोग के उच्चारणकाल का दीर्घीकरण " घसीटना " होता जिसे" . विप्रकर्ष" या " कर्षण" कहते हैं ।[2] यथा षड्गाता वा० प्रा० में भी यह उल्लेख मिलता है कि किसी भी वर्ग के स्पर्श वर्ण के बाद जब कवर्ग का कोई वर्ण आता है, तभी पूर्ववर्ती वर्ण का स्फोटन होता है।[3]

---

1. वर्गविपर्यये स्फोटनः पूर्व्वेण चेद्विरामः । च० अ० 2/38
2. न टवर्गस्य चवर्गे कालविप्रकर्षस्त्वत्र भवति तामाहुः कर्षण इति । च०अ० 2/39
3. स्फोटन च ककारवर्गे वा स्पर्शात् । वा० प्रा० 4/165

"वर्णरत्नप्रदीपिका" शिक्षा में "स्फोटन" के संबंध में उल्लिखित है कि "स्फोटन" द्वित्व का विनाशक है[1]। इसी प्रकार वा० प्रा० में भी कहा गया है कि "स्फोटन" द्वित्व का बाधक है।[2] वस्तुत: "स्फोटन" ऐसे दो पदों की संयोगावस्था में होता है जिसमें पूर्वपद स्पर्शवर्णान्त हो तथा उत्तर पद में आदिवर्ण स्पर्श हो। यद्यपि कि पूर्वपदान्त स्पर्श वर्ण को "द्वित्व" प्राप्त होता है किन्तु इसी बीच "स्फोटन" रूप अति ह्रस्व स्वर का आगम होता है जिससे दोनों ध्वनियों का पृथक् उच्चारण होता है, साथ ही द्वित्व बाधित हो जाता है। इस प्रकार "स्फोटन" द्वित्व का बाधक है। द्वित्व का विनाशक होने के साथ ही साथ यह वर्णों के संयोग का विघातक भी है। "स्फोटन" रूप अतिह्रस्वस्वरागम से पदों का संयोग समाप्त हो जाता है क्योंकि पदों का पृथक् उच्चारण किया जाता है। इसीलिए चतुरध्यायिका में "स्फोटन" को व्यंजक कहा गया है[3]।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि स्वर भक्ति के समान "स्फोटन" एक प्रकार का अतिह्रस्व- स्वरागम है, जिसके द्वारा संयुक्त वर्णों को पृथक् करके उनका स्पष्ट उच्चारण होता है क्योंकि ह्रस्वा स्वरभक्ति भी

---

1. स्फोटनं द्वित्व नाशनम्। व०र०प्र०शि० 185
2. न च स्फोटने सति द्विरुक्ति: सम्भवति। वा० प्रा० (उ०भा० 4/165
3. तदेव स्फोटनो व्यंजको भवति। च० अ० 1/103 पर भाष्य,

1/4 या 1/8 मात्रा काल वाली होती है और "स्फोटन भी 1/4 या 1/8 मात्रा काल वाला होता है । " स्फोटन " तथा " अभिनिधान " में आंशिक भिन्नता दोनों में ही उच्चारण के पूर्व संयोगस्थ ध्वनियों का पृथक्करण होता है । परन्तु " अभिनिधान" में ध्वनियों के पृथक्करण के पश्चात् प्रथम ध्वनि को दबाकर उसका अस्पष्ट उच्चारण किया जाता है जब कि " स्फोटन " में ध्वनियों का पृथक्करण करके प्रथम ध्वनि का अधिक स्पष्टता के साथ उच्चारण किया जाता है ।

अभिनिधान

शिक्षाग्रन्थों में चारायणीय शिक्षा के अतिरिक्त अन्यशिक्षाओं में " अभिनिधान" से सम्बन्धित स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है । " अभिनिधान" शब्द" अभि " तथा "नि" उपसर्ग पूर्वक धा धातु से निष्पन्न हुआ है । जिसका शाब्दिक अर्थ " समीप में रखना " होता है" जब संयोग का प्रथम व्यंजन अभिनिधा को प्राप्त कर लेता है, तब उसका उच्चारण बाद वाले व्यंजन सेसंयुक्त करके नहीं किया जाता अपितु प्रथम व्यंजन के बाद थोड़ा रुककर परवर्ती वर्ण का उच्चारण किया जाता है । इस प्रकार प्रथम व्यंजन के बाद वाले व्यंजन के साथ संयुक्त करके केवल पास में रख दिया जाता है । इसलिए इसे "अभिनिधान" कहा जाता है । चारायणीय शिक्षा में " अभिनिधान" का प्रयोग " अपूर्ण उच्चारण " के रूप में किया गया है । इसी प्रकार प्रातिशाख्यों में भी इसका प्रयोग " अपूर्ण उच्चारण" के रूप में किया गया है । चारायणीय शिक्षा में इसके

लिए "भुक्त" या भक्ष्य शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] वस्तुत: "भुक्त" का अभिप्राय यह होता है कि अभिनिधान को प्राप्त होने वाला वर्ण अपने समीपवर्ती वर्ण द्वारा कुछ अंशों में "भुक्त" हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह कह लिया जाय कि वह व्यंजन तथा अन्तस्थ जिसका अभिनिधान होता है अपने उच्चारण का कुछ भाग अपने समीपस्थ व्यंजन या विराम को अर्पित कर देता है। अर्थात् अपने समीपवर्ती उच्चारण में आरोपित कर देता है। जिससे वह स्वयं अपूर्ण एवं अस्पष्ट उच्चारित किया जाता है। इसलिए इसे "समीपवर्ती आरोप" कहा जाता है। इसी प्रकार प्रातिशाख्यों में भी विभिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है। "चतुरध्यायिका" में अभिनिधान के लिए "आस्थापित" शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] "आस्थापित" का शाब्दिक अर्थ भी समीप में रखना" होता है। वा० प्रा० के भाष्यकार उवट ने अनेक स्थलों पर अकार की पूर्वरूपता के रूप में "अभिनिधान" और "अभिनिधीयते" शब्दों का प्रयोग किया है।[2] इसी प्रकार ऋ० प्रा० में वर्णित है कि जब अकार किसी पदान्त एकार अथवा ओकार के बाद आता है, तो वह अपना अस्तित्व अपने पूर्ववर्ती स्वर एकार अथवा ओकार को सौंप देता है और उसी के साथ मिलकर एकाकार हो जाता है।[3] ऋ० प्रा० में अभिनिधान के लिए" विच्छेद " शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका शाब्दिक अर्थ पृथक् किया हुआ होता है।[4]

---

1. आस्थापितं च । च० अ० 1/48
2. अभिनिधानं च पूर्वरूपता । वा० प्रा० 4/65 (उ०भा०)
3. अथाभिनिहित: संधिरेतै: प्राकृतवैकृते: । एकीभवति पादादिरकारास्ते-ऽसंधिजा: । ऋ० प्रा० 2/34
4. विच्छेदात्स्पर्शोष्मपराज्चवो विपः । ऋ० प्रा० 6/47

अभिनिधान का स्वरूप एवं स्थल

"अभिनिधान" के स्वरूप के संबंध में शिक्षा ग्रन्थों की अपेक्षाकृत प्रातिशाख्यों में अधिक स्पष्ट उल्लेख मिलता है । ऋ० प्रा० में अभिनिधान के स्वरूप के संबंध में यह उल्लेख मिलता है कि स्पर्श वर्णों का और अन्तःस्था वर्णों का (रेफ को छोड़कर) संहिता करने के बाद अभिनिधान होता है, यदि बाद में स्पर्श वर्ण हो । वर्णों का अवरोध (संधारण) और वर्ण की श्रुति का दबाना (संवरण) अभिनिधान कहलाता है।[1] चतुरध्यायिका में भी यह उल्लेख मिलता है कि संयोग के प्रथम व्यंजन के उच्चारण करने के बाद में थोड़ा रुककर द्वितीय व्यंजन का उच्चारण किया जाता है, जिससे दोनों व्यंजनों के मध्य किंचित् अवरोध हो जाने से उनके संयोग का "विच्छेद" हो जाता है। इसी लिए "अभिनिधान" को प्राप्त होने वाली ध्वनि को दबी हुई (पीडितः दुर्बलतर) सन्नतरः) तथा श्वास और नाद से रहित () हीनश्वासनादः) कहा गया है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "अभिनिधान" का स्वरूप मुख्यतः दो क्रियाओं के फलस्वरूप निष्पन्न होता है- पूर्ववर्ती व्यंजन को परवर्ती व्यंजन से पृथक् करना तथा पुनः अपूर्ण (अस्पष्ट) उच्चरित करना । यद्यपि कि "अभिनिधान" संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण वैशिष्ट्य है परन्तु यह अभिनिधान

---

1. अभिनिधानं कृतसंहितानां स्पर्शान्तस्थानामपवाद्य रेफम् ।
   संधारणं संवरणं श्रुतेश्च स्पर्शोदयानाम् । ऋ० प्रा० 6/17

2. व्यंजनविधारणमभिनिधानः पीडितः सन्नतरो हीनश्वासनादः।
   च०अ० 1/43

संयोग के विपरीत है । संयुक्त व्यंजनों का अव्यवहित उच्चारण होता है, एक व्यंजन के तुरन्तबाद दूसरे व्यंजन का उच्चारण होता है किन्तु अभिनिधान को प्राप्त व्यंजनों में उस व्यंजन के उच्चारण के बाद थोड़ा रूककर दूसरे व्यंजन का उच्चारण किया जाता है जिससे दोनों व्यंजनों में कुछ पृथक्करण आ जाता है । इस प्रकार "अभिनिधान" को "असंयुक्तोच्चारण" कहा जा सकता है ।

"अभिनिधान" के स्थल के सम्बन्ध में भी शिक्षाओं की अपेक्षाकृत प्रातिशाख्यों में अधिक सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है । चारायणीय शिक्षा में यह उल्लेख मिलता है कि स्पर्श से पूर्व में आने वाले स्पर्श का "अभिनिधान" हो जाता है।[1] यथा- "अर्वाग्देवा:" में गकार के बाद स्पर्श वर्ण दकार के रहने से गकार का "अभिनिधान हो जाता है । गकार को दकार से संयुक्त न करके उसे दकार से थोड़ा पृथक् करके उसकी ध्वनि को दबाकर अस्पष्ट उच्चारण करते हैं । इसी प्रकार प्रातिशाख्यों में भी उल्लेख मिलता है । ऋ0 प्रा0 के अनुसार पदों की संहिता कर लेने के पश्चात् स्पर्श वर्णों एवं रेफ के अतिरिक्त अन्य अन्तस्था वर्णों का अभिनिधान हो जाता है, यदि पर में स्पर्श वर्ण हो ।[2] इसके अनुसार अवसान से पूर्ववर्ती स्पर्शवर्ण तथा रेफ व्यतिरिक्त अन्तस्था वर्ण भी अभिनिधान को प्राप्त करते हैं।[3] चतुरध्यायिका के मतानुसार स्पर्श-वर्ण, लकार एवं ङ्, ण्, न् नासिक्य वर्णों का ही अभिनिधान होता है।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट है।

---

1. परस्परं स्पर्शौ भुक्तौ वर्जयित्वा तु पंचमौ । चारा0शि0 8/8
2. अभिनिधानं कृतसंहितानां स्पर्शान्तस्थानामपवाद्यरेफम् । संधारणं संवरणं श्रुतेश्च स्पर्शोदयानाम् । अपि चावसाने । ऋ0 प्रा0 6/17
3. अपि चावसाने । ऋ0 प्रा0 6/18
4. स्पर्शस्य स्पर्शेऽभिनिधान: । च0 अ0 1/44

कि चतुरध्यायिका को ऋ० प्रा० का स्पर्श वर्णों का अभिनिधान तो स्वीकार है किन्तु अन्तस्था के " अभिनिधान" के संबंध में ऋ० प्रा० से विचारों में किंचित् भिन्नता है । ऋ० प्रा० रेफ को छोड़कर सभी अन्तस्था, य, ल, व, वर्णों के " अभिनिधान" का विधान करता है । जब कि चतुरध्यायिका अन्तस्था में केवल लकार वर्ण के " अभिनिधान" का विधान करता है । ऋ० प्रा० के अनुसार लकार के बाद स्पर्श वर्ण होने पर लकार अभिनिधान को प्राप्त करता है । जब कि चतुरध्यायिका के अनुसार लकार का " अभिनिधान" तभी होगा जब उसके बाद कोई ऊष्म वर्ण आये ।[1] इसी प्रकार ङ, ण, तथा न के बाद जब हकार होगा तभी ये वर्ण" अभिनिधान" को प्राप्त कर सकेंगे ।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि चारायणीय शिक्षा तथा ऋ० प्रा० की अपेक्षाकृत च० अ० का अभिनिधान का क्षेत्र सीमित है ।

परन्तु स्पर्श के पूर्व आने वाले स्पर्श (स्पर्श- स्पर्श) का " अभिनिधान" होने पर विषय पर भारतीय आचार्यों में मतैक्य नहीं है । आचार्य व्याडि के मतानुसार स्पर्श से पूर्व आने वाले स्पर्श का " अभिनिधान" नहीं होता है।[3]

---

1. लकारस्योष्मसु । च० अ० 1/46
2. ङ्णनानां हकारे । च० अ० 1/47
3. व्याडे: सर्वशाभिनिधानलोप: । ऋ० प्रा० 6/43

केवल जब व्यंजन को द्वित्व प्राप्त होता है तभी स्पर्श से पूर्व आने वाले स्पर्श का "अभिनिधान" होता है यथा "महत्तद्बबम्" में द्वित्व प्राप्त बकार के प्रथम बकार का अभिनिधान" हुआ है । या फिर अभिनिधान वहाँ होता है जहाँ स्वर पूर्व में हो, यथा "अर्वाग्देवा" या फिर जब रेफ पूर्व में होता है तब "अभिनिधान" होता है, यथा- "परा वर्ड्" में ।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि आचार्य व्याडि के मत से केवल तीन स्थलों पर अभिनिधान होता है- प्रथम जब व्यंजन संयोग में द्वित्व प्राप्त होने वाले व्यंजन के प्रथम वर्ण को "अभिनिधान होता है। द्वितीयस्वर के बाद उच्चरित होने वाले व्यंजन का तथा तृतीय रेफ के बाद में उच्चरित होने वाले व्यंजन का" अभिनिधान" होता है । कतिपय आचार्य कहते हैं कि आचार्य शाकल के मतानुसार यदि स्पर्श के बाद आने वाला स्पर्श सवर्णी न हो अर्थात् करण अथवा स्थान का भेद हो तो "अभिनिधान विकल्प से होता है, ।[2] यथा "सकृत- सु नः " अब्जाः में यद्यपि कि तकार औरसकार दोनों समान स्थान वाले अर्थात् दन्त्य है तथापि इनमें आभ्यंतर प्रयत्न का भेद है । तकार का आभ्यंतर " स्पष्ट " है जब कि सकार का आभ्यंतर " प्रयत्न" विवृत्त" है । इसी प्रकार अब्जाः में बकार तथा जकार दोनों का आभ्यंतर प्रयत्न समान अर्थात् "स्पृष्ट" है किन्तु उच्चारण "स्थान" की दृष्टि से दोनों में भेद है । बकार " ओष्ठ्य" है जब कि जकार "तालव्य" है ।

1• परक्रमस्वररेफोपधेन । ऋ. प्रा0 6/44

2• सर्वैके करणस्थानभेदे वा शकलम् ।। ऋ0 प्रा0 6/27

यह केवल द्वित्व व्यंजनो में ही नित्यरूप से होता है । इसके अतिरिक्त आचार्य शाकल के अनुसार दो व्यंजनों के संयुक्त उच्चारण में अभिनिधान नहीं होता है यह तभी होता है जब अभिनिधान वाला व्यंजन अनुवर्ती व्यंजन से पृथक् उच्चरित हो अर्थात् जब दो व्यंजनो के मध्य में एक लघु सा विराम आ रहा हो ।[1] आचार्य शाकल कहते हैं कि मकार से पूर्व वाले क से से लेकर भ् तक स्पर्श, पद के अन्त में आने पर " अभिनिधान" को प्राप्त हो जाते है यदि बाद में य, र ल, व या ऊष्म वर्ण हों[2] । यथा- यद्‌यद्‌याभि" में द्वितीय" यद्" पद के दकारका " अभिनिधान" हो गया क्यों कि यह दकार पद के अन्त में विद्यमान है और उसके बाद में पद के आदि में विद्यमान मकार है । पुनश्च यदि द्+ य को बिना किसी प्रकार के अन्तर्वर्ती विराम के उच्चारण किया जाय तो वहाँ" अभिनिधान" नहीं होता है । किन्तु जब इसका उच्चारण द् एवं य् के मध्य एक लघु विराम के साथ करे तो दोनों के मध्य सातत्य भंग के कारण यहाँ परद् का " अभिनिधान " हो जाता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अभिनिधान के संबंध में तीन प्रकार के मत दृष्टिगोचर होते हैं- स्पर्श के पूर्व में आने वाले स्पर्श का "अभिनिधान" होता है, 2, अभिनिधान वहीं होता है जहाँ किसी व्यंजन का द्वित्व हुआ हो, 3· अभिनिधान तभी होता है जब संयुक्तोच्चारित होने वाले व्यंजनों को पृथक् पृथक् उच्चारित किया जाय । अभिनिधान के संबंध

1· असंयुक्तं शाकलम् । ऋ० प्रा० 6/24

2· पदान्तीया यरवोष्मोदयाश्च स्पर्शः पदादिष्ववरे मकारात् ।
ऋ० प्रा० 6/23

में प्रथम मत प्रबल समर्थन प्राकृत भाषा में प्राप्त होता है । संस्कृत में सप्त का उच्चारण प्राकृत भाषा में " सत्त " होता है । यहाँ पर "सत्त" में स्पर्श का स्पर्श के संयोग में प्रथम स्पर्श का उच्चारण का अधिक भाग परवर्ती स्पर्श को समर्पित कर देता है तथा स्वत: श्वास एवं नाद की न्यूनता से उच्चरित होकर " अभिनिधान" को प्राप्त कर लेता है । "सप्त" में जब पकार, तकार के सा। समीकरण को प्राप्त करके स्वयं भी तकार के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब दोनों तकारो में प्रथम तकार श्वास के उसी झटके से उच्चरित हो जाता है, जिससे द्वितीय तकार उच्चरित होता है । जिसके फलस्वरूप प्रथम तकार के उच्चारण में वायु का स्फोटन नहीं हो पाता है । इसी प्रकार संस्कृत भाषा के " मरुत्" "जगत" आदि शब्दो का विभक्ति रूपों में पूर्ववर्ती स्पर्श का परवर्ती स्पर्श के साथ समीकरण होकर । मरुद्भ्याम जगद्भ्याम रूप निष्पन्न होता है । इनमें तकार का उच्चारण शिथिल हो जाता है । जिसके परिणाम स्वरूप तकार, दकार रूप में परिणत हो जाता है । इसमें अपेक्षाकृत श्वास और नाद की भी न्यूनता आ जाती है और इस प्रकार अनुवर्ती ध्वनि से प्रभावित हो जाता है ।

द्वितीय मत के अनुसार द्वित्व अभिनिधान व्यंजन का प्रथम वर्ण का होता है । इसके पक्ष में " अभिनिधान" के प्रबल विरोधी आचार्य व्यादि भी अपनी सहमति व्यक्त करते हैं । इनके अनुसार द्वित्व व्यंजन के प्रथम अवयव का "अभिनिधान" होता है।[1] यथा-" दत्तम् " तथा " अग्निम् " में "त्त" तथा "ग्न"

1• परक्रमस्वररेफोपधे न । ऋ० प्रा० 6/44 .

का स्फोटन केवल एक बार होता है, प्रथम व् तथा ग् अस्फुटित ही रहते हैं। परन्तु स्पर्श वर्णों ऐसे संयोग जिनमें न तो किसी व्यंजन का द्वित्व होता है और न ही पूर्ववर्ती वर्ण का परवर्ती वर्ण के साथ समीकरण ही होता है, ऐसे स्थलों पर अभिनिधान के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। यथा - अत्क, "भुत्कार" "बुस्बुद्"- स्पर्श किसी प्रकार के समीकरण को सूचित नहीं करते। अस्तु ऐसे व्यंजन संयोगों में " अभिनिधान" होता था कि नहीं इस सम्बन्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सम्भवत: इस प्रकार के शब्दों में अभिनिधान का आधार भौगोलिक स्थितियों रहीं होंगी। परिणामत: अभिनिधान का स्वरूप भौगोलिक स्थितियों के अनुसार भिन्न- भिन्न रहा होगा कुछबोलियों में स्पर्श से पूर्व आने वाले स्पर्श का स्फोटन होता रहा होगा एवं कुछ बोलियों में नहीं। पंजाबी तथा हिन्दी भाषाओं " रक्त" एवं वक्त" शब्दो के उच्चारण में ककार तथा तकार का संयोग है, इसलिए नियमत: दोनों भाषाओं में तकार से पूर्व ककार का अभिनिधान होना चाहिए। परन्तु तुलनात्मक अध्ययनसे पता चलता है कि हिन्दी में तो तकार से पूर्व ककार का सर्वदा अभिनिधान होता है, जब कि पंजाबी में नहीं होता है क्यों कि पंजाबी में अनेक शब्द ऐसे है जिनमें तकार सेपूर्व ककारका पूर्ण रूप से स्फोटन होता है।

शिक्षाग्रन्थों ने यह विधान किया है कि केवल द्वित्व व्यंजनो में अभिनिधान आवश्यक है तथा भिन्न उच्चारण स्थान वाले व्यंजनो के संयोग में अभिनिधान वैकल्पिक है होता है. क्यों कि सवर्णी स्पर्श के संयोग की अवस्था में दूसरा वर्ण

अवश्य ही या तो " महाप्राण" व्यंजन होता है या दोनों एक ही होते है इनदोनों ही रूपों में निश्चित रूप से स्पर्श का " अभिनिधान" होता है। यथा-"ककुभ ति" गग्घ ति" तथा " दत्त" इसके साथ यह भी कह देना आवश्यक होगा कि स्पर्श के बाद कोई नासिक्यवर्ण आता है, वह चाहे सवर्ण क्यों न हो अभिनिधान को प्राप्त करना आवश्यक न था। यथा-" रत्न" में त् था न का उच्चारण स्थान एक ही था। न से पूर्व त् के स्फोटन मे बोलीगत भिन्नता अवश्य रहती होगी। यहा भी " अभिनिधान" की सम्भावना थी। इस सन्दर्भ मेंदन्त्यवर्ग से अन्त होने वाले संस्कृत क्रियाओं में अनेक क्तान्त रूप है जिनमें नकार से पूर्व दकार का अभिनिधानहो गया है तथा वह परवर्ती वर्ण नकार के साथ समीकरण कोप्राप्त कर लिया है। यथा- अद्+न= अन्न, छिद्+ न = छिन्न इन सभी शब्दो में दकार अपने परवर्ती वर्ण नकार के साथ समीकरण को प्राप्त करके न के ही रूप में परिवर्तित हो ग या है।

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि अभिनिधान के तीन संभाव्य स्थल है जिनमेंप्रथम जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह है जहा पर द्वित्व प्राप्त हो। द्वितीय वह है जिनमें स्पर्श का अनुवर्ती व्यंजन के साथ समीकरण हो जाता है तथा तृतीय जो अभिनिधान का सबसे अधिक अनिश्चित स्थल है जहा परप्रथम स्पर्श समीकरण का कोई संकेत नहीं देता है।

पदान्त व्यंजनो के अभिनिधान के सम्बन्ध में आचार्यों में परस्पर मतैक्य है। ऋ० प्रा० के मतानुसार अवसान से पूर्ववर्ती स्पर्श वर्ण तथा रेफ

व्यतिरिक्त अन्तस्था वर्ण "अभिनिधान" कोप्राप्त करते हैं । इनके मत से यह तभी संभव होता है जब अभिनिहित ध्वनि के पश्चात् अतिलघु विराम आता हो।[1] यथा- जब "अल्श" "का उच्चारण" अल् + श: "के रूप में होता हो, जिसमें लकार के उच्चारण के थोडी देर बार शकार का उच्चारण होता हो। किन्तुयदि ल् औरश् के बीच में विराम न हो तो" अभिनिहित" नहीं होगा। इसी प्रकार चतुरध्यायिका के मतानुसार भी अवग्रह के बाद में रहने पर भी पूर्ववर्ती स्पर्श का "अभिनिधान" हो जाता है।[2] अर्थात् यदि पदपाठ में किसी समस्त पद को अवगृहीत कर दिया गया हो और अवग्रह के वाद कोई स्पर्श वर्ण हो, तो अवग्रह से पूर्ववर्ती स्पर्श अभिनिधान को प्राप्त कर लेता है। अवग्रह का तात्पर्य "पृथक्करण" से है । वा0 प्रा0 में अवग्रह का काल एकमात्र माना गया है।[3] जब दो स्पर्शों के संयुक्तोच्चारण में प्रथम स्पर्श को द्वितीयस्पर्श से पृथक् करके उनके बीच यदि एकमात्रा काल का व्यवधान उत्पन्न किया जायेगा तो पूर्ववर्ती स्पर्श" अभिनिधान" को प्राप्त हो जायेगा । वा0 प्रा0 में कहा गया है कि पदान्त के स्पर्श का उच्चारण स्थान एवं करण का उन्मोचन करना चाहिए ।[4] वा0 प्रा0 के भाष्यकार उवट कहते हैं कि दूसरे पद को दूसरे प्रयत्न द्वारा उच्चरित करना चाहिए। ऐसा न करने पर दूसरे पद के आदि वर्ण का द्वित्व हो जायेगा।[5] अर्थात् पदान्त स्पर्श के उच्चारण में स्थान और

---

1. अपि चावसाने । ऋ0 प्रा0 6/18

2. पदान्तावग्रहयाश्च । च0अ0 1/45
3. समासे अवग्रहो ह्रस्वसमकाल वा0 प्रा0 5/1
4. स्पर्शान्तस्य स्थानकरणविमोक्ष: । वा0 प्रा0 1/40
5. स्पर्शान्तस्य पदस्य स्थानकरणविमोक्ष: । कर्तव्य: । अन्येन प्रयत्नेनान्यत् पदमारब्धव्यम् । अन्यथा पदादेर्द्वित्वं भवति । वा0 प्रा0 1/90

करण का अलगाव करना नितान्त आवश्यक है । उवट के कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार उच्चरित न करके विना वायु का स्फोटन किये ही दूसरे पद के आदि वर्ण का उच्चारणकरना प्रारम्भ कर दिया जाय, तो पदान्त स्पर्श का दूसरे पद के आदि में स्थित वर्ण के साथ समीकरण हो जायेगा और इस प्रकार पदादि वर्ण द्वित्ववत् उच्चरित होने से पूर्ववर्ती पद का अन्तिम वर्ण अभिनिधान को प्राप्त हो जायेगा यथा- तद् न "3। अथर्व0 प्रा0 में पदान्त व्यंजनोंके अभिनिधान का एक अपवाद बताया गया है । इसके अनुसार शब्द के अन्त मे आने वाला स्पर्श के उच्चारण में श्वास कापूर्ण विमोचन होता था । जब किसी अन्त्य स्पर्श के बाद यदि कोई ऐसा व्यंजन आता है जिसमें कि जिह्वा की स्थिति और अधिक पराश्रयी होती है तो अन्य स्पर्शकापूर्ण स्फोटन होता है जिससे इसका अभिनिधान नहीं होता । यथा " वषट्कारेण" "त्रिष्टुब्गायत्री" अनुष्टुप् ततः इत्यादि में क्रमशः, ट, ब् तथा प् का पूर्ण रूप से स्फोटन होता है क्यों कि इनके बाद इनसे अधिक पराश्रयी व्यंजन क्‌ द् प् आए है ।
परन्तु कुछ ऐसे भी स्थल है । जहाँ पर अभिनिधान" होता है । यथा-
वाक् पश्यति, षट् तदा इत्यादि में क्रमशः क् और ट् का " अभिनिधान" हो जाता है क्यो कि इनके बाद अधिक अग्रस्थानीयव्यंजन आते हैं । इस सिद्धान्त पर यदि विचार किया जाय तो यह उचित ही प्रतीत होता क्यों कि जब किसी अग्रस्थानीय व्यंजन के पश्चात् कोई अधिक पश्चस्थानीय व्यंजन आता है तो मुख की विवृति के निकटस्थ होने के कारण प्रथम प्रकार के व्यंजन के लिए द्वितीय प्रकार के व्यंजन की अपेक्षा स्फोटने का अधिक अच्छा अवसर होता है।

ऋ० प्रा० के अनुसार स्वर्पी अन्तस्था के पूर्व आने वाला अनुनासिक अन्तस्था वर्ण भी अभिनिधान को प्राप्त करता है।[1] यथा- यय् यथं युजम्, इमर्लं लोगम्" इत्यादि में अनुनासिक यकार के बाद यकार एवं अनुनासिक लकार के बाद लकार आया है, जिससे पूर्ववर्ती अनुनासिक यकार एवं अनुनासिक लकार अभिनिधान को प्राप्त हो गये हैं। चतुरध्यायिका के अनुसार नासिक्य ध्वनियाँ ङ्‌ ण्‌ न्‌ का अभिनिधान" हो जाता है यदि बाद में हकार आवे तो।[2] ये नासिक्य किसी भी व्यंजन से पूर्व में रहने पर अनुस्वार में बदल जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वे अभिनिधान से बहुत अधिक प्रभावित हो जाते है। इसके ही अनुसार लकार के बाद ऊष्म वर्णआने से लकार का " अभिनिधान" हो जाता है। आचार्य शाकल के मत से भी ऊष्म वर्ण बाद में होने पर लकार का अभिनिधान हो जाता है।[3] परन्तु इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। परन्तु ल का अभिनिधान किन्हीं बोलियों में पाया जाता रहा होगा, क्योंकि रेफ और लकार के बाद किसी भी संघर्षी ध्वनि के आ जाने पर रेफ तथा लकार के स्वरूप वाली स्वरभक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

---

1. अन्तस्थास्वे स्वे च परेऽपि रक्ता:।

ऋ० प्रा० 6/19

2. लकार ऊष्मस्वपि शाकलेन।

ऋ० प्रा० 6/20

चारायणीय शिक्षा में अभिनिधान के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख मिलता है । इस सम्बन्ध इस शिक्षा का कहना है कि प्रत्येक वर्ग का प्रथम स्पर्श (अघोष अल्पप्राण स्पर्श) पंचम स्पर्श (नासिक्य व्यंजन) तथा अन्तस्था लकार एवं वकार का उच्चारण अपूर्ण (भुक्त) होता है अर्थात् इनका "अभिनिधान" हो जाता है यदि बाद में कोई अन्य स्पर्श आ रहा हो तो प्रत्येक वर्ग के दोनों अघोष स्पर्श का अभिनिधान हो जाता है ।[1] जब दो स्पर्श एक साथ आते हैं तो वे एक दूसरे को दबाते हैं ।[2] परन्तु जब ङ न् को छोड़कर अन्य कोई दो नासिक्यव्यंजन आये तो प्रयत्नपूर्वक उन्हें दबा दिया जाना चाहिए । यथा- "वाङ्नोपधक्ष्यति" में ।[3] इसमें सन्देह नहीं है कि चारायणीय शिक्षाकार ने "अभिनिधान" के सम्बन्ध में अति सूक्ष्मता से विचार किया है । परन्तु विचार करने का विषय यह है कि अघोष महाप्राण तथा घोष स्पर्श का ग्रहण क्यों नहीं नहीं किया गया । सम्भवतः इन व्यंजनो का सापेक्ष दृष्टि से शिथिल उच्चारण श्रोता को इतनी स्पष्टता के साथ प्रतीत नहीं हो सकता जितनी स्पष्टता के साथ अघोष अल्पप्राण स्पर्शों का । क्यों कि जब थ द् तथा ध् क्रमशः त्, द्द के समान अपूर्ण रूप में उच्चरित होते हैं । तो श्रोता को सम्भवतः परिचित

---

1. वर्गाणां प्रथमा भुक्ता भुक्ताश्चैव तु पंचमाः ।
   अन्तस्थानां लवौ भुक्तौ शेषाश्चान्येऽप्युक्षिताः ।
   वर्गे वर्गे द्विकं चाद्यं दशकं वर्ण- संचयम् ।
   परेषां सहयोगेन भक्ष्य वृत्तिः प्रशस्यते ।। चारा० शि० 8/8
2. परस्परं स्पर्शौ भुक्तौ वर्जयित्वा तु पंचमौ ।
   ङ·कारं पंचमैर्यत्र भोक्तव्यं तद् प्रयत्नतः चारा० शि० 8/8
3. यकारादि हकारान्तमष्टकं च परस्परम् । चतुश्चतुरो वापि त्वभक्ष्यं षोडशाक्षरम् ।। चारस० शि० 8/8

व्यंजन ही सुनायी देते है, यद्यपि उनकी अतिरिक्त महाप्राणता तथा घोषता का ह्रास हो जाता है, किन्तु जब प् क तथा व् का अपूर्ण उच्चारण होता है तो इससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि सम्भवत: श्रोता के लिए बहुत कम परिचित होती है । इसलिए अभिनिधान के लिए अघोष अल्पप्राण स्पर्शों को विशेष रूप से परिगणित किया गया है ।

चारायणीय शिक्षा में कहा गया है कि स्पर्श के बाद अन्तस्थ आने पर यह मदिरा की भाँति दोनों वर्गों से सम्बन्ध रखता है ।[1] यहाँ मदिरा का संकेत सम्भवत: उसके पेय तथा मादकता दोनो रूपों की ओर किया गया है । स्पर्श अंशत: स्पर्श ही रहता है किन्तु साथ ही अंशत: अनुवर्ती अन्तस्थ का भागी भी बन जाता है । दन्त्य स्पर्श के बाद य् आने पर स्पर्श का यह परिवर्तन यथार्थ रूप से दृष्टिगत होता है । यथा " अद्य " का प्राकृत में अज्ज हो जाता है। इसमें दन्त्य अपना स्पर्शत्व बनाए रखता है तथा साथ ही एक तालव्य स्पर्श संघर्षी भी हो जाता है। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में जैसा कि उल्लेख किया गया है कि स्पर्शतया अन्तस्था का संयोग शिथिल है और जो एक लकड़ी की गेंद के समान सरलता पूर्वक तोड़ी जा सकती है ।[2] चारायणीय शिक्षा में यह कहा गया है कि दसों ही अघोष स्पर्श" अभिनिहित" को प्राप्त होते हैं यदि बाद में कोई व्यंजन आता है ।[3] अभिनिधान को केवल दस अघोष स्पर्शों तक

1· स्पर्शा अन्तस्थसंयुक्ता मदिरेव द्विजातिभुक् । चारा० शि० 8/8

2· स्पर्शा असंवमा ये चान्तस्थाभिश्च संयुता: ।
दारुपिण्डेन ते तुल्या: श्लथबन्धा: प्रकीर्तिता । व०र०प्र०शि० 178

3· वर्गेवर्गे द्विकं चाद्यदशकं वर्ण संचयम् ।
परेषां सहयोगेन भक्ष्य- वृत्ति: प्रशस्यते । चारा० शि० 8/8

सीमित करने का तात्पर्य सापेक्ष भाव से है क्यों कि विकार इस बात को निर्देश करता है कि अघोष स्पर्श का अभिनिधान अधिक सामान्य रूप से होता है । यथा-" मरूद्भ्याम्, " वाग्भि:, " अर्वाण्देवा : इत्यादि में । कुछ कतिपय आचार्यों के मतानुसार कण्ठ्य स्पर्शों की स्थिति में "अभिनिधान" होता है[1] यथा-"सम्यक् स्रवन्ति" में सापेक्षता की दृष्टि से इसमें कण्ठ्य अन्य सभी स्पर्शों से मुख-विवर से अधिक दूरी पर होने के कारण उन स्पर्शों पर आता है जिन पर अभिनिधान प्राप्त होने की संभावना होती है । जिसमें जिह्वा के पश्च भाग को दबाया जाता है । इसके कारण पश्चस्वर अ तथा आ का उच्चारण अपूर्ण होता है । इसमें जिस प्रकार स्वर को दबाता है वैसा कण्ठ्य स्पर्श को भी । जिसके परिणामस्वरूप कण्ठ्य स्पर्श अभिनिधान को प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रक्रिया को ग्रस्त दोष नाम से जाना गया है।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अभिनिधान को प्राप्त होने वाला व्यंजन परवर्ती व्यंजन से संयुक्त नहीं होता तथा अपूर्ण उच्चरित हो जाता है अर्थात् बिना वायु स्फुटित हुए उच्चरित होता है । वस्तुत: संयुक्तोच्चारण में दोनों व्यंजनों के मध्य किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता है । परन्तु अभिनिधान में पूर्ववर्ती दोनों ही व्यंजनों के मध्य एक अल्प कालिक विराम

---

1. शाकलं प्रथमे स्पर्शे वर्गे । ऋ0 प्रा0 6/8
2. जिह्वामूलनिग्राहे ग्रस्तमेतत् । ऋ0 प्रा0 14/8
   ग्रास कण्ठ्यो : । ऋ0 प्रा0 14/12

आ जाता है, जिसके परिणामस्वरूप पूर्ववर्ती वर्णोच्चारण में वायु स्फुटित नहीं हो पाती । जिससे पूर्ववर्ती वर्ण अपूर्ण उच्चरित हो जाता है । यही अपूर्ण उच्चारण" अभिनिधान" कहलाता है ।

द्वित्व -

संस्कृत वाङ्मय में कभी- कभी किसी विशेष परिस्थिति में किसी व्यंजन का द्विधा उच्चारण हो जाता है, तो उसे "द्वित्व " या "क्रम " कहते हैं । इसके लिए शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में द्विरुक्ति तथा द्विर्भाव आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है । वस्तुत: " क्रम " शब्द "द्वित्व " का पर्याय है [1] तथा " क्रम " शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर "पग" अर्थ में किया गया है [2]। सामान्यत: " द्वित्व " सामान्यत: " द्वित्व ", या "क्रम" का प्रयोग "व्यंजन वर्णों के द्विरुच्चारण अर्थ में किया गया है । [3]

प्राय: अधिकांश शिक्षाग्रन्थों [4] तथा प्रातिशाख्यों [5] में द्वित्व का विधान किया गया है । इन ग्रन्थों में सामान्यत: "स्वर " के बाद में आने वाले

---

1 क्रमशब्दो द्वित्व पर्याय: तैत्ति० प्रा० (वि०भा०) 21/16
क्रमोनाम द्वित्वम्- तैत्ति० प्रा० (वैदि० भा० 21, 16

2. विष्णो : क्रमो सीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः क्रमेण चतुर: पादविन्यासान कुर्यात् । कात्या० सं० 13.1.16,

विष्णो : क्रमोस्यभिमातिहा गायत्रेण छन्दसा पृथिवीमनुविक्रमे---- । तैत्ति० सं० 1.6.5.2

3. स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते ।
संयोगादि: स क्रमो अविक्रमे सन् । ऋ० प्राति० 6.1
स्वरात् संयोगादि: द्विरुच्यते सर्वत्र। प्रा० प्र० शि० 13।

4. व०र०प्र०शि 147 से 197 तक, स्व०भ०ल०शि० 24.25 माण्डू० शि०122

क्रमश: --

संयोग के आदि का वर्ण द्वित्व जाता है ।

द्वित्व किये जाने वाले व्यन्जनों की संख्या -

द्वित्व किये जाने वाले व्यन्जनो की संख्या के सन्दर्भ में शिक्षाकार तथा प्रातिशाख्यकार एकमत नहीं है । लोमशी[1] तथा माण्डु की शिक्षा[2] के मतानुसार इक्कीस व्यन्जनो का द्वित्व किया जा सकता है । ये वर्ण हैं- प्रथम(कचटतप) तृतीय या मध्यम(गजडदव) अन्त्या(ङञणनम) , य व ल तथा श ष स । गौतमी शिक्षा तथा माण्डुकी शिक्षा भी उपरोक्त कथन से सहमति व्यक्त करते हुए कहतीं है कि परन्तु बारह व्यंन्जन ऐसे हैं जिनका द्वित्व नहीं हो सकता है । वे वर्ण हैं खछ ठ थ फ, घ झ ढ ध भ, र तथा ह ।[3] रकार का द्वित्वीकरण के सम्बन्ध में वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा का मत है

से 150 तक , गौ0शि0 लो0 शि0 इ, व्या0 शि0 परि0 शि0 ना0 शि0, व0 शि0 चा0 शि0 आदि शिक्षाओं में ।

5• ऋ0 प्रा0 6/1 से 6/15 तै0 प्रा0 14/1 से 14/7 तक वा0 प्रा0 4/101 से 41/107 तक तथा 4/16 से 4/18 तक वे0 अ0 3/26 से 3/32तक

1• वर्णा विंशतिरेकश्च येषां द्विभावि इष्यते ।
प्रथमान्त्यास्तृतीयाश्च यलवा: शषसै सह । लो0 शि0 2/6

2• वर्णा: विंशतिरेकश्च येषां द्विभावि इष्यते ।
प्रथमा: मध्यमा चान्त्या: यवला: शषसा स्तथा ।मा0शि0 122

3• अथ सर्वेषां व्यंजननानां द्विभावो भवति ।
द्वादशाक्षरवर्जं ते खछठथफा घझढध भा रहयोश्चेति ।।

गौ0 शि0 3 क्रमश-----

कि सकार का द्वित्व मात्र दो स्थलों पर होता है, यथा- शास्त्व तथा रास्त्व में, इसके अतिरिक्त कहीं भी द्वित्व नहीं होता है ।[1] हकार का द्वित्व होने के सम्बन्ध में शिक्षाकारों तथा प्रातिशाख्यकारों में मतैक्य नहीं है । गौतमी शिक्षा, माण्डुकी शिक्षा तथा अथर्वप्रातिशाख्य के मतानुसार हकार का द्वित्व नही होता है ।[2] उपरोक्त मत से सहमति व्यक्त करते हुए हारीत का कथन है कि हकार का द्वित्व नहीं होता है।[3] यथा - दुदुहे । अह्य: ।। परन्तु वारायणीय शिक्षा के मतानुसार हकार का द्वित्व होता है।[4] यथा ह्ह्रदम् । अह्ह्रुतम् । ह्ह्रियते । वारायणीय तथा लोमशी शिक्षा[5] के अनुसार र तथा य के मध्य में आने वाला ह् भी द्वित्व हो जाता है । यथा एतर्ह्ह्यग्निः । इस

र रेफे वा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित् ।

न च वर्गद्वितीयेषु न चतुर्थे कदाचन । माण्डु0शि0 ।23

1• सकारस्य द्विरुक्तिर्या सा द्वयोरेव नान्यत: ।

आ च शास्त्वा च रास्त्वे यत् सकारोऽत्र द्विरुक्तित: ।। व0र0प्र0शि0।6।

2• अथ सर्वेषां व्यन्जनानां द्विभावो भवति ।

द्वादशाक्षरवर्जं ते खछठथफा घझढधभा रहयोश्चेति ।। गौ0शि03

न रेफे वा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित् । माण्डु0 शि0 ।23
अथर्व प्र0 3/31

3• रेफपरश्चहकार: । तैत्ति0 प्र0 ।6/9

4• हरो यत्र नियुज्येते हकार: क्रमते तदा ।
अह्ह्रुतं ह्ह्रियते ह्ह्रादिनी ह्ह्रदं च निदर्शनम् । वा0शि0

5• रेफपूर्वो हकारस्तु रेफात् परमथापि वा ।

अनुस्वारात् परो यत्र हकार: क्रमति त्रिषु । लो0शि0 7/5

शिक्षा के अनुसार र या अनुस्वार के बाद र से पूर्व ह् द्वित्व होता है। यथा वरहह । सिंहह् । हहादिनी । परन्तु इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। ऋक् प्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट का कथन है कि विकल्प से ह् का द्वित्व किया जा सकता है।[1] यथा- ह्ह्वयामि अग्निम् ।

द्वित्व के नियम -

1. स्वर के बाद, व्यन्जन-संयोग के आदि वर्ण का द्वित्व- प्राय: अधिकांश शिक्षाकार[2] तथा प्रातिशाख्यकार[3] इस मत से सहमत हैं कि स्वर के बाद में आने वाला संयोग के आदि का वर्ण "द्वित्व" हो जाता है। यथा- सम्म्यक्क्स्रवन्ति सरित: । अनुष्टुप्प्शारदी इषेत्त्वा । आच्च्या जानु । अश्व: । अग्ग्नेरनीकम् । धान्न्यमसि । पृथिव्व्या: पुरीषम् इत्यादि

---

1. वोष्मा संयुक्तोऽनुपध: । ऋ0 प्रा0 6/2 पर उवट भाष्य ।
2. संयोगादिस्वराद्द्वित्वं प्राप्नोतीति विदुर्बुधा: । व0र0प्र0शि0 147
   स्वरपूर्वमियाद् द्वित्वं व्यन्जनं व्यन्जने परे । व्या0 शि0
   स्वरात् संयोगादि: द्विरुच्यते सर्वत्र। प्रा0 प्र0 शि0 13।
   स्वरादिद्त्वमाप्नोति व्यन्जनं व्यन्जने परे । माध्यं शि0 2
   स्वरपरसंयोगादिर्द्वि: । स्व0अ0शि0 4/15
   सर्वत्र स्वरात्संयोगादि: क्रामति रेफहकारवर्जम् । गौ0शि0 3
3. स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते । संयोगादि स क्रम अविक्रमे सन् । ऋ0 प्रा0 6/1
   स्वरपूर्वंव्यन्जनं द्विवर्णं व्यन्जनपदम् । तैत्ति0 प्रा0 14/1
   स्वरात् संयोगादि: द्विरुच्यते सर्वत्र । वा0 प्रा0 4/101
   संयोगादि: स्वरात् ।च0अ0 3/18
   रात् सम्- ऋ0 त05/289

महर्षि पाणिनि के अनुसार इस प्रकार का द्वित्व विकल्प से होता है।[1] परन्तु यह नियम सर्वत्र मान्य नहीं है। प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा तथा वा० प्रा० के अनुसार स्वर से पर तथा संयुक्त व्यन्जन से पूर्व स्थित "अनुस्वार" को द्वित्व नहीं होता है।[2] यथा इमं स्तनम्। प्रा० प्र० शि० वा० प्रा० तथा च०अ० के मतानुसार सवर्ण पर में होने पर संयोगादि वर्ण का द्वित्व नहीं होता है।[3] यथा- संयुयोमि व०र०प्र० शि०, प्रा० प्र०शि०, वा० प्रा० तथा तै० प्रा० के मतानुसार यम बाद में होने पर स्वरोपहित संयोग का आदि व्यन्जन द्वित्व को नहीं प्राप्त होता है।[4] यथा सक्थ्ना। यक्का। व०र०प्र०शि०तथा प्रा० प्र० शि० के मतानुसार ङकार तथा नकार को छोड़कर अन्य वर्ण का द्वित्व नहीं प्राप्त होता यदि ऋवर्ण परे हो तो।[5] यथा अनिष्टत:। लृवर्ण पर में होने पर भी संयोग का आदि व्यन्जन का द्वित्व नहीं होता है।[6]

---

1. अनचि चारति को० 8.4.47
2. अनुस्वारो न द्विरूच्यते। प्रा०प्र०शि० 4
   नानुस्वार:। वा० प्रा० 4/11
3. सवर्णेत्परे व्यन्जनं द्विर्न्भवति। प्रा० प्र० शि० 142
   सवर्णे। वा० प्रा० 4/112, संस्थाने। च०अ० 3/30
4. द्विरूक्ति: वर्ज्योन्नित्यं यमे पि परत: स्थिते। व०र०प्र०शि० 171
   यमे पदे न द्वित्त्वम्। प्रा० प्र० शि० 144 यमे- वा०प्रा० 4/15
5. ऋवर्णे न द्विरूक्ति: स्यात् ङनकारौ विहाय। व०र०प्र०शि० 168
   ऋवर्णे परे न द्विरूक्तिर्भवति। प्रा०प्र०शि० 143
6. लृवर्णेऽपि तथैव स्यात्। व०र०प्र०शि० 169

यथा क्लृप्तम् । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि द्वित्व का विधान कुछ विशेष स्थितियों में क्रियाशील होता है ।

जहाँ पर स्वरोपहित तथा संयुक्त व्यन्जनों से पूर्ववर्ती अनुस्वार" होता है वहाँ अनुस्वार के बाद में स्थित व्यन्जन - संयोग के प्रथम अंग को द्वित्व किया जाता है । [1] यथा- वंद्दय । परन्तु व्यास शिक्षा के मतानुसार अनुस्वार के परवर्ती न केवल व्यन्जन संयोग के आदि वर्ण का द्वित्व होता है बल्कि व्यन्जन- संयोग से पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर के बाद आने वाला अनुस्वार भी स्वयं द्वित्व हो जाता है । [2] पारिशिक्षा के मतानुसार अनुस्वार एक व्यन्जन है । जिसका उच्चारण अर्द्ध ग के सदृश होता है[3]। इसलिए अनु का उच्चारण व्यन्जन-वत् होता है, अस्तु यह व्यन्जन संयोग का प्रथम अंग हो गया । परन्तु अन्यत्र इसका कोई विधान नहीं मिलता है[4]।

जहाँ पर स्वर के अनन्तर रेफ और हकार व्यन्जन - संयोग के प्रथम

1• ह्रस्वादनुस्वार इया द्विवर्ण - - - -अथवागम : स्यात । परि0शि062

0• स्वानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते संयोगादि: । ऋ0 प्रा0 6/1

2• ह्रस्वाद् द्वित्वमनुस्वार: प्राप्नुयात् संयुते परे ।

तदनुस्वार पूर्वश्च संयोगादिद्विरुच्यते । व्या0 शि0 5•6,

3• • यजुष्यनुस्वार इहापि यत्र, भवेद्धयर्धराकारयुक्त: ।

परि0 शि0 161

4• वाज0 प्रा0 4/109

वर्ण के रूप में स्थित होता है वहाँ संयोग के प्रथम वर्ण रूप रेफ और हकार का द्वित्व न होकर उनसे परवर्ती संयोग के द्वितीय वर्ण को "द्वित्व" प्राप्त होता है। यथा- सूर्योऽथ। सर्व्वेभ्य:। पूर्व्व:। नम: पर्ण्याय। नम: पर्य्याय। त्रिपाद्दूर्ध्व। वाह्व्वो। प्रातिशाख्यों में भी इस नियम का विधान किया गया है।[2] परन्तु रेफ और हकार से परवर्ती व्यन्जन यदि अवसान में हो तो उसका "द्वित्व" नहीं होता है[3]। यथा- उर्व् ऋ०प्रा० के मतानुसार संयोगादि में विद्यमान ऊष्म

---

1. परं रेफहकाराभ्यां व्यन्जनं तूष्मवर्जितम्।
   द्वित्वमापद्यते रेफहकारौ न तु कुत्रचित्। व०र०प्र०शि० 150
   रेफहाराभ्यां परं व्यन्जमेव द्विरूच्यते न रेफहकारौ। प्रा० प्र०शि० 133
   हरौ नयश्च: पूर्वौ निमित्तं व्यन्जनस्य च " मा०य०शि० 2
   स्वरपरसंयोगादद्वि:। रहाभ्यां परस्परश्चोष्मान्तस्थाभ्य:।
   स्व०अ०शि० 4/15
   न रेफे वा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित्। मा०शि० 32
   सर्वत्र स्वरात्संयोगादि: क्रामति रेफहकारवर्जम्।
   ताभ्यां परं क्रामति। गौ०शि० 3,
   न रेफे वा हकारे वा द्विर्भावो जायते क्वचित्। ना०शि० 6
2. परं रेफात्- ऋ० प्रा० 6/4 रेफात्परं च तै० प्रा० 14•4, परं तु रेफहकाराभ्याम- वा० प्रा० 4/102, रहात् अ० तं० 5•270 रेफहकारौ परं ताभ्याम्। च० अ० 3•3।

वर्ण आर्थात् हकारः आदि से पर वर्ण का "द्वित्व " विकल्प से होता है।
महर्षि पाणिनि के मतानुसार भी " द्वित्व " विकल्प से होता है ।[2]

द्वित्व का विधान मात्र संयोगादिस्थ रेफ तथा हकार से पर वर्ण तक ही सीमित नहीं है बल्कि संयोगादिस्थ समस्त " ऊष्म " ‖ श ष स ह ‖ तथा अन्तःस्थ‖ य,र,ल,व‖ व्यंजन से पर स्पर्श वर्ण को द्वित्व हो जाता है।[3]
यथा- दधिक्क्राव्ण्णः । शल्मलिः । बृहस्प्पतेः । राष्ट्रम् । प्राह्ण्ज्जितम् । नमस्त्ते स्त्तु । नमो स्त्तुरुद्देभ्यो । प्रातिशाख्यग्रन्थों मेंभीद्विरुच्चारण की उपर्युक्त प्रक्रिया दृष्टिगत होती है वा० प्रा० के अनुसार स्वरोपहित एवं संयोगादिस्थ सभी ऊष्म अन्तःस्थ वर्ण से पर स्पर्श वर्ण को द्वित्व होता है ।[4] परन्तु प्रातिशाख्यों में इस नियम का आंशिक रूप ही उपलब्ध होता है "ऊष्म" से पर वर्ण के " द्वित्व" को ऋ० प्रा० तथा ऋ० तं० के कर्ता ने स्वीकार किया है।[5]
परन्तु अन्तःस्थ से पर "द्वित्व " के सम्बन्ध में ऋ० प्रा० केवल लकार से परवर्ण के "द्वित्व को अंगीकार किया है ।[6] जब कि तै० प्रा० में लकार और वकार से पर वर्ण के द्वित्व को मानता है ।[7] परन्तु व०र०प्र० शिक्षा० प्रा० प्र० शिक्षा

1• ऊष्मणो वा - ऋ० प्रा० 6/6

2• अनचि च सि०कौ० 8•4•47

3• ऊष्मान्तस्थापरः स्पर्शो द्वित्वमापद्यते । व०र०प्र०शि० 154

स्वरपूर्वाः शषसहाः अन्तस्थाश्च तथा यदि ।

निमित्तभूताः द्वित्वस्य स्पर्श एवन संशयः । माध्यं शि० 3

ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः । प्रा० प्र० शि० 133

4• ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्श- वा० प्रा० 4/103

5• "ऊष्मणोवा " ऋ० प्रा० ऊष्मा व्यंजने ऋ० तं० 5/27

6• परं रेफाद् 6/4 स्पर्श एवं लकाराद् ऋ० प्रा० 6/5 क्रमशः --

तथा वा० प्रा० का मत है कि यदि "ऊष्म" एवं "अन्तस्थ" संज्ञक वर्णों से पूर्व में स्वर नहीं है तो संयोगादि होने पर भी उससे पर स्पर्श को द्वित्व नहीं होता है।[1] यथा- स्थालीभिः, विः स्कम्भनीः। द्वित्व का विधान वहाँ भी क्रियाशील नहीं होता है जहाँ पर स्वरोपहित संयोगादिस्थ "ऊष्म" एवं अन्तस्थ" से पर स्पर्श के बाद में ऋकार आता है।[2] यथा- अनिष्कृत, हविष्कृतेहि। "ऊष्म" तथा "अन्तस्थ" से पर जहाँ पर स्पर्श वर्णों का ही परस्पर संयोग हो वहाँ पर पूर्ववर्ती स्पर्श- व्यंजन को द्वित्व नहीं होता है।[3] यथा- पक्ष्मापि सूक्ष्मा। यहाँ पर क + ष को द्वित्व न होकर "म" को द्वित्व होता है। तै० प्रा० को वैदिकाभरण भाष्य में कहा गया है कि यदि स्पर्श-वर्णों का ही परस्पर संयोग होता है, तो उसमें पूर्ववर्ती स्पर्श श्रुतिगोचर नहीं

---

7. लवकारपूर्वस्स्पर्शश्च पौष्करसादेः तै० प्रा० 14.2

------

1. यदि वास्वरपूर्वाः स्युरूष्मान्तस्था न तत्परः। व० र० प्र०शि० 156

   नास्वरपूर्वा ऊष्मान्तस्थाः। प्रा० प्र० शि० 136

   नास्वरपूर्वाः ऊष्मान्तस्थाः वा० प्रा० 4/106

2. ऋवर्णे न द्विरुक्तिः स्यात्। व०र०प्र०शि० 168

   ऋवर्णे परे न द्विरुक्तिर्भवति। प्रा० प्र० शि० 143

   ऋवर्णे वा० प्रा० 4/113

3. यत्र वोभयतः स्पर्शैः संयुक्ताः शषसाः सहाः।

   तत्र नाद्यः क्रमो ज्ञेयो नापरो बोधितो बुधैः।

   पक्ष्मापि वाक्ष्य सूक्ष्मा च विश्वप्स्न्या च तथा पुनः।

   नेदृशेषु द्विरुक्तिः स्यादिति प्राहुर्मनीषिणः॥

होता है[1]। वा०प्रा० मेंभी द्वित्व की यह प्रक्रिया मिलती है।[2]

2• विसर्गोपहित संयोगादिस्थ व्यंजन को द्वित्व होता है अर्थात् जहाँ पर विसर्जनीय से पर संयुक्त व्यंजन आता है तो संयुक्त व्यंजन के आदि का वर्ण" द्वित्व" हो जाता है।[3] यथा- युंजान: प्रथमम् देव सवित: प्प्रसुव: विष्णो: क्क्रम:, वरुण: प्प्राविता। प्रातिशाख्यों में वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी न द्वित्व की यह प्रक्रिया उपलब्ध होती है।[4] परन्तु विसर्जनीय से परवर्ती व्यंजन के बाद यदि ऋकार आता है तो ऐसे व्यन्जन स्पर्श को द्वित्व नहीं

प्रा०प्र०शि० 2, व०र०प्र०शि० 157-159

स्पर्शपूर्वा: य रलवा: स्पर्शपूर्वा: शस्तथा।

व्यंजनस्य तत: पूर्वद्विधा भावं न चाप्नुयात्।। मा०य० शि० 4

1• परस्परेण संयोगस्पर्शानां तु भवेद्यदि।

तत्पूर्वस्य श्रुतिर्नास्ति प्राहुस्तेषामिदंमतम्। तै० प्रा० 14•27 पर वैदिकाभरण

2• येस्तु परं तेन पूर्वम्- वा० प्रा० 4/105

3• विसर्जनीयाच्च परो य: स्पर्शो व्यंजनोदय:।

सोऽपि द्वित्वमाप्नोति युंजान: प्प्रथमम्यथा।। व०र०प्र०शि० 160

विसर्गाच्च पर: कादिर्व्यं नात्किल पूर्वग:। मा०य०शि० 5

विजर्सनीयात्पर: स्पर्शो द्विरुच्यते। व्यंजनपरश्चेत्। प्रा०प्र०शि० 134

कादिप बवर्गाणां द्वित्वं विसर्गात् के०शि० 6

4• विसर्जनीयाद्व्य जनपर:। वा० प्रा० 4/107

होता है।[1] यथा अनिष्कृत:, हविष्कृतो हि । "द्वित्व" की यह प्रक्रिया वहाँ भी क्रियाशील नहीं होती है जहाँ पर विसर्जनीय से परवर्ती व्यंजन के बाद लृकार आता है।[2] यथा- वृद्धि: क्लृप्तम् ।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में "विसर्जनीय" से परवर्ती व्यंजनो के द्वित्व के विधान की कोई प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं होता है । तै०प्रा० में प्रतिपादित द्वित्व के विधान में एवं उपर्युक्त द्वित्व की प्रक्रिया में आंशिक अन्तर है।[3] जहाँ शिक्षाग्रन्थों तथा अन्य प्रातिशाख्यो में विसर्जनीय से पर केवल उस व्यंजन को "द्वित्व" होता है जिसके पर व्यंजन हो, वहीं पर तै० प्रा० में "विसर्जनीय" से प्रत्येक व्यंजन को द्वित्व हो जाता है चाहे उसके पर व्यंजन हो या न हो।[4] यथा-

---

1. ऋवर्णे न द्विरुक्ति: । व० र० प्र० शि० 168

   ऋवर्णे परे न द्विरुक्तिर्भवति । । प्रा० प्र० शि० 143

2. लृवर्णेऽपि तथैव स्यात् - व०र०प्र०शि० 168

   लृवर्णे वा० प्रा० 4/114

3. व०र०प्र०शि० 160, माध्यं०शि० 5 प्रा०प्र०शि० 134 के०शि०6 वा०प्रा० 4/107

4. अघोषादूष्मण: पर: प्रथमोऽभिनिधानस्पर्शपरात्तस्य सस्थान: ।

   तै० प्रा० 14·9

यः क्कामयेत् । द्वित्व की इस प्रक्रिया को अभिनिधान रूप आगम के रूप में स्पष्ट किया गया है । यद्यपि कि अन्य प्रातिशाख्यों में विसर्जनीय से परवर्ती व्यंजन के द्वित्व के विधान के सम्बन्ध में स्पष्टतः कोई उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु प्रायः सभी प्रातिशाख्यों में पदवसान में विद्यमान "विसर्जनीय" के द्वित्व को अस्वीकार किया गया है ।[1] प्रा०प्र० शिक्षानुसार भी पदवसान में विद्यमान "विसर्जनीय" को द्वित्व नहीं होता है।[2]

3. पदान्त व्यंजन का भी द्वित्व हो जाता है अर्थात् ह्रस्व स्वर के बाद एवं किसी भी स्वर से पूर्व आने वाले ङ्कार और नकार का द्वित्व हो जाता है ।[3] यथा- युङ्ङ्सि, अस्मन्नर्जम्, अन्नमिदन्त । केवल शिक्षा ग्रन्थों में ही द्वित्व की यह प्रक्रिया उपलब्ध नहीं होती है बल्कि प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में भी पदान्तस्थ ङ्कार और नकार का द्वित्व हो जाता है जिनके पूर्व ह्रस्वस्वर तथा पर में कोई स्वर होता है ।[4] व्यास एवं पारिशिक्षा के

---

1. अवसानेर विसर्जनीया जिह्वामूलीयोपध्मानीया: । तै० प्रा० 14/15
विसर्जनीयः । वा० प्रा० 4/116, च०अ० 3/29

2. विसर्जनीयः । प्रा० प्र० शि० 144

3. ह्रस्वपूर्वौ ङनौ पदान्तौ द्विः स्वरोदयौ । व०र०प्र०शि० 162
ह्रस्वपूर्वौ नङौ द्वित्वमापद्येते पदान्तरौ ।
अपि स्वरतरावेवश्लिष्टौ भवति नान्यथा । माध्य० शि० 50,
पदान्तस्थौ ङकारनकारौ स्वरे परे ह्रस्वपूर्वौ द्विरूच्यते । प्रा० प्र० शि०13

4. पदान्तीयो ह्रस्वपूर्वौ ङकारा नकारश्च क्रामत उत्तरे स्वरे ।
ऋ० प्रा० 6/15
ह्रस्वपूर्वौ ङकारो द्विवर्णम् । नकारश्च । तै० प्रा० 9/18,19
ङनौ चदह्रस्वपूर्वौ स्वरे पदान्तौ । वा० प्रा० 4/108

क्रमशः ---

मतानुसार यद्यपि अन्त्य व्यंजन द्वित्व रूप में लिखे जाते हैं परन्तु उनका उच्चारण केवल एक बार ही किया जाना चाहिए।[1] किन्तु जब इनके आगे कोई व्यंजन आ रहा हो तो इन नासिक्य व्यंजनो का सभी "अन्त्य" व्यंजनों के समान ये अन्त्य व्यंजन भी द्वित्व हो जाते हैं।[2] यथा- सम्यक्क स्रवन्ति। चारायणीय शिक्षानुसार सन्धिकाल में वर्ण द्वित्व हो जाते हैं। सन्धि न होने पर केवल ह्रस्व रूप में निर्दिष्ट होता है। संन्धि प्राप्त वर्णों को तैल की भाँति पीडित करना चाहिए तथा संन्धिहीन वर्णों के साथ पत्रों के सदृश व्यवहार करना चाहिए। जब पदान्त व्यंजन के उपरान्त कोई आदि व्यंजन हो तो पदान्त व्यंजन को नित्यरूप से द्वित्व हो जाता है।[3]

+• रेङन्त्यो प्रतिषेधे। ऋ० त०

ङ,णाना ह्रस्वोपधा: स्वरे। च० अ० 3/27

1• ह्रस्व द्विरूपवन्नादो यदेतं समुदुच्चरेद्, वर्णक्रमो विलकाले तु नान्य संयोगमुच्चरेत्। व्या० शि० 20/10

ह्रस्वात्परो नाद इह द्विरूपो वर्णक्रमे तं सकृदुच्चरेद ज्ञ:, ह्रस्वात्परो नादोऽवसाने पंचमो वर्णो द्विरूप वर्गो भवति। तथापि वर्णक्रमे वर्णक्रमो-क्तिकाले तं नादं सकृदेकवारमुच्चरेद ब्रूयात्। पारि० शि० 17 0

2• संयोगादि: स्वरादिद्वित्वं प्राप्नोतीति विदुर्बुधा:।

तत्पदान्त पदाद्योर्वा पदमध्येऽपि सर्वत्र:, सम्यक्क् स्रवन्ति सरित: सन्धौ तु पदयोर्यथा। व०र०प्र०शि० 147

3• सन्धि प्राप्तास्तु ये वर्णास्तेषां द्विभाव इष्यते, अभावे सन्धिना चैव

4• स्वरान्तर्वर्ती व्यंजनों का भी द्वित्व हो जाता है अर्थात् एक पद में दो स्वरों के मध्य में आने वाला व्यंजन द्वित्व हो जाता है। व्यास शिक्षा का कथन है कि जहाँ कहीं भी दो स्वरों के मध्य में द्वित्व हो, उसकी वास्तविकता केवल उच्चारण विशेष से ही आँकी जा सकती है तथा इसे किसी स्थिर नियम के अन्तर्गत निर्धारित नहीं किया जा सकता है।[1] वा० प्रा० के मतानुसार एकपद में स्वरों के मध्य में आने वाले दो वर्णों को श्वास का अवरोध करके एक वर्ण के समान उच्चरित करना चाहिए।[2] यथा- कुक्कुट इसी प्रकार का विधान ऋ० प्रा० में भी प्राप्त होता है। ऋ० प्रा० के अनुसार महाप्राण वर्ण अपने पूर्ववर्ती अल्प्राण वर्ण के सहित एक बार उच्चरित होता है।[3] यथा अब्भ्रातेव। व०र०प्र० शिक्षा के मतानुसार "द्वित्व" को प्राप्त वर्ण यदि वर्णों का द्वितीय स्पर्श होता है तो वह अपने वर्ग के प्रथम स्पर्श के साथ तथा यदि चतुर्थ स्पर्श है तो वह वर्ग के तृतीय स्पर्श के साथ उच्चरित होता है। यथा-

---

लघुत्वं चैव निर्दिशेत्। तैलवद् पीडयेद्वर्णान् संधि प्राप्तांस्तु सर्वदा, संधिना रहितांश्चैव पर्ववच्च समाचरेत्। व्यंजनान्तं पदं पूर्वं तद् वर्णं चापरं भवेत् द्विभार्वं ते विजानीयात् सन्धिकाले तु नित्यशः। चारा०शि०।

1• यत् क्वचित् स्वरयोर्मध्ये द्वित्वं पूर्वागमोऽपि वा उच्चारणादिना- स्पष्टं तदत्र न विधीयते। व्या०शि० पृष्ठ 18

2• द्विवर्णमेकवर्णवद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे। वा० प्रा० 4/144

3• सोष्मा तु पूर्व्येण सहोच्यते सकृत्स्वेन। ऋ० प्रा० 6/2

4• प्रथमैश्च स्ववर्गीयद्वितीया द्विभवन्ति हि।
तृतीयैस्तु चतुर्थाश्च विवक्षया याज्ञिकंयथा।। व०र०प्र०शि० 163,164

भ्यिक्सयाय, आजिघ्र, विभ्राट, ततभ्रमास:, दिग्भ्य: स्वाहा, पितृभ्य: स्वधाभ्य: इत्यादि ।

उपरोक्त द्वित्व" सम्बन्धी विधान अन्य शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में उपलब्ध होती है ।[1] उपरोक्त " द्वित्व" विधान पर चिन्तन करने के उपरान्त यह सिद्ध होता है कि वास्तव में वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ स्पर्श" सोष्मन्" या " महाप्राण" कहलाते हैं । महाप्राण शब्द का तात्पर्य है " वायु आधिक्य" अर्थात् इन वर्णों के उच्चारण में वायु- आधिक्य होने के कारण इन्हें " महाप्राण" कहा गया है । भाषा- वैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि जब दो " महाप्राण" व्यंजनो का उच्चारण होता है तथा जब उनके बीच कोई स्वर नहीं होता है, तब वायु- आधिक्य के कारण एक साथ उच्चारण करना सम्भव नहीं होता है क्योंकि इसमें जिह्वा को अभाध्य आयास करना पड़ता है। इसी दीर्घ आयास को अल्प करने के लिए दो महाप्राणों में से प्रथम का अल्पप्राणी हो जाता है "द्वित्व" प्राप्त द्वितीय स्पर्श प्रथम तथा चतुर्थ स्पर्श तृतीय को प्राप्त हो जाते हैं ।

555---

1 द्वितीया: प्रथमैश्चतुर्था स्तृतीयै: सह छिरूप्यन्ते । प्रा० पु० शि० 138

द्वितीयस्यप्रथमस्तुरीयस्य तृतीयक: । माध्य० शि० 4

प्रथमैर्द्वितीया स्तृतीयैश्चतुर्था: । वा०ज० प्रा० 4/110

स्वरपूर्वयोर्व्यंजनोत्तरयो द्वितीय चतुर्थयोस्तु पूर्व आगमो भवति यथा क्रमेण द्वितीयस्य प्रथम: चतुर्थस्यतृतीय: ।

तै० प्रा० 14/15 पर त्रि० भा०

केशवी शिक्षा के मतानुसार पूर्व में हल रहित अथवा सम् " संयुक्त पदादि के यकार और वकार को "द्वित्व" हो जाते हैं। यथा- व्वसो पविश्रम्। संय्यो मि, व्वनेषु व्वयन्तरिक्षम् व्वायु: पुनातु इत्यादि। केशवी शिक्षा तथा वा० प्रा० के छोड़कर अन्य शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में "द्वित्व" की इस प्रक्रिया का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि द्वित्व" या " क्रम " आगम की एक विधि है। जो कुछ विशेष स्थितियों में यदा- कदा किसी व्यंजन के पूर्व उसी व्यंजन का आगम हो जाता है अर्थात् वह व्यंजन पुन: उच्चरित हो जाता है। इस प्रकार मूल व्यंजन का दो बार उच्चारण होने से इसे " द्वित्व " या "क्रम" संज्ञा से जाना गया है। द्वित्व के फलस्वरूप उच्चरित होने वाले वर्ण को " क्रमज" तथा "द्विरुक्तिज" कहा जाता है।

"द्वित्व " का विधान सभी शिक्षाग्रन्थों में नहीं किया गया है। उपरोक्त "द्वित्व" विचार के उपरान्त यही ज्ञात होता है कि कतिपय शिक्षाग्रन्थों में ही द्वित्व" का विधान किया गया है। वर्णरत्नप्रदीपिका, प्रा० प्र० शिक्षा, स्वरभक्तिलक्षणशिक्षा, माण्डूकी, गौतम, लोमशी, व्यास, चारायणीय शिक्षा, वशिष्ठ नारदीय, माध्यंदिन, स्वराष्टक , पारिशिक्षा- तथा केशवी शिक्षाओं में ही द्वित्व सम्बन्धी नियम मिलते हैं। अन्य शिक्षाओं में "द्वित्व " के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है।

यम् -

वैदिक वाङ्मय में " यम" शब्द का बहु- प्रयोग किया गया है।[1]

---

1. ऋ० सं० 1·66·4, 3·39·3, 5·61·2 10·14·1, इत्यादि स्थलों पर तै० सं० 2·6·12·6, ऐ० ब्रा० 32·9 ईशा० उप० 16

वैदिक संहिताओं में "यम्" शब्द नियन्ता देव "यमराज" "लगाम" तथा युगल" आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। "यम्" शब्द "यम्" धातु से "घञ्" प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका शाब्दिक अर्थ- नियन्त्रण करना होता है। जब पन्चम वर्ण से पूर्व उससे भिन्न स्पर्श वर्ण का संयोग होता है तो दोनों वर्णों मे मध्य एक नासिक्य वर्ण का आगम हो जाता है, जिसके कारण पूर्ववर्ती स्पर्शवर्ण परवर्ती ध्वनिसे साथ संयुक्त होने से नियन्त्रित हो जाती है। नियन्त्रित होने से उनके उच्चारण में होने वाले संयोग का विच्छेद हो जाता है। यह स्पर्श विच्छेद ही यम है।[1] विच्छेद के कारण पूर्व स्पर्श सदृश् सानुनासिक ध्वनि का आगम होता है। इस आगम प्राप्त सानुनासिक ध्वनि के साथ पूर्वस्पर्श का युगल सम्बन्ध हो जाता है। उस जोड़े में द्वितीय को ही "यम" है, कहा जाता है, जोपंचम पञ्चर्णसे पूर्व होता है।[2] ऋ० प्रा० के मतानुसार आनुनासिक स्पर्श यम को प्राप्त हो जाता है यदि बाद में

---

1. अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वो अन्त्यश्च परतो यदि। तन्मध्ये
   यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्वगुणयोः। ना० शि० 2/24
   विच्छेदो यम इत्यनर्थान्तरम्। वा० प्रा० 4/163 पर उ० भा०
   विच्छेदो यम इति पर्यायः। वा० प्रा० 4/163 पर अ०भा०
2. स्वरात्संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः।
   तस्यैव यम संज्ञा स्यात् पन्चमैरन्वितो यदि। व०र०प्र०शि० 175

अनुनासिक स्पर्श हो ।[1] अन्य प्रातिशाख्यों में भी इस विचार मे सहमति व्यक्त की गयी है ।[2] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा के मतानुसार यदि अपंचम स्पर्श के पर मे पंचम स्पर्श आवे तो वहां पर यम की उत्पत्ति होती है[3]। यथा रुक्कँम् प्राप्प्ँमा, पदद्ँम इत्यादि । भारतीय भाषाविदों का ऐसा विचार है कि "यम" स्पर्श तथा नासिक्यव्यंजन के लिए किये गये करण स्पर्श काल में ही वायु का नासिका विवर से गुजरना होता है । भाषा विदो का ऐसा विचार है किनासिका विवर से वायु के गुजरने के कारण स्पर्शध्वनि का भी "अनुनासिकी करण" हो जाता है । किन्तु रुक्कँम में वस्तुत: जो बात घटित होती है वह स्पर्श ध्वनि का आनुनासिकीकरण नहीं अपितु "क" के स्फोटन काल में एक अघोष "ङ·" ध्वनि का आविर्भाव है तथा पद्दमँ में जो बात घटित होता है वह यह है कि "द्" के स्फोटन काल में एक "न्" का आविर्भाव हो जाता है । इस प्रकार यहां एक "अन्तर्वेधी ध्वनि" का अन्तर्निवेश हो जाता है, अर्थात् स्पर्श के स्फोटन काल में उसका अनुरूपी ई नासिक्य व्यंजन आ जाता है । इसप्रकार स्पष्ट होता है कि "यम वे ध्वनियां है जिनका कि स्पर्श और नासिक्य व्यंजनों के मध्य अन्तर्निवेश हो जाया करता है

1· स्पर्शा यमान् अनुनासिका: स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु

ऋ0 प्रा 06/8

2· अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यम: पूर्वगुण: । अ0 त0 2/2

3· अपंचमात् पदे नित्यं पंचमेषुपरेषु च ।

यमोत्पत्तिर्भवेत्तत्र रुक्कम्: पाप्प्मा निदर्शनम् ।।

व0र0प्र0शि0 174

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[1] के "यम्" सम्बन्धी विचार से सहमत होते हुए याज्ञवल्क्य शिक्षा का कथन है कि अपंचम स्पर्श के पश्चात् यदि पंचम स्पर्श आवे तो वहां "यम" की उत्पत्ति होती है।[2] वा० प्रा० में भी "यम" का ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[3] परन्तु वर्गों के अन्तिम स्पर्शों से पूर्व यदि "ऊष्म" या "अन्तस्था" संज्ञक वर्ण हो तो द्वित्व को प्राप्त होते हुए भी वर्ण को "यम" नहीं होता है। जैसा कि याज्ञवल्क्य शिक्षा में वा० प्रा० के उवट भाष्य के मतानुसार स्वर के बाद में स्थित संयोगादि स्पर्श का द्वित्व हो जाता है जिसमें द्वितीय वर्ण की यम संज्ञा होती है। यथा- रुक्क्मं। इसमें सर्वप्रथम ककार का द्वित्व हुआ है, पुन: द्वितीय ककार यम को प्राप्त हो गया है। आगे स्पष्ट करते हुए उवट कहते हैं कि यथा- त्मन्या" पद में द्वित्व न होने से तकार एवं मकार का संयोग होने पर भी उनके मध्य में यम नहीं हुआ है।[4] अन्य प्रातिशाख्यों में ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है।[5] तै०प्रा०

---

1. अपंचमात् पदे नित्यं पंचमेषु परेषु च।
   यमोत्पत्तिर्भवेत्तत्र रुक्क्मं पाप्प्मा निदर्शनम्।
   स्वरात्संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयक:।
   तस्यैव यम संज्ञा स्यात्पंचमैरान्वितो यदि।। व०प्र०शि० 174-175
2. अपंचमैश्च पदे संयुक्तं पचंमात्परम्।
   उत्पद्यते यमस्तत्र स: अंगं पूर्वाक्षरस्य हि। याज्ञ० शि० 213
3. अन्त: पदे अपंचम: पंचमेषु विच्छदम। वा० प्रा० 4/163
4. अत्र स्वरात्संयोगादि इत्यादिना ककारस्य द्विभावे कृते।
   अनेन सूत्रेण द्वितीयस्य ककारस्य यम इत्ययं कार्यक्रम क्रियते।
   वा०प्रा०-4/163-उ०भा०

क्रमश: ---

में विधान किया गया है कि अनुत्तम स्पर्श के बाद यदि उत्तम स्पर्श हो तो अनुत्तम स्पर्श के पश्चात् उसी के आनुपूर्वी नासिक्य ध्वनि का आगम हो जाता है।[1] अनुपूर्व्य का अर्थ त्रिभाष्यरत्न में "यथाक्रमात्" बतलाया गया है।[2] अन्य प्रातिशाख्यों में भी इस प्रकार का विधान मिलता है।[3] नासिक्यागम यथाक्रम से होने पर तात्पर्य यह है कि प्रथम स्पर्श के बाद प्रथम नासिक्य तथा द्वितीय स्पर्श के बाद द्वितीय नासिक्य का आगम होता है। इन्हीं नासिक्य ध्वनियों को "यम" कहते हैं। इसी प्रकार माण्डुकी की शिक्षा[4] तथा व्या0शि0[5] का कथन है कि स्पर्शों का उत्तम स्पर्शों के साथ संयोग होने पर उत्तम स्पर्श से पूर्व यम समझना चाहिए।

. ---- समन्यो" "समंजन" अत्र द्विरुक्तस्य भावात् वकारमकारयो संयोग: वा0प्रा0 4/163 पर उ0भा0

5. अनन्त्यान्त्यसंयोगे यम: पूर्वगुण:। ऋ0 त0 1/2

----

1. स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्या:। तै0प्रा0 21/12
2. उत्तमपरादनुत्तमात् स्पर्शात् आनुपूर्व्यात् यथाक्रमात् नासिक्यागम: भवन्ति, प्रथम स्पर्शात् प्रथमनासिक्या: द्वितीयात् द्वितीय: एवम्। अन्यत्रापि। तै0 प्रा0 21/12 पर त्रि0भा0
3. समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्। च0अ0 0 1/99
4. स्पर्शानामुत्तमै: स्पर्शै: संयोगाच्चेदनुक्रमात्। आनुपूर्व्या यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा। माण्डु0 शि0 116
5. यत्रोष्माष्मा विक्रते स्पर्शादुत्तमो ध्वेत्त्वनुत्तमात्। आनुपूर्व्याऽमानेतान्वर्पयन्त्यागमान् बुधा:॥ व्या0शि0 355

अत्यन्त मनोरंजक शैली में कहा गया है कि जिस प्रकार से मृतक के बान्धव दाहसंस्कार के अनन्तर श्मशान से भी वापस चले जाते हैं उसी प्रकार ऊष्म स्पर्श श, ष स तथा अन्तस्थ (य व र ल) स्पर्श से संयुक्त होकर पर "यम" होने से लौट आते हैं अर्थात् उनका " यम "नहीं होता है।[1] इसी प्रकार माण्डूकी शिक्षा तथा नारदी शिक्षा में भी उल्लेख मिलता है ।[2] इसी प्रकार तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मतानुसार भी ऊष्म तथा अन्तस्था को " यम " नहीं होता है।[3] परन्तु ऋ० प्रा० में केवल ऊष्म स्पर्श का ही उल्लेख किया गया है ।[4] इसमें कहा गया है कि ऊष्म-प्रकृतिक अर्थात् ऊष्म वर्ण से उत्पन्न होने वाले स्पर्श अपने यमों को प्राप्त नहीं होते हैं[5]। वा० प्रा० में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[6] परन्तु तै० प्रा० में ऐसा उल्लेख मिलता है कि हकार (ऊष्म" को "यम" होता है । ऐसा ही उल्लेख चतुराध्यायिका में भी मिलता है[3]।

---

1. पंचमा: शषसैर्युक्ता अन्तस्थैर्वापि संयुता: ।
   यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादि बान्धवा: । या० शि० 2।4
2. वर्गान्ता यत्र दृश्यन्ते शषसै: सहसंयुता: ।
   यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवा: । माण्डू० शि० ।।8
   वर्गान्त्या न्छषसै: सार्धमन्तस्थैर्वापि संयुतम् ।
   दृष्ट्वा यमा निवर्तन्ते आदेशिकमिवाध्वगा: । ना०शि० 2•।•9
3. वर्गान्तं शषसैस्सार्धमन्तस्थाभिश्च संयुतम् । दृष्ट्वा यम: निवर्तन्ते
   सिंह दृष्ट्वा यथा गज: । ऊष्मप्रकृतिकात्स्पर्शात्पंचम: परतो यदि ।
   तत्र नैव यमोत्पत्ति: इष्यते नात्र संशय: । तै० प्रा० 21/13 पर वै०भा०
4. न स्पर्शस्योष्मप्रकृते: प्रतीयाद्यमापत्तिम् । ऋ० प्रा० 6/30
5. ऊष्मन्य: पंचमेषु यमापत्तिर्दोष: । वा० प्रा० 4/164

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में यम से युक्त संयोग को "लोहपिण्ड" के समान बतलाया है। जिस प्रकार लोहपिण्ड आसानी से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार इन ध्वनियों को पृथक् पृथक् करके उच्चरित करना दुष्कर है[1]। परन्तु यम से रहित संयोग को "ऊर्णापिण्ड" के समान बतलाया है अर्थात् जब ऊष्म स्पर्श के बाद यम नहीं होता है तो ऐसे संयोग को "ऊर्णापिण्ड" के समान कहा गया है[2]। जिस प्रकार ऊनके गोले में दो तागों का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता है उसी प्रकार इस संयोग में दोनों ही परस्पर अलग-अलग होती है तथा उनमें कोई विकार नहीं होता है।

उपर्युक्त विवेचन से शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में दो प्रकार की विचारधाराओं का दर्शन होता है। पाणिनि शिक्षा पर पंजिकाभाष्य में यह कहा गया है कि नारद तथा औद्व्रजि प्रभृति आचार्यों ने "यम" को आगम माना है, किन्तु आचार्य शौनक "यम" को वर्णापत्ति मानते हैं[3]। ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार "यम" को वर्णापत्ति तथा अन्य प्रातिशाख्यों के मतानुसार

---

6. हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्। तै० प्रा० 21/14

7. हकारान्नासिक्येन। च० अ० 1/100

----

1. स्पर्शानां पंचमैर्योगे चत्वारो ये समाः स्मृताः।
   अयःपिण्डेन ते तुल्याः घनबन्धाः प्रकीर्तिताः। व०र०प्र०शि० 176

2. यमास्तदा निवर्तन्ते ऊष्मामध्ये भवेद् यदि।
   ऊर्णापिण्डेन ते तुल्या पाशैस्तमन्न्या निदर्शनम्।। व०र०प्र०शि० 177

3. इति नारदौद्व्रज्योर्मतेन यमो वर्णागमो इति विधीयते ++-- ।।
   अन्यं तु यमं वर्णापत्तिं मन्यन्ते। तथा च शौनकः। स्पर्शा

"यम" को आगम स्वीकार किया गया है । ऋ0 प्रा0 के मतानुसार अनुनासिक स्पर्श अपने यमों को प्राप्त हो जाते हैं यदि बाद में अनुनासिक स्पर्श होते हैं । यम कोप्राप्त इन वर्णों का उच्चारण नासिका से होता है । इसलिए इन वर्णों को "नासिक्य" संज्ञा दी गयी है । ¹ इन वर्णों काउच्चारण स्थान नासिका होती है, परन्तु इसके साथ ही जो एक अन्य" प्रकृतिभूत स्पर्शवर्ण" है उसका उच्चारण स्थान "कण्ठ" है । यथा "पलिक्क्नी :" में ककार यम की प्रकृति है । अस्तु" यम" को प्राप्त ककार के दो उच्चारण स्थान है- नासिका तथा कण्ठ । "यम" का उच्चारण करते समय मुख में एकस्पर्शात्मक ध्वनि उच्चरित होती है जो अपने मूलभूत व्यंजन से अभिन्न होती है । इसीलिए "यम" को प्राप्तवर्ण नासिका स्थान के साथ ही पूर्ववर्ती वर्ण के उच्चारण स्थान से उच्चरित होती है । इस प्रकार दो स्थानों से उच्चरित होने के कारण दो स्थानों से जुड़ा है इसलिए इसे"यम" कहते हैं । द्वितीय मतानुयायी तै0 प्रा0 वा0 प्रा0 च0 अ0 तथा ऋ0 तं0 के अनुसार अनुनासिक स्पर्श वर्ण के बाद में होने पर अनुनासिक

+• यमाननननुनासिका: स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु ।

पा0 शि0 (प0 भा0)-4

1• नासिक्ययमानुस्वारान् । ऋ0 प्रा0 6/33

स्पर्श तथा अनुनासिक स्पर्श के बीच एक " नासिक्य वर्ण " का आगम होता है जिसे "यम" कहा जाता है । नासिक्य होने के कारण "यम" को प्राप्त वर्ण जहाँ एक ओर नासिका- स्थान से उच्चरित होता है वही दूसरी ओर "अनुनासिक स्पर्श" के उच्चारण स्थान से भी उच्चरित होता है । इसलिए "यम" को प्राप्त वर्ण एक ही समय दो उच्चारण स्थानो से उच्चरित के कारण "यम" कहा जाता है।

" यम " का स्वरूप

"यम " के स्वरूप के सम्बन्ध शिक्षाग्रन्थों का विचार पर्याप्त सराहनीय है । यद्यपि कि "यम" का उच्चारण तो किया जाता है परन्तु ग्रन्थों मेंकहीं भी इसे दर्शाया नहीं गया है । इसलिए शिक्षा ग्रन्थों का कथन कि " यम" अशरीरी " है ।[1] इस सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों में कोई उल्लेख नहीं मिलता है । वस्तुत: शिक्षाग्रन्थों ने उच्चारण- वैशिष्ट्य के आधार पर इसे" अशरीरी " कहकर अभिव्यक्त किया है । यमो की इस विशेषता को चतुर्धारराशरी[2]

---

1. अशरीरं यमं विद्यात् । याज्ञ0 शि0 203

   अमोघा शि 52, चपार0शि0 58 शै0शि0 ।

2. शून्यालये पिशाचो अपि गर्ज्जति न चा दृश्यते ।

   एवं वर्णा: प्रयोक्तव्या: उपज्जमन्निति निदर्शनम् ।

   च0 पार0 शि0 59

शिक्षा में अत्यन्त रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है कि जिसप्रकार से शून्य गृह में पिशाच गरजता तो है किन्तु दिखाई नहीं पड़ता है उसी प्रकार से "यम" का उच्चारण तो होता है परन्तु वह दिखाई नहीं पड़ता है। अमोघा-नन्दिनी शिक्षा में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[1]

यमों की संख्या

यमो की संख्या के विषय में शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में पर्याप्त मतमतान्तर है । इस मत से प्राय: सभी शिक्षा ग्रन्थ सहमत है कि यमों की संख्या मूलत: चार है । याज्ञवल्क्य शिक्षा[2] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[3] पाणिनीय शिक्षा[4] में गौतमी शिक्षा[5] शैशरीय शिक्षा[6] कुक्कुट तथा षोडश श्लोकी[7] शिक्षा तथा माण्डूकी शिक्षाओं में[8] यह उल्लेख मिलता है कि वस्तुत: यम चार ही हैं-

---

1. अमोघा० शि० 50
2. चत्वारो यमा: कुँ खुँ गुँ घुँ इति । याज्ञ० शि० 212
3. चत्वारश्च यमा: स्मृता: । व० र० प्र०शि० 14
   कुँ खुँ गुँ घुँ इति च ते चत्वारो नात्रपंचम: । व०र०प्र० शि० 27
4. चत्वारश्च यमा: स्मृता: पा० शि० 4
5. यामस्ते कुँ खुँ गुँ घुँ इति । गौ० शि० 2
6. चत्वारश्च यमा स्मृता: । शै० शि०
7. यमा: चत्वार: षो०श्लो० शि० 2
8. स्पर्शानुत्तमै स्पर्शै: संयोगान्वेदनुक्रमात् । आनुपूर्व्याद्यमा स्तस्मानीया-च्चतुरस्तथा । माण्डू० शि० 116

कॅ खॅ गॅ घॅ । परन्तु प्रातिशाख्यों में यमों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है । ऋ0प्रा0 के भाष्यकार उवट का कथन है कि यमों की संख्या यद्यपि कि बीस है परन्तु स्वरूपत: यम चार ही होते हैं[1]। वा0 प्रा0 में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[2] इस सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों का मत है कि प्रत्येक आनुनासिक स्पर्श के लिए एक "यम" है । अननुनासिक स्पर्श बीस हैं अत: यम भी बीस है । ऋ0 प्रा0 के भाष्यकार उवट ने सभी वर्गों के प्रथम स्पर्शों को प्रथम इकाई स्वीकारकर द्वितीय स्पर्शों को द्वितीय इकाई मानकर, तृतीय स्पर्शों को तृतीय इकाई स्वीकार कर तथा चतुर्थ स्पर्शों को चतुर्थ इकाई स्वीकार कर यमों की संख्या चार बताई है।[3] तै0 प्रा0 के भाष्यकार सोमाचार्य का भी ऐसा ही मत है ।[4] उपर्युक्त यमों को इस प्रकार स्पष्ट रूपेण दर्शाया जा सकता है ।

---

1. एवं विंशतिर्यमा बह्वृचानां भवन्ति स्वरूपेण चत्वार एव । ऋ0 प्रा0 1.50 पर उ0भा0

2. इति यमसंज्ञका: अपां विंशतिसंख्यका: भवन्ति ।। वा0 प्रा0 8.26 पर उ0भा0

3. तस्मादिह स्पर्शयमाननुनासिका इत्युच्यमाने विंशतित्वात्तथा-निनामादेशानामपि यमानां विंशतित्व प्रसंग: । स भा भूत् । चतुर्णामेव यमानां प्रथमा:प्रथमं, द्वितीया द्वितीयमेवमापञ्चमादापद्येरन्नित्युच्यते । ऋ0 प्रा0 6/29 पर उ0भा0

4. आनुपूर्व्याद् यथाक्रमं नासिक्या आगमा भवन्ति । प्रथम स्पर्शाद् प्रथमनासिक्य द्वितीयात् द्वितीय: एवं अन्यत्रापि । तै0 प्रा0 21/12 पर त्रि0भा0

1. अघोष अल्पप्राण यम- कँ, चँ टँ तँ पँ ।
2. अघोष महाप्राण यम- खँ , छँ ठँ, थँ, फँ
3. सघोष अल्पप्राण यम- गँ, जँ, डँ, दँ बँ ।
4. सघोष महाप्राण यम- घँ झँ, ढँ धँ भँ ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी ग्रन्थों में स्वरूपत: "यम" चार हैं पर सामान्य रूप से ये बीस हैं क्योंकि प्रकार के आधार पर इनका आविर्भाव " अघोष अल्पप्राण", एवं " महाप्राण" तथा सघोष अल्पप्राण" एवं " महाप्राण" इन चार रूपों में हो जाता है । इसलिए शिक्षा ग्रन्थों में यमों की संख्या चार बतायी गयी है ।

" यम" सम्बन्धी उल्लेख सभी शिक्षा ग्रन्थों में नहीं मिलता है । उपरोक्त "यम" विवेचन के उपरान्त यही ज्ञात होता है कि कतिपय शिक्षाग्रन्थों में ही "यम" का विधान किया गया है । व्यास शिक्षा नारदीय शिक्षा, वर्णरत्न - प्रदीपिका, याज्ञवल्क्य, पाणिनीय, अमोघानन्दिनी माण्डु की शिक्षा तथा चतुर्थी- पाराशरी शिक्षाओं में ही " यम" सम्बन्धी उल्लेख मिलता है। अन्य शिक्षाओं में "यम" के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है ।

अन्य उच्चारण- वैशिष्ट्य

अनुस्वार-

शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में अनुस्वार के सम्बन्ध पर्याप्त उल्लेख किया गया है । परन्तु अनुस्वार के स्वरूप के सम्बन्ध में शिक्षाग्रन्थों तथा

प्रातिशाख्यों में परस्पर मतवैविध्य है । कुछ ग्रन्थकारों के मतानुसार अनुस्वार शुद्ध अनुनासिकीकृत स्वर है जो कि म् तथा न का लोप होने के पश्चात् पूर्ववर्ती स्वर के साथ आश्रित होकर अनुनासिक रूप में उच्चरित होता है ।[1] कुछ ग्रन्थकारों के मतानुसार अनुस्वार या तो स्वर है या व्यंजन । अर्थात् इसका अभिप्राय यह है कि यह न स्वर है और न व्यंजन है ।[2] कुछ ग्रन्थकारों के मतानुसार अनुस्वार सम्पूर्ण रूप से एक व्यंजन है जिसका उच्चारण अर्धग् के समान किया जाता है।[3]

---

1. मोऽनुस्वारः । सि० कौ० 8·3·23

   नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिकः । च० अ० 1/67

   अनुस्वारो- - - ये वर्णा विज्ञेयास्तु पराश्रयाः । अन्यं वर्णं समाश्रित्य दर्शयन्ति निजं वपुः । वा० रा० शि० 1/1

   अनुस्वारो---- पराश्रयाः । व० र० प्र० शि० 50

   अनुस्वयते पश्चार्धे स्वरवदुच्चार्यते इत्यनुस्वारः । तै० प्रा० 1/18 पर उ०भा०

2. अनुस्वारं व्यंजनं स्वरो वा । ऋ० प्रा० 1/5

3. यजुष्वनुस्वार इहापि यद् भवेद्दर्धगकारयुक्तः । सर्वसं० शि० 43, अपि च पारि० शि० 161 ।

   अनुस्वारो व्यंजनं वा स्वरो वेति परमतं तस्मिन्नाससार्थमिदमुच्यते । अनुस्वारोऽप्युत्तमवद् व्यन्जनमेवा स्यच्छारवायामर्धगकाररूपत्वात् ।

   तै० प्रा० 2/30

याज्ञवल्क्य शिक्षा के मतानुसार अनुस्वार संयोगादिस्थ होने पर द्विमात्रिक होता है तथा रकार के पर में होने पर भी द्विमात्रिक होता है। अनुस्वार यदि ह्रस्वस्वर से परवर्ती है तो अधिक मात्रा काल वाला (दीर्घ) तथा यदि दीर्घ स्वर से परवर्ती है तो कम मात्रा काल वाला (ह्रस्व) होता है।[1] चूँकि एकमात्रिक द्विमात्रिक तथा ह्रस्व- दीर्घ ये सभी स्वर के गुण धर्म हैं इसलिए इस शिक्षा के अनुसार अनुस्वार स्वर है। इसी प्रकार चतुर्थीपाराशरी शिक्षा[2] द्वितीय लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा,[3] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा,[4] लोमशी शिक्षा[5] तथा लघु अमोघानन्दिनी" शिक्षा[6] आदि में उल्लेख मिलता है।

---

1. अनुस्वारो द्विमात्र स्याद्वर्ण व्यंजनोदये।
   ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घादिवानां हृदये यथा ।।
   अनुस्वारस्योपरिष्टात्संवृतं यत्र दृश्यते ।
   दीर्घवं तु विजानीयात् श्रोताग्रावाणकं यथा ।।
   अनुस्वारस्योपरिष्टात्संयोगो यत्र दृश्यते ।
   ह्रस्वं तं तु विजानीयात्संस्थामिति निदर्शनम् ।।
   अनुस्वारस्तु योदीर्घादक्षरात् भवेद परः ।
   स तु ह्रस्व इति प्रोक्तः मन्त्रेष्वेव विभाषया ।। याज्ञ0 शि0 139-142
2. अनुस्वारस्योपरिष्टात्संयोगो दृश्यते यदि ।
   ह्रस्वत्वं विजानीयात्तंसभागास्येति निदर्शनम् ।
   अनुस्वारस्योपरिष्टा त्संवृतं यत्र दृश्यते ।
   दीर्घ तु तं विजानीयात् श्रोता ग्रावापेति निदर्शनम् ।।
   अनुस्वारस्तु यो दीर्घादक्षराच्च भवेत्ततः ।
   स तु ह्रस्वइति प्रोक्तो मन्त्रेष्वेव विभाषया ।।

इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा के पंजिका भाष्य में कहा गया है कि अनुस्वार

दीर्घं तं तु विजानीयाद्देवानां हृदयेभ्य इति निदर्शनम् ।
अनुस्वाराच्च संयोगं परतो दृश्यते यदि ।
ह्रस्वं तं तु विजानीयान्मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च । व० पा२२० शि०
28-32

3. अनुस्वारो यत्र कुत्रकारो भवति ध्रुवम् ।
ह्रस्वो दीर्घो गुरुश्चेति त्रिविधः परिकीर्तितः ।।
ह्रस्वात्परो भवेद्दीर्घो त्वंऽइति दर्शनम् ।।
दीर्घात्परो भवेद् ह्रस्वो माभिर्यइति दर्शनम् ।।
गुरो परे ह्यनुस्वारो गुरुरेव हि सम्मृतः । द्वि० ल० म० शि० 12-14

4. अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्णव्यंजनोदये ।
ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घाद्देवानाॅं हृदये यथा । व०र०प्र०शि० 145

5. मात्रा द्विमात्रोऽनुस्वारो द्विमात्रान्मात्रा एव च ।
मात्रिकादपि संयोगे मात्रिकस्तु द्विरूपवत् । लो० शि० 14

6. अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्णव्यंजनोदये ।
ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घाद्देवानाॅं हृदयेभ्यः ।। ल० अमो०शि० 15

स्वरवत् उच्चारित होता है । इसलिए अनुस्वार स्वर है ।[1] तै० प्रा०[2] तथा कातंत्र[3] में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है । ऋ० प्रा० के भाष्यकार उवट ने कहा है कि अनुस्वार स्वर के कुछ गुणों को धारण करता है । जैसे उदात्तानुदात्तादि गुण है स्वर के है। इसलिए अनुस्वार स्वर भी है ।[4]

शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यो ने ह्रस्वादि अवधारणाओं द्वारा भले अनुस्वार को एक स्वर मान लिया है परन्तु यदि अनुस्वार के ह्रस्वादि वैशिष्ट्यों तथा इससे सम्बन्धित शिक्षाशास्त्रीय एवं प्रातिशाख्यीय मन्तव्यों को सूक्ष्मावलोकन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुस्वार निश्चितरूप से एक स्वर नहीं हो

---

1. अनु- "स्वशब्दे"-घन्- अनु पश्चात् स्वरानन्तरमुच्चार्यते इति । स्वरमनु संलीनं स्वयंते शब्दते इत्यनुस्वार: । स्वरमनुभवतीति अनुस्वार: । पा० शि० 5 पर पंजिका वृत्ति ।

2. अनुस्वयंते पश्चाद् स्वरवदुच्चार्यते इत्यनुस्वार: ।
तै० प्रा० 1/18 पर वै० भ०

3. अनुस्वयंते संलीनं शब्दते इत्यनुस्वार: । कातंत्र 1.1.19

4. अनुस्वारो व्यंजनं स्वरो वा । ऋ० प्रा० 1/5
स काश्चित्स्वरधर्मान्गृह्णाति---- । ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं प्लुतत्वमुदात्तत्वं स्वरितत्वमिति स्वर धर्मा: । ऋ० प्रा० 1/5 पर उ०भा०

सकता है क्यों कि उसके ह्रस्वतादि वैशिष्ट्य पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कतिपय स्थितियों अर्थात् संयोग और स्वर वर्ण पर निर्भर हैं। इसका तात्पर्य यह है कि "अनुस्वार" पूर्वापर सापेक्ष है स्वर है अर्थात् यह ह्रस्वतादि गुण स्वत: नहीं धारण करता है बल्कि स्वर धारण करता है। पुन: यदि "अनुस्वार" स्वयं राजन्त इति स्वरा:" इति कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो फिर इसे स्वर कैसे कहा जा सकता है। वस्तुत: "अनुस्वार" प्राय: पदान्त एवं पदमध्य- इन दो स्थानों पर आता है। प्राय: "अनुस्वार" का क्षेत्र ऊष्म तथा रेफ से पूर्व ही होता है। जैसा कि वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा,[1] प्रा०प्र० शिक्षा[2] तथा पाणिनीय शिक्षा[3] में उल्लेख किया गया है कि रेफ तथा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार का "अनुस्वार" हो जाता है। इसी प्रकार वा० प्रा०[4] तथा सि० कौ०[5] में भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पदान्त का अनुस्वार व्यंजन से पूर्व में आने वाले "म्" का परिवर्तित रूप है जब कि पदमध्य का "अनुस्वार

---

1. अनुस्वारश्च रोष्मसु मकारस्य यो विधि:। व०र०प्र०शि० 140
2. मकारो रेफे ऊष्मसु च परेष्वनुस्वारमापद्यते। प्रा०,०शि० 5/1
3. अनुस्वारस्तु कर्तव्य: नित्यं हो: शषसेषु च। पा० शि० 23
4. अनुस्वारं रोष्मसु मकार:। वा० प्रा० 4/1
5. मोऽनुस्वार:। सि०कौ० 8.3.23

"र्" का । "म" और "न" विशुद्ध व्यंजनात्मक वर्ण हैं । अतः इनका आदेश-रूप "अनुस्वार " किसी भी क्रम में स्वर नहीं हो सकता है और आदेश तो सर्वदा स्थानिवत् होता है।[1]

पुनश्च शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में " अनुस्वार " ऊष्मन् " या "अयोगवाह " के अन्तर्गत परिगणित किया गया है । पाणिनीय शिक्षा में उल्लेख किया गया है कि अनुस्वार तथा यम इन अयोगवाहों का स्थान नासिका है ।[2] इसी प्रकार पाणिनीय सूत्रों के व्याख्याकार पातंजलि ने कहा है कि अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय उपध्मानीय अनुनासिक तथा यम ये सभी अयोगवाह कहे गये हैं ।[3] इसी प्रकार ऋ० प्रा०[4] वा० प्रा०[5] तथा ऋ०तं०[6] में

---

1. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ " सि०कौ० 1·1·56
2. अनुस्वारयमाणां च नासिकास्थाः अयोगवाहा विज्ञेया श्रयस्थानभागिनः: । पा०शि० 22,
3. के पुनः अयोगवाहाः विसर्जनीयाजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वार-रानुनासिक्य यमाः । पा० महा० { पा० 1·1·27 }
4. उत्तरेष्टा ऊष्माणः । ऋ० प्रा० 1/10 पर उ०भा० अन्तःस्थाभ्यः उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः वेदितव्याः । यथा ह, श, ष, स अः ꣙क ꣙प, अं । ऋ० प्रा० 1/1 पर उ० भा०
5. अथायोगवाहाः । ꣙क इति जिह्वामूलीयः । ꣙ इत्युपध्मानीयः । अं इत्यनुस्वारः । अः इति विसर्जनीयः । हुँ इति नासिक्यः । वा० प्रा० 8·3·।
6. ऋ० तं० 1/2

भी उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि " ऊष्मन्" और " अयोगवाह" ये दोनों ही विशुद्ध व्यंजन हैं । अस्तु" अनुस्वार" को पहले " व्यंजन" मानकर फिर उसे स्वर मानना युक्तिसंगत बात नहीं लगती ।

पुनश्च शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में " अनुस्वार को पूर्ववर्ती अक्षर के अंग के रूप में उच्चरित होने का विधान किया गया है । वर्णरत्न-प्रदीपिका शिक्षा [1] में उल्लेख किया गया है । कि अनुस्वार विसर्ग, नासिक्य यम, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय- से सभी पराश्रयी है तथा ये पूर्ववर्ती अक्षर के अंग हैं । इसी प्रकार का कथन पा० शि० में भी मिलता है।[2] ऋ० प्रा० 3 तथा तै० प्रा० [4] में भी ऐसा ही उल्लेख किया गया है । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि " अनुस्वार" एक पराश्रित वर्ण है और यदि पराश्रित वर्ण है तो स्वर कदापि नहीं हो सकता है।

कुछ शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में अनुस्वार को अर्धमात्रिक ध्वनि मानकर तथा अक्षरांगत्व विधान करके इसे व्यंजन कोटि में रखने का उल्लेख मिलता है

---

1. अनुस्वारो विसर्गश्च नासिक्योऽथ यमस्तथा ।
   जिह्वामूलमुपध्मा च नवेते स्युः पराश्रयाः ।।
   संयोगवाहा एव एते निजस्वर विवर्जिताः ।
   पूर्वस्यांगं भवन्त्येते स्वर एतेषु पूर्ववद् । व०र०प्र०शि० 50,51
2. स्वारमनुभवतीत्यनुस्वारः । पा० शि० (पं० भा० 5,
3. पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयो । ऋ० प्रा० 1/24
4. विसर्जनीयानुस्वारो भजेते पूर्वमक्षरम् । ऋ० प्रा० 18/34
5. अनुस्वारः स्वरभक्तिश्च । तै० प्रा० 21/6

सर्वसम्मत शिक्षा[1] तथा पारिशिक्षा[2] में उल्लेख मिलता है कि अनुस्वार अर्द्धगकार से युक्त एक नासिक्य ध्वनि है । इसी प्रकार तै० प्रा० में भी उल्लेख मिलता है कि अनुस्वार अर्द्धगकार के सदृश उच्चरित होने वाला एक व्यंजन वर्ण है।[3] तै० प्रा० में व्यंजनो के उच्चारण काल का विधान किया गया है । इसमें अवसानगत ङ्, न्, ण्, न् तथा म् वर्ण के उच्चारण में कालाधिक्य का विधान किया गया है । उसके अनुसार ह्रस्व- स्वर से बाद में आने वाले नासिक्य वर्ण दोमात्राकाल में उच्चरित होते हैं तथा दीर्घ-स्वर एवं प्लुतस्वर के बाद में आने वाले नासिक्यवर्ण एक मात्राकाल में उच्चरित होते हैं ।[4] इस प्रकार यह कहना उचित नहीं होगा कि आधीमात्रा काल से अधिक काल में उच्चरित होना उच्चार्यमाण ध्वनि के स्वरत्व की ओर संकेत नहीं करता है। क्यों कि नासिका से उच्चरित होने वाली ध्वनि केवल मुख से उच्चरितहोने वाली ध्वनि की अपेक्षा अधिक समय में उच्चरित हो पाती है । इसी प्रकार ऋ० प्रा० के भाष्यकार उवट ने " अनुस्वार " को उदात्त अनुदात्त एवं स्वरित रूप स्वर- वैशिष्ट्यों के

---

1. यजुष्यनुस्वार इहापि यत्र भवेदध्यर्द्धगकारयुक्तः । सर्व० शि० 43
2. यजुष्यनुस्वार इहापि यत्र भवेदध्यर्द्धगकार युक्तः । पारि० शि० 16
3. अनुस्वारो व्यंजनं वा स्वरो वेति परमतं तन्निरासार्थमिदमुच्यते ।

   अनुस्वारोऽप्युत्तमवद् व्यंजनमेवा स्पच्छायायामर्धगकारस्पत्वात् ।

   तै० प्रा० 2/30
4. ह्रस्वात्परं तु नासिक्यं द्विमात्रं यत्तदुच्यते । दीर्घात्प्लुताच्च तन्मात्रमेकमात्रमिति श्रुतिः । तै० प्रा० 1/37 पर वै० आ०

आधार पर स्वर माना है। परन्तु यदि " अनुस्वार " का कोई स्वतन्त्र स्वर होता तो पूर्वाक्षर के स्वर के साथ संयुक्त होकर वह उसमें निश्चितरूप से विकार उत्पन्न करता तथा पदपाठ में पृथक् होने पर पूर्वाक्षर के स्वतन्त्र "स्वर" को अवकाश प्रदान करता । यथा " इन्द्र सोमं " सोमपते पिबेयम्- इसमें " सोम " "म" रूप में परिवर्तित हो जाता है यथा- सोमम्, तब भी "क" पर स्वरित स्वर ही रहता है । यदि " अनुस्वार " का अपना कोई स्वतन्त्र "स्वर" होता तो वह निश्चय ही पूर्वाक्षर से अपने संयोग एवं विच्छेद के अनन्तर उसमें उदात्तादि स्वरत्व को प्रभावित करता । इस प्रकार किसी भी रूप में " अनुस्वार " को स्वर नहीं माना जा सकता है ।

कुछ शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों के " अनुस्वार " को "स्वर " और व्यंजन " इन दोनों गुणों से संयुक्त एक ऐसा वर्ण माना है जो "स्वर " और "व्यंजन " से भिन्न एक विशिष्ट वर्ण है । ऋ0 प्रा0[2] तथा तै0 प्रा0[2]

---

1. स्कांश्चित्स्वरधर्मान्गृह्णाति --- । ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं प्लुतत्व- मुदात्तत्वं स्वरितत्वमितिस्वर धर्माः । ऋ0 प्रा0 1/5 पर उ0भा0
2. अनुस्वारो व्यंजनं वा स्वरो वा । ऋ0 प्रा0 1/5 पर उ0भा0
3. अनुस्वारो व्यंजनं वा स्वरो वेति परमतम् । तै0 प्रा0 2/30 पर वै0 आ0

में ऐसा कथन मिलता है कि " अनुस्वार " स्वर तथा "व्यंजन" से भिन्न एक विशिष्ट वर्ण है । परन्तु उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि जब यह स्वर ही नहीं है तो फिर कैसे इसे "स्वर- व्यंजन- विशिष्ट वर्ण" मान लिया जाय? यदि कुछ क्षण के लिए इसे एक " स्वर- व्यंजन- विशिष्ट वर्ण" मान भी लिया जाय तो यह " अनुस्वार " भाषाविज्ञान एक ऐसा विषय होगा जिसमें परस्पर दो विरोधी गुणों का आधान है । परिणामस्वरूप इसे एक कपोल - कल्पित वर्ण माना जायेगा । फिर ऐसी स्थिति में, जैसा कि कुछ भाषावैज्ञानिक इसे अर्द्ध स्वर मानते हैं, अनुस्वार को भी इ, ऋ लृ0 के सदृश स्वतन्त्र स्वर " मानालिया जायेगा जो कि सर्वथा ध्वनि- शास्त्रविरुद्ध होगा ।

उपर्युक्त विवेचनसे अनुस्वारसे सम्बन्धित मुख्यत: तीन प्रकार के तथ्य शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में विद्यमान है । परन्तु सर्वाधिक युक्तिसंगत तथ्ययहि है कि " अनुस्वार " स्वरूपत: व्यंजन है । जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दो रक्त वस्त्रों के बीच स्थित श्वेत वस्त्र भी पूर्ववर्ती तथा परवर्ती वस्त्रों केसमान रक्त वस्त्र की भाँति दृष्टिगत होता है उसीप्रकार नित्य अनुवर्ती एव पराश्रित वर्ण " अनुस्वार " पूर्ववर्ती स्वर की मात्रा एवं परवर्ती व्यंजन के प्रभाव से ह्रस्व एवं दीर्घ प्रतीत होता है। वैसे मूलत: जिस प्रकार श्वेत वस्त्र स्वत: रक्त न होकर पूर्ववर्ती तथापरवर्ती वस्त्रों का प्रतिबिम्ब मात्र है उसीप्रकार अनुस्वार के अस्वतादि तथा उदात्तादि गुण भी पूर्वापरस्वरापेक्ष हैं वास्तविक नहीं। " अनुस्वार " का स्वरत्व भान प्राय: इसलिए होता है कि अनुस्वार नित्यरूपेण एक व्यंजनपूर्व तथा स्वरानुवर्ती वर्ण है । इस प्रकार "अनुस्वार" को एक व्यंजन वर्ण मानना अधिक युक्तिसंगत एवं समीचीन है ।

अनुस्वार का उच्चारण -

शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में अनुस्वार के उच्चारण के सम्बन्ध पर्याप्त उल्लेख मिलता है। यद्यपि कि "अनुस्वार" एक स्वर वर्ण नहीं है फिर भी नित्य स्वर- संश्लिष्ट एवं पूर्वापरस्थिति सापेक्ष होने के कारण ह्रस्व एवं दीर्घ रूपों में उच्चरित होता है।

"अनुस्वार" के उच्चारण सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] में विधान किया गया है कि "अनुस्वार" यदि दीर्घ अक्षर के बाद में आता है तो वह ह्रस्ववत् होता है। यथा- "भूयष्टां ते" इत्यादि। पुन: यदि "अनुस्वार" ह्रस्व अक्षर से पर में विद्यमान हो तो द्विमात्रिक ध्वनिके सदृश उच्चरित होता है। यथा- "व्रतं चरिष्यामि" इत्यादि। इसी प्रकार चतुर्थी पाराशरी शिक्षा,[2] द्वितीय लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा,[3] तथा लघु अमोघानन्दिनी[4] शिक्षाओं भी उल्लेख मिलता है।

---

1. अनुस्वारस्तु यो दीर्घादक्षराद् भवेद परः।
   स तु ह्रस्व इति प्रोक्तः मन्त्रेष्ववेव विभाषया ।।
   अनुस्वारस्योपरिष्टात्संवृतं यत्र दृश्यते।
   दीर्घं तु तु विजानीयाद् श्रोताग्रावाणकं यथा। याज्ञ0शि0 141, 142

2. अनुस्वारस्तुयो दीर्घादक्षराच्च भवेत्ततः।
   स तु ह्रस्व इति प्रोक्तो मन्त्रेष्वेव विभाषया ।।
   अनुस्वारस्योपरिष्टात्संवृत्तं यत्र दृश्यते।
   दीर्घं तु तु विजानीयाद् श्रोता ग्रावाणेति निदर्शनम्। च0 पारा शि029, 30

3. ह्रस्वात्परो भवेद्दीर्घो ह्वर्द0सऽइति दर्शनम्।

क्रमश/: --

याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] च0 पारा शि0[2] वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा[3] तथा लघु अमोघानन्दिनी शिक्षा[4] में "अनुस्वार" के उच्चारण के संबंध में कहा गया है कि "ऋ" वर्ण व्यंजन के पर में होने " अनुस्वार" द्विमात्रिक ध्वनिदीर्घ के सदृश उच्चरित होता है, यथा- देवानां हृदये" इत्यादि ।

याज्ञवल्क्य शिक्षा,[5] चतुर्धपाराशरी शिक्षा[6] लघुअमोघानन्दिनी,[7]

दीर्घात्परो भवेद् ह्रस्वो मां स्य यइति दर्शनम् । द्वि0 म0शि0 ।3

4. ल0 अमो0शि0 ।5

---

1. अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्ण व्यंजनोदये ।
   ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घादेवानां हृदये यथा । याज्ञ0 शि0 ।39
2. अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्ण व्यंजनादिषु ।
   दीर्घं तं तु विजानीयाद्देवानां हृदयेभ्य इति निदर्शनम् ।।
   च0पारा0शि0 31,
3. अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्णव्यंजनोदये ।
   ह्रस्वाद्वा यदि वा दीर्घाद्देवानां हृदये यथा । व0र0प्र0शि0 ।45
4. ल0 अमो शि0 ।5
5. अनुस्वारस्योपरिष्टात्संयोगो यत्र दृश्यते ।
   ह्रस्वं तु तु विजानीयात्संस्थामिति निदर्शनम् । याज्ञ0 शि0 ।40
6. अनुस्वारस्योपरिष्टात्संयोगो दृश्यते यदि ।
   ह्रस्वत्वं विजानीयात्संहृभागास्येति निदर्शनम् । च0 पारा0शि0 28
7. ल0 अमो0शि0 ।6

द्वितीय लघु माध्यन्दिनी शिक्षा[1] तथा लोमशी आदि[2] शिक्षाओं में उल्लेख मिलता है कि जिसअनुस्वार के पर में व्यंजन- संयोग होता है तो उसका ह्रस्व उच्चारण किया जाता है। जैसे- स स्रष्टासि, सि ह्यसि इत्यादि ।

प्रतिज्ञासूत्र में उल्लेख मिलता है कि अनुस्वार का उच्चारण लगभग अनुवर्ती व्यंजन के सवर्गीय नासिक्य व्यंजन के समान किया जाना चाहिए।[3] इस प्रकार " त्वं जानन् " के अनुस्वार का उच्चारण " नकार " के समान करना चाहिए। सिद्धान्त शिक्षा के अनुसार वेदों में "त्वं" का उच्चारण " त्वङ्" के रूप में किया जाना चाहिए। प्रतिज्ञा- परिशिष्ट के मतानुसार- "अनुस्वार" का उच्चारण रेफ तथा ऊष्म वर्णों से पूर्वस्थित अनुस्वार " गुं " के रूप में उच्चरित होता है। "ग्वङ्" गुङ" तथा गुङ ध्वनि समूह के रूप में भी उच्चरित होता है।[4]

अनुस्वारोच्चारण में अंगुलिप्रदर्शनविचार-

कुछ शिक्षाग्रन्थों में अनुस्वारोच्चारण में अंगुलिप्रदर्शन के सम्बन्ध में कुछ

---

1. द्वि० ल० मा० य० शि० 11-14
2. लो० शि० 14
3. परसवर्ण ईषद् प्रकृत्या वान्यत्र । प्र०सू०
4. अनुस्वारस्य गुं इत्यादेशः शषसहरेषु । प्र० प० रि० 3/1

उल्लेख मिलता है। प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा में ऐसा उल्लेख किया गया है कि दीर्घ "अनुस्वार" के उच्चारण के समय तर्जनी (देशिना) को प्रसारित किया जाता है तथा ह्रस्व एवं गुरुअनुस्वार के उच्चारण के समय अगुष्ठाग्र से तर्जनी पृष्ठ को नमित किया जाता है।[1]

नासिक्य-
=====

शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में "नासिक्य" के अस्तित्व के संबंध में तो उल्लेख मिलता है परन्तु इसके स्वरूप के सम्बन्ध में उपर्याप्त उल्लेख नहीं मिलता है। वा० प्रा० के मतानुसार ह, न् तथा ह-म् के संयोग में मध्य में "ऊँ" का आगम होता है जिसे "नासिक्य" कहा जाता है।[2] वस्तुत: "ह्" हुँ" के रूप में उच्चरित होता है। वस्तुत:"ई" की द्वित्व श्रुति तथा "ऊँ" के साथ उसका संयोग होता है। "ब्रह्म" का "ब्रह् ह् ऊँ म" तथा "चिह्न" का "चिह् ह् ऊँ न" उच्चारण होता है। अन्य प्रातिशाख्यों में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[3] ब्वर्ग इस प्रकार "नासिक्य कुछ विशेष परिस्थितियों में

---

1. अगानुस्वारे अंगुलिप्रदर्शन विचार: । दीर्घे। देशिनी स्याज्या क्षिप्रं स्याद्द्विलके लघौ । अस्यार्थ: । अनुस्वारप्रकरणस्थत्वाद्दीर्घे अनुस्वारे देशिनी प्रदेशिनी त्याज्या निष्कास्या । द्विलके गुरौ लघौ ह्रस्वे च अनुस्वारे क्षिप्र स्यात् । तर्जन्या:पृष्ठसंश्लिष्ठङ्गुष्ठं चाग्रनामितम् । तं क्षिप्रं हि विजानीयात्स्वर वि--- । अयं भाव: लघौ अनुस्वारे गुरौ अनुस्वारे चतर्जन्या: पृष्ठमङ्गुष्ठाग्रेण नामितं कार्यम् । प्रा०प्र०शि० 6/5,6
2. हुं इति नासिक्य: । वा० प्रा० 8/13
3. ऊँ इति नासिक्य: ऋ० प्रा० 1/48

क्रमश: ---

ङ् ध्वनि का आगम है । इसके कारण पूर्ववर्ती "ह" सानुनासिक हो जाता है।[1]

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में " नासिक्य " के उच्चारण "स्थान" के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है । इसके अनुसार " नासिक्य " का उच्चारण स्थान" नासिका " है ।[2] इसी प्रकार का उल्लेख सभी प्रातिशाख्यों में भी मिलता है ।[3]

वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में " नासिक्य " के उच्चारण का " करण " के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है कि " नासिक्यं का "करण" नासिका " है।[4]

हकारान्नणमपरान्नासिक्यम् तै० प्रा० 21/14

हकारान्नासिक्येन । अ० प्रा० 2/100

हुमित्यनुनासिकः । ऋ० तं० 1/2

1. सानुनासिको हकारः स्यादित्यर्थः । तै० प्रा० 21/14 पर त्रिभा०
2. यमानुस्वारनासिक्याः नासामूलभवाः । व०र०प्र०शि० 34
3. नासिक्ययमानुस्वारान् । ऋ० प्रा० 1/48

   यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके । वा० प्रा० 1/74

   नासिकायां यमानुस्वारनासिक्याः । ऋ० तं० 1/2
4. समानस्थानकरणा नासिक्योष्ठ्याः परिकीर्तिताः। व०र०प्र०शि० 32

इसी प्रकार प्रातिशाख्यों से भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1] चान्द्रवर्ण सूत्र में भी ऐसा उल्लेख है।[2] आपिशलि शिक्षा[3] में कथन मिलता है कि नासिक्य "सघोष" ध्वनि है और इसका वाह्य प्रयत्न संवृत है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि "नासिक्य" "नासिका" से उच्चरित होने वाली ध्वनि है, जो हकार के बाद अनुनासिक स्पर्श रहने पर मध्य में आगम के रूप में आती है।

रङ्‌ग-

शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्यों दोनों ही ग्रन्थों से "रङ्‌ग" के संबंध में विधान प्राप्त होता है। "रङ्ग" शब्द "रञ्ज" धातु से घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है रङ्‌गने का मसाला अर्थात् रङ्‌ग या रोगन। जैसा कि ॠ० प्रा० में विधान किया गया है कि अनुनासिक सर्वविध सम्पूर्णरक्तता का पर्याय है।[4] इस प्रकार रङ्‌ग का

---

1. समानस्थानकरणा नासिक्योष्ठ्याः। वा० प्रा० 1/80
2. शेषाः स्वस्थानकरणाः। चान्द्र० सू० 18
3. वर्गाणां चतुर्थो अन्तस्थाः हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीय चतुर्थौ नासिक्या-श्च संवृतकण्ठाः नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च। आपि० शि० 4/4
4. रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः। ॠ० प्रा० 1/17

तात्पर्य है- स्वर का अनुनासिक उच्चारण करना "रङ्ग" एक ऐसा स्वर है जिसमें अनुनासिकत्व सर्वदा विद्यमान रहता है। नारदीय शिक्षा[1] में तथा ऋ0 प्रा0 में आनुनासिक वर्णों के लिए "रक्त" संज्ञा का विधान किया गया है।[2] डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा ने एक हस्तलिखित ग्रन्थ "शिक्षा-पाठ" को खोज निकाला है, जिसके अनुसार जिस प्रकार इन्द्रनील मणि की कान्ति से अभिभूत मोती नीला होजाताहै, उसी प्रकारनासिक्य गुण से युक्त स्वर भी पूर्णतया "रङ्गत्व" को प्राप्त कर लेता है।[3] इस कथन का तात्पर्य यह है कि आनुनासिक स्वर "रङ्ग" में अनुनासिकता और स्वरात्मकता का मेल दुग्ध और जल की भाँति होता है। जिस प्रकार दुग्ध और जल के मिश्रण में उसकी प्रत्येक बूँद दुग्ध और जल दोनों तत्वों से युक्त होती है, उसी प्रकार अनुनासिक स्वर के प्रत्येक अंश में अनुनासिकता समाहित रहती है। यह अनुनासिकता स्वर- वर्णों का स्वाभाविक धर्म नहीं है, अपितु वैकल्पिक धर्म है और रेफ के अतिरिक्त अन्तस्था वर्णों का वार्णिक धर्म है।

प्रातिशाख्यों में अनुनासिक का प्रयोग मुख्यत: तीन अर्थों में किया गया है। प्रथमत: वर्गों के अन्तिम वर्णों के ङ, ञ, ण, न, म के लिए प्राय:

---

1. नकारान्ते पदे पूर्वस्वरे परत: स्थिते। आकारं रक्तमित्याहुर्नकारेणानुरज्यते। ना0 शि0 2·3·5

2. रक्तसंज्ञोऽनुनासिक:। ऋ0 प्रा0 1/17

3. यथेन्द्रनील प्रभयाभिभूत: मुक्तामणिर्याति हि नीलभावम्।
तथैव नासिक्यगुणेन युक्त: स्वरोऽपिरङ्गत्वमुपैति कृत्स्न:।
शिक्षापाठ

सभी प्रातिशाख्यकारों ने इसे स्वीकार किया है।[1] द्वितीयत: स्वर वर्णों के विशेषण के रूप में इसे भी प्राय: सभी प्रातिशाख्यों ने माना है।[2] तृतीयत: रेफ व्यतिरिक्त अन्तस्थ वर्णों के विशेषण के रूप में।[3]

---

1. अनुनासिकोऽन्त्य: । ऋ० प्रा० 1/14

   अनुस्वारोत्तमा: अनुनासिका: । तै० प्रा० 2/30

   अनुनासिकाश्चोत्तमा: । वा० प्रा० 1/89

   उत्तमानुनासिका: । च०अ० 1/11

   अन्त्योऽनुनासिक: । ऋ० तं० 2/17

2. अष्टावाद्यानशकारे प्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान्स्वरान् । ऋ० प्रा० 1/63

   स्वादयो या विहिता विवृत्तय: प्लुतोपधान्ता अनुनासिकोपधा: । ऋ० प्रा० 2/67

   नकारस्य चोपरेफोष्मभावे पूर्वस्तस्थानादनुनासिक: स्वर: । ऋ० प्रा० 4/80

   ऐसे ही अनेक स्थलों पर द्रष्टव्य है- ऋ० प्रा० 10/10, 14/9 14/13

   नकारस्य रेफोष्मयकारभावालुप्यो च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिक: तै० प्रा० 15/1

   अनुनासिकवत्यनुनासिका वा० प्रा० 4/53

   इसी प्रकार अन्य अनेकसूत्रों में भी द्रष्टव्य है 4/92, 5/43

   न करमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिक: । च०अ० 1/67

3. अन्तस्थासु रेफवर्जं परासु तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु । ऋ० प्रा० 4/7

   अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम् । तै० प्रा० 5/28

   अन्तस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानम् । वा० प्रा० 4/10

   उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिक: । च० अ० 2/35

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि "अनुनासिक" स्वर वर्णों के विशेषण के रूप प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार " रङ्ग " अनुनासिक " स्वर है, तथा वह स्वर से पर मे आने वाला अनुस्वार है तथा स्वर वह परिवर्तित रूप है जिसके मूल में अनुस्वार की सत्ता स्वीकार की जाती है इस सन्दर्भ में पाणिनी शिक्षा का कहना है कि अनुस्वार से निष्पन्न होने पर उसमें घोषत्व होता है जिसके कारण रङ्ग दीर्घ कम्पन्न के साथ उच्चरित होता है।[1] इस मत का समर्थन अथर्व प्रा० तथा सिद्धान्त कौमुदी करते हैं, जो कि अनुस्वार को अनुनासिकीकृत स्वर मानते हैं।[2] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि "रङ्ग " एक प्रकार का शुद्ध अनुनासिकीकृत स्वर " है। स्वर में विशेष रूप से संयुक्त अनुनासिक के अनुनासिकत्व में " अनुस्वार " की महत्वपूर्ण भूमिका है क्यों कि अनुनासिक वर्णों में अनुस्वार के कारण ही घोषत्व होता है।[3] इसी घोषत्व के कारण " अनुनासिक " तथा अनुनासिकी कृत स्वर " के उच्चारण के समय स्वर तन्त्रियाँ एक दूसरे के समीप आ जाती है जिसके परिणाम स्वरूप उनमें वायु के घर्षण से कम्पन्न होता है। इस प्रकार रङ्ग घोषत्व के सन्निवेश से सम्पन्न तथा अनुनासिक ध्वनि के सम्पृक्त कम्पन्न सहित उच्चरित होने वाला स्वर है।

---

1. सरङ्गं कम्पयेत्कम्पं रथवीति निदर्शनम्। पा० शि०30
2. अथर्व० प्रा० 1/26 सि० कौ० 8·3·23
3. आहुर्घोष घोषवतामकारमेके अनुस्वारमनुनासिकानाम्। अ० प्रा० 13/15

याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] व पाणिनीय शिक्षा[2] तथा लोमशी शिक्षा के मतानुसार रङ्ग एक नासिकीकृत स्वर है जिसमें पूर्ववर्ती अक्षर स्वर का ग्रहण नहीं होता है । यथा- यहाँ में हकारोत्तरवर्ती आँ को नियमानुसार रङ्ग प्राप्त है । इसके रंगत्व में पूर्ववर्ती अक्षर " अ" का ग्रहण नहीं किया गया है । इस अनुनासिकीकृत स्वर" का प्रथम अक्षर प्रायः दीर्घ होता है । इसमें स्वर का उच्चारण पहले तथा नासिक्य ध्वनि का उच्चारण बाद में होता है । यथा "यहाँ" में पहले हकारोत्तरवर्ती " आ" का उच्चारण होता है तत्पश्चात् नासिक्य ध्वनि का उच्चारण होता है । याज्ञवल्क्य शिक्षा[4] तथा माण्डूकी[5] शिक्षा में यह कथन है कि यद्यपि कि रङ्ग एक ऐसी ध्वनि है जिसमें स्वर

---

1. रङ्गे चैव समुत्पन्ने न ग्राह्यं पूर्वमक्षरम् ।
   स्वरं दीर्घं प्रयुंजीत पश्चात् नासिक्यमाचरेत् । याज्ञ० शि० 189
2. रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन्नो ग्रसेत्पूर्वमक्षरम् ।
   दीर्घस्वरं प्रयुञ्जीयात्पश्चान्नासिक्य माचरेत् । पा० शि० 27
3. रङ्गे चैव समुत्पन्ने न ग्राह्यं पूर्वमक्षरम् ।
   स्वरदीर्घं च प्रयुंजीत पश्चात् नासिक्यमाचरेत् । लो० शि०8.
4. यथा सौराष्ट्रिका नारी अराँ इत्यभिभाषते ।
   एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः ङकार परिवर्जिताः । याज्ञ० शि० 28
5. यथा-----ङकारेण तु वर्जितः । माण्डू० शि० 112

वर्ण के साथ अनुनासिक विशेषण रूप में संयुक्त होते हैं तथापि ङ् अनुनासिक का प्रयोग विशेषण के रूप में वर्जित है । अर्थात् "ङ" अनुनासिक से युक्त स्वर का रङ्ग नहीं होता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] तथा लोमशी शिक्षा[2] के मतानुसार ङकार को छोड़कर पंचम सवर्णानुनासिक वर्णों के साथ प्रयुक्त स्वर अर्थात् रङ्ग नासिका मूल वाला होता है । अर्थात् नासिका से उच्चरित होता है "याज्ञवल्क्य शिक्षा[3] के मतानुसार" रङ्ग" मकार के अनन्तर विद्यमान सवर्णानुनासिक एवं मध्योपधानिक होता है । अर्थात् रंग मध्योपधानिक वर्ण, म, र, ल, व श, ष, स तथा ह के पर विद्यमान होता है । "सर्वसम्मत शिक्षा[4] तथा नारदीय शिक्षा[5] में कहा गया है कि रङ्ग के उच्चारण में कांसे के पात्र की

---

1. द्विमात्र मात्रिको वापि नासामूलं समाश्रित: ।
   अन्ते प्रयुज्यते रंग: पंचमै: सवर्णानुनासिका: । याज्ञ० शि० ।91
2. द्विमात्र: मात्रिको---- पंचमै:सवर्णानुनासिका: । लो० शि० ।,
3. अनन्तरं मकारस्य यो रङ्गतत्र दृश्यते ।
   सवर्णानुनासिकं विद्यादेषा मध्योपधानिका: । याज्ञ० शि० ।92
4. कांस्यध्वनिसमो रङ्ग: हृदयादुत्थितं भवेत् ।
   यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रॉं इत्यभिभाषते । सर्वसम्मत शिक्षा
5. हृदयादुत्तिष्ठते रङ्ग: कांस्येन समनि:स्वर: ।
   मृदुश्चैव द्विमात्रश्च दधन्वा" इति दर्शनम् ।
   यथा सौराष्ट्रिका नारी अरां" इत्यभिभाषते ।
   एवं रङ्ग: प्रयोक्तव्यो नारदस्य मतं यथा ।।

   ना० शि० 2.3.8,9

ध्वनि के समान ध्वनि होती है, तथा यह ध्वनि हृदय- प्रदेश से निकलती है। जिस प्रकार सौराष्ट्र की ग्वालिने दही बेचते समय "तक्रा" की आवाज करती है उसी प्रकार रङ्गका उच्चारण होता है। इसी प्रकार का कथन याज्ञवल्क्य शिक्षा[1] माण्डूकी शिक्षा[2] का भी है। पारि शिक्षा का कथन है कि रङ्ग का उद्भव दोनों नथुनो से होता है। इसकी ध्वनि घण्टियों की ध्वनि के समान मधुर तथा सिंह के गर्जन की भांति गम्भीर होती है।[3] याज्ञवल्क्य शिक्षा[4] पाणिनि शिक्षा[5] पारि शिक्षा[6] माण्डूकी[7] लोमशी शिक्षा[8] तथा नारदीय शिक्षा

---

1. नासादुत्पद्यते रंग कांस्येन समनि: स्वर:।
   मृदुश्चैव द्विमात्र: स्याद् ----। याज्ञ0 शि0 ।94
2. नासादुत्पद्यते रंग: कांस्येन समानि: स्वश:।
   मृदुश्चैव द्विमात्रं स्याद् ----। माण्डू0 शि0 ।।3
3. रङ्गे मुखे व्याघ्रसूतोपमं स्यात् मात्राद्वयं--- इह कांस्य घण्टानाद:।
   पारि0शि0 53
4. द्विमात्र मात्रिको वापि नासामूलं समाश्रिता:।
   अन्ते प्रयुज्यते रंग: -----।। याज्ञ शि0 ।81
5. हृदये चैकमात्रस्तु अर्धमात्रस्तु मूर्धनि। पा0 शि0 28
6. ---- मात्राद्वयं हृज्जनिजं त्वनास्यम्--- स्यादेकमात्र:
   स तु काकली स्याद्। पारि शि0 56
7. नासादुत्पद्यते रंग-----।
   --- मृदुश्चैव द्विमात्रं स्याद्। माण्डू0शि0 ।।3
8. द्विमात्र: मात्रिको वाऽपि नासामूलं समाश्रिता:।
   अन्ते प्रयुज्यते रंग: ----। लो0 शि0 ।

रङ्•ग प्राय: दोमात्रा वाला तथा कहीं- कहीं यह एक मात्रिक भी होता है।

वस्तुत: नासिक्य के गुण से युक्त एक स्वर नासिक्य प्रभाव से रङ्•गत्व को प्राप्त हो जाता है और पदान्तस्थ आन् ईन् तथा ऊन् के पश्चात् स्वर आने पर क्रमश: आँ ईं, उँ के रूप में उच्चारित होता है । जो रङ्•ग कहलाता है।

रङ्•ग का उद्भव स्थान

शिक्षाग्रन्थों में रङ्•ग के उद्भव- स्थान के सम्बन्ध मतवैविध्य है नारदी शिक्षा[1] पाणिनी शिक्षा तथा[2] सर्वसम्मत शिक्षा[3] आदि का विचार है कि रंग का उद्भव हृदय से हुआ है जब कि याज्ञवल्क्य शिक्षा[4] अमोघा-नन्दिनी शिक्षा[5] तथा माध्यंदिन शिक्षा[6] का विचार है कि रंग नासामूलसे

+•9• हृदयादुत्तिष्ठते रङ्•ग: कांस्येन समनि:स्वर: मृदुश्चैव द्विमात्रश्च दधन्वाँ इति । दर्शनम् । ना0 शि0 2•3•8

1• हृदयादुत्तिष्ठते रङ्•ग: कांस्येन ---- । ना शि02•3•8

2• हृदयादुत्करे तिष्ठन कांस्येन--- । पा0 शि0 29

3• रंग हृदयादुत्थितं भवेद् । सर्व0 शि0 48

4• द्विमात्रिको मात्रिको वापि नासामूलं समाश्रित: । याज्ञ0 शि0 191

5• द्विमात्रिको मात्रिकोवापि नासामूलं समाश्रित: । अमो0 शि044

6• नासादुत्पते रंग: कांस्येन समनि: स्वर: । माध्यं0शि0 113

उद्भूत हुआ है। परन्तु जब हम प्रातिशाख्यों से उद्धृत रंग के उच्चारण स्थान सम्बन्धी उद्धरणों पर दृष्टि अवलोकन करते हैं तब हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रंग के उच्चारण - स्थान सम्बन्धी द्वितीयदृष्टिकोण ही उचित प्रतीत होता है। जैसा कि तै0 प्रा0 का मत है कि नासिक्य वर्णों का उच्चारण स्थान नासिका है।[1] इसीप्रकार अन्यप्रातिशाख्यों[2] तथा व्याकरण ग्रन्थों[3] से उल्लेख मिलता है। परन्तु यदि सूक्ष्मावलोकन किया जायतो यह स्पष्ट होता है कि रंग को नासिका के उद्भव स्थान वाला माननापूर्णतः युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है क्योंकि नासिका -" रंग काउद्भव स्थान नहीं बल्कि उच्चारण स्थान है। इसलिए "रंग" का उद्भव स्थान हृदय मानना अधिक युक्तिसंगत एवं समीचीन प्रतीत होता है। जैसा कि पाणिनि शिक्षामें उल्लेख भी है कि " रंग " हृदयाकाश में स्थित होता है। रंग हृदय में स्थित होकर एक मात्रिक होता है।[4]

---

1. नासिक्या : नासिकास्थाना : । तै0 प्रा0।/48

2. रक्तवचनो मुखनासिकाभ्याम् । ऋ प्रा0 ।3/5

 मुखनासिकाकरणोऽनुनासिक: । वा0 प्रा0 ।/75

 अनुनासिकानां मुखनासिकम् । अथ0 प्रा0 ।/27

3. मुखनासिका वचनोऽनुनासिक: । सि0 कौ0।•।•8

4. हृदये चैकमात्रस्तु अर्धमात्रस्तु मूर्धनि ।

 नासिकायां तथार्ध चरङ्गस्यैव द्विमात्रता ।

 हृदयादुत्करे तिष्ठन् कांस्येन समनुस्वरन् ।

 मार्दवं च द्विमात्रं च जघन्वान् इति निदर्शनम् । पा0 शि0 6-7

हृदय से चलकर जब यह मूर्धापर पहुँचता है तो यह अर्धमात्रिक हो जाता है। वहाँपर निकलकर जब नासिका में पहुँचता है तब यह आधेका भी आधी मात्रा वालाहोकरउच्चरित होता है। इसप्रकार हृदयाकाश में स्थित होकर चूँकि वहाँ से आगे की ओर बढ़कर क्रमश: मूर्धा और नासिका से होकर उच्चरित होने के कारण " रंग " का उद्भव- स्थान हृदय से उद्भूत मानाजाता है। यह विचार उचित जान पड़ता है क्यों कि पाणिनि[1] तथा याज्ञवल्क्य[2] आदि शिक्षाकारों का मत है कि रंग के उच्चारण में पहले दीर्घ स्वर तत्पश्चात् नासिक्य ध्वनि का उच्चारणकिया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है किरंग का उद्भाव स्थान "हृदय" तथा उच्चारण स्थान" नासिका " है क्योंकि हृदया-काश से उद्भूत यह मूर्धा से होकर परवर्ती नासिक्य ध्वनि के प्रभाव से नासिका से उच्चरित होता है।

रङ्ग का उच्चारण

• शिक्षाग्रन्थों में रङ्ग के उच्चारण के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। " रङ्ग " के उच्चारण के संबंध में अधिकांश शिक्षाकारों में मतैक्य है।

1• दीर्घं स्वरं प्रयुंजीयात्पश्चाद्नासिक्यमाचरेत्।

पा० शि० 27

2• स्वरदीर्घं प्रयुंजीत्पश्चात् नासिक्यमाचरेत्।।

याज्ञ० शि० 189

माण्डूकी शिक्षा[1] याज्ञवल्क्य शिक्षा[2] पाणिनि शिक्षा[3] सर्वसम्मत शिक्षा[4] तथा नारदी शिक्षा[5] आदि के शिक्षाकार परस्पर इसमत से सहमत है कि " रङ्ग" का उच्चारण "नासिका " द्वारा किया जाता है । जिस प्रकार सौराष्ट्र की ग्वालिने दही बेचते समय तक्रं तक्रं या अरं - अरं की आवाज लगाती हैं उसी प्रकार " रङ्ग " का उच्चारण कांस्य ध्वनि के समान की जाती है । जिसका "स्वर" पूर्णत: अनुनासिककृत होता है । दोनों नथुनो से उच्चरित होकर इसकी ध्वनि घटियों की ध्वनि के समान मधुर तथा सिंह के गर्जन की भांति गंभीर होती है । जिसका उच्चारण एक मात्रा काल तथा दो मात्रा तक गूंजने वाली होती है । यथा- दृष्टिमां 2 इवे में अनुनासिक "नु" पूर्ववर्ती स्वर "आ" के

1· यथा सौराष्ट्रिका नारी अरां इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्गाप्रयोक्तव्या: ङकारपरिवर्जित: ।।
नासादुत्पद्यते रंग: कांस्येन समनिस्वन: ।
मृदुश्चैव द्विमात्रं स्यात् ----- । माण्डू0शि0 ।।2, ।।3

2· यथा सौराष्ट्रिका नारी अरां इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्गा: प्रयोक्तव्य: ङकारेण तु वर्जित: ।
नासादुत्पद्यते रङ्ग: कांस्येन समनिस्वर: ।
मृदुश्चैव द्विमात्र: स्यात् । ----- । याज्ञ० शि0 ।94-।95

3· यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रां इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्गा: प्रयोक्तव्या: खे अरां इतिखेदया ।।
हृदयादुत्करे तिष्ठन् कांस्येन समनुस्वरम् ।
मार्दवं द्विमात्रं च ---- । पा0 शि0 28·29

साथ संश्लिष्ट होकर एक दीर्घ " अनुनासिक स्वर " के रूप से नासिका से उच्चरित किया जाता है । अनुनासिकत्व के कारण इसका उच्चारण इस विध किया जाता है कि इसमें विद्यमान घोष" जो अन्त्य अनुनासिक में विद्यमान है तथा जिसके कारण ध्वनि में कम्पन्न होता है, पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर के प्रभाव से पर्याप्त समय तक गुंजता रहता है । इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी समझना चाहिए- देवाँ- देवा आसादयेति, देवाँ, इदेषीति, देवाँ देवाँ उपागाइ ति । देवाँ 2 ऋभिरिति, अमित्राँ- 2 ओफ्तादिति इत्यादि ।

रङ्ग का प्रकार

शिक्षाग्रन्थों में रङ्ग के भेद के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। परन्तु रङ्ग के भेद के विषयपर शिक्षाकारों में परस्पर पर्याप्त भिन्नता किसी ने "रंग, " "सर्वरंग" तथा " महारंग" ये त्रिविध भेद बताया है, किसी ने "रंग"" महारंग" तथा " अतिरंग"ये त्रिविध भेद बताया है, किसी ने "घाद्" निधति, " वप्रिप "अणि तथा " प्रहिणं " ये पाँच भेद बताया है, तो किसी ने "स्वरपरक तथा व्यंजनपरक- दो ही भेद बताया है । लोमशी शिक्षा[1] में यह

यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्राँ तक्राँ इत्यभिभाशिते ।।
एवं रङ्गा : प्रयोक्तव्या :---- । सर्व0 शि0 48

5• हृदयादुत्तिष्ठते रङ्ग: कांस्येन समनिस्वर: ।
मृदुश्चैव द्विमात्रश्च दधन्वाँ३ इति दर्शनम् ।
यथा सौराष्ट्रिका नारी अराँ इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्ग: प्रयोक्तव्या नारदस्य मतं यथा ।। ना0 शि0 2•3•8,9

1• रंगस्तु द्विविधो ज्ञेयो स्वरपरो व्यंजन पर: । लो0शि0 6

उल्लेख है कि रङ्ग दो प्रकार का होता है- स्वरपरक रङ्ग तथा व्यंजन परक रङ्ग। स्वर परक "रङ्ग" उसे कहते हैं जिस रङ्ग के अव्यवहित अनन्तर कोई स्वर वर्ण आता है। यथा- "रवा" स्वाहम्" व्यंजनपरकरंग उसे कहते हैं जिसरंग अव्यवहित अनन्तर व्यंजन वर्ण आता है। यथा-" अमृता"- अमृतां त्वा" मल्लशर्मकृत शिक्षा[1] तथा अमोघानन्दिनी शिक्षा[2] में यह उल्लेख

---

1. अथ रङ्गमहारङ्गातिरङ्गा: ।
सुसन्धेश्चावसानस्येता र्व्यङ्केन बिन्दुना ।
भङ्गं स्यादथ मन्त्रेषु वेरङ्गस्तु भवेदिति ।।
महाशब्दोऽतिशब्दश्च यत्वणात्प्राक् प्रवर्तते ।
महारङ्गोऽतिरङ्गश्च संज्ञा तस्यैव निश्चिता ।।
अथ रङ्गयादीनामुच्चारणे प्रमाणम् ।
ह्रस्वात्तु द्विगुणो दीर्घो दीर्घादेकगुण: प्लुत: ।
प्लुतादेकगुणो रङ्गो रङ्गादेकगुणाधिक: ।।
महाशब्देन संयुक्तो व्यंजनं चार्धमात्रिकम् ।
अतिरङ्गो महारङ्गादवृधो ह्येकगुणाधिक: ।। मल्ल0 शि0 43-46

2. अन्ते प्रयुज्यन्ते रङ्गा: पंचमै: स्वानुनासिकै: ।
यश्महाश्चवडादित्यो इयद्रा देवमहा असि ।।
वर्गान्त्यस्य तु सम्प्राप्तो महारङ्गा प्रकीर्तिता: ।
परिते परिमाग्ने च अदृश्यपरिकीर्तिता: ।।
या स्वयं प्रदृश्यन्ते अतिरङ्गा प्रकीर्तिता । अमो शि 44- 46

मिलता है कि " रंग " के तीन भेद होते हैं ।• रङ्•ग 2• महारङ्•ग तथा 3 अतिरङ्•ग इसके अनुसार जहाँ अर्धचन्द्र विन्दु द्वारा अवसान की सुसन्धि भंग हो , वहाँ रंग होता है । यही रंग पूर्व में महान् तथा अति होने पर महारंग और अतिरंग के नाम से जाना जाता है । इनमें " रंग " प्लुत के एक गुण " महारंग रंग से एक गुण तथा " अतिरंग, " महारंग " से एक गुण अधिक होता है । याज्ञ-वल्क्य शिक्षा के मतानुसार भी रंग त्रयविध ही होता है परन्तु मल्लशर्मशिक्षा से किंचित अन्तर है । इसके अनुसार- ।• रंग , 2• सर्वरंग तथा 3.आदिरंग में तीन भेद हैं । इसके मत में " रंग " वहाँ होता है जहाँ जपान्पुष्प पर रत्न-वर्णाभा के समान वर्णरंजित किया जाय तथा प्रान्त में नासिक्य का उच्चारण किया जाय । " सर्वरंग " वहाँ होता है जहाँ लाक्षारक्त जल के समान नकारान्त रंग पद को रंजित कर रहा हो और नकार का लोप होने पर जो स्वर को रंजित किया जा रहा हो वहाँ " आदिरंग " होता है [1] पुन: अभोघानन्दिनी में शिक्षा [2] में रङ्•ग के भेद का उल्लेख मिलता हैं । इसके अनुसार " रंग " के

।• यादृशो रत्नवर्णाभा जपाया: कुसुमेऽथ वा ।

तादृशं रंजयेद्वर्णप्रान्ते नासिक्यमाचरेत् ।

लाक्षारक्तं यथा तोयं नकारान्तं पदं तथा

सर्वरङ्•गविजानीयात् शर्ङ्गे {न} इति निदर्शनम् ।।

लुप्ते नकारे यत्स्वारं रंजयन्ति शोनकादय: ।

आदिरङ्•ग विजानीयात् न चासो दिव विन्दति ।। याज्ञ0 शि0 216=218

2• पंचरङ्•गा : प्रवर्तन्ते धातनिर्वातवर्जित: ।

आक्षिप: प्रक्षिप: ज्ञेयो यथा आ ई ऊ ऋ ओ निदर्शनम् ।।

क्रमश: --

पाँच भेद होते हैं 1• घात, 2• निघाति, 3• वज्रिण 4• अहिप तथा 5• प्रहिप । रंग से इकार पर रहते रंग "घात," "इकार परे रहते " निघाति" उकार परे रहते "वज्रिण," ऋकार परे रहते " जहिप" तथा ओकार परे रहते "प्रहिप" कहलाता है । यथा " देवाँ देवाँ आसादयेति," देवाँ देवाँ देषीति" "देवाँ देवाँ उपागा," देवाँ देवाः ऋतुभिरिति, अमित्राँ अमित्राँ ओक्तामिति ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि "रङ्•ग" के भेद के संबंध जहाँ ओर सभी शिक्षाकारो में परस्पर मतवैविध्य हैं वहीं दूसरी ओर अमोघ-नन्दिनी शिक्षा एक ऐसी शिक्षा है जो " रङ्•ग" को त्रयविध§ रंग, महारंग,§ अतिरंग § एवं पंचविध§ घात, निघाति, वज्रिण, अहिप, प्रहिप§ दोनों ही भेदों को स्वीकार करती है । इस कारण " रंग" के भेद के संबंध में कुछ निश्चय निर्णय देना एक कठिन कार्य है क्यों कि उसके भेदो के विषय में कोई निश्चित प्रबल पुष्ट एवं प्रामाणिक आधार नहीं प्राप्त होता है ।

ग्वङ्•गुङ्• गुं

शिक्षा-ग्रन्थों में " ग्वङ्• गुङ्" या गुं के सम्बन्ध पर्याप्त उल्लेख

+• देवाँ देवाँ आसादयेति घात: देवाँ देवां देषीति निघाति: ।
देवाँ देवाः उपागा इति वज्रिण: देवाँ देवाँ • ऋतुभिरिति अहिप:।
अमित्राँ अमित्राँ ओक्तामिति प्रहिप: ------ । अमो० शि० 43

+•

मिलता है । प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा[1] में " ग्वङ्गुङ् " के संबंध में एक उल्लेख प्राप्त होता है, ~~जिके~~ जिसके अनुसार " ग्वङ् गुङ् " अनुस्वार का आदेशभूत प्रतीक है अर्थात् " अनुस्वार " श, ष, स ह तथा र के पर में रहने पर अनुस्वार का " ग्वङ् " आदेश हो जाता है। जिसे " ग्वङ् " के रूप उच्चरित किया जाता है । यथा -'अमा ऽँ रसेन', "त्वा ऽँ शश्वन्त: "हवी ऽँ षि " अनुस्वार " ही कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में " ग्वङ् " को प्राप्त हो जाता है । जिसका व्यापक विवेचन शिक्षाग्रन्थों में किया गया है । प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा[2] में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि जब पर में श ष स ह र तथा रेफ होता है तभी अनुस्वार ग्वङ् को प्राप्त होता है । इसी प्रकार का कथन लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा[3] केशवी शिक्षा[4] तथा स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा[5] से भी प्राप्त होता है । इनके अनुसार शल्- श ष स ह तथा रेफ पर में होने पर अनुस्वार ग्वङ् " को प्राप्त हो जाता है । यथा- " अस्माक- ऽँ शत्रून् , " स ऽँ शिवेम ", अग्नि ऽँ शकेम ", प्रजाया ऽँ राय: ", अमा ऽँ रेता ऽँ सि " इत्यादि ।

---

1. अनुस्वारस्य स्थाने ऽँ० इत्यादेश: भवति । शषसहरेफेषु । प्रा०प्र०शि० । 6
2. अनुस्वारस्य ऽँ इत्यादेश: शषसहरेफेषु । प्रा० प्र० शि० । 6
3. अनुस्वारो यत्र कुत्रापि ऽँ०कारो भवति ध्रुवम् लघ०मा०ध्य० शि०।3
4. अनुस्वारस्य शक्ति रेफे च परे । के० शि० 5
5. ऽँ०कार: स्यादनुस्वारस्थाने शलि च रे परे । स्व०भ०ल०शि०।9

ग्वङ् गुङ् का स्वरूप

शिक्षा-ग्रन्थों में "ग्वङ् गुङ्" के स्वरूप के संबंध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु यदि इसके मूलाधार पर विचार करें तो इसका स्वरूप भी स्पष्ट हो सकता है। वस्तुतः "ग्वङ् गुङ्" का मूलाधार अनुस्वार है। "ग्वङ्गुङ्" अनुस्वार का आदेशभूत प्रतीक है। इसलिए यदि अनुस्वार के स्वरूप पर किया जाय तो "ग्वङ् गुङ्" का स्वरूप भी स्पष्ट हो सकता है। अनुस्वार को स्वरात्मक एवं व्यंजनात्मक स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतमतान्तर है, जिस विषय पर विस्तृत विवेचन "अनुस्वार" के विवेचन के समय कर दिया गया है। अतएव पुनः उन्हीं तथ्यों पर विचार करने से पुनरुक्ति दोष आ सकता है। इसलिए उन्हीं तथ्यों पर पुनः विचार नहीं किया जा रहा है। वस्तुतः पर्याप्त विचारमन्थनोपरान्त यह सिद्ध हो चुका है कि "अनुस्वार" स्वरूपतः एक व्यंजन है क्योंकि "अनुस्वार" पदान्त "म्" जो कि हल् है, के स्थान पर आया है। आदेश है।[1] पुनः "ग्वङ् गुङ्" अनुस्वार का आदेश भूत प्रतीक है। इसलिए "ग्वङ् गुङ्" भी निःसन्देह व्यंजन है।

---

1. मकारोऽनुस्वारमाप्यते रेफसहितोष्मसु। प्रा०शु०शि० 6/1

   अनुस्वारश्च रोष्मसु मकारस्य यो विधिः। व०र०शु०शि० 140

   अलाबुवीणा निर्घोषो दन्त्यमूल्यस्वरानुगः।

   अनुस्वारस्तु कर्तव्यः नित्यं होः शषसेषु च। प्रा० शि० 23

   अनुस्वारं रोष्मसु मकारः। वा० प्रा० 4/1

   मोऽनुस्वारः सि० कौ० 8.3.23

क्यों कि आदेश स्थानिवद् होता है। प्राय: दार्शनिकों का कारणतावाद भी यही इंगित करता है, कि कार्य में वही गुण होगा जो उसके कारण में होता है । अनुस्वार के आदेशभूत 'ँ' ≬ ग्वङ् गुङ्० " के नीचे सर्वत्र प्राप्त होने वाला हल् भी इस बात का संकेत है कि " ग्वङ् गुङ" एक व्यंजन है । इस प्रकार स्पष्ट है कि 'ँ' ≬ ग्वङ् गुङ≬ स्वरूपत: एक व्यंजन है ।

ग्वङ् गुङ के प्रकार

शिक्षाग्रन्थों में ग्वङ्·गुङ्·के प्रकार के संबंध में कुछ उल्लेख मिलता है । मल्लशर्माकृत शिक्षा[1] में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि 'ँ' या "ठ0 कार" ≬ग्वङ् गुङ्·≬ दो प्रकार का होता है लघु 2· दीर्घ । ह्रस्व से पर "ग्वङ्" दीर्घ होता है । यथा- " त्यक्त्वा ठ0 स्यादेव, सि0 ठ0 ह्यसि । लघु- माध्यन्दिनीय शिक्षा[2] तथा केशवी शिक्षा[3] से तीन प्रकार के "ग्वङ्· " का

1· अथ ठ0 कार संज्ञा । ह्रस्वादग्रे भवेद्दीर्घो दीर्घादग्रे भवेल्लघु: ।
देवानाँहृदय त्यक्त्वा स्यादेव हिलके परे ।। मल्ल0 श0 शि0 26

2· ह्रस्वो दीर्घो गुरुश्चेति त्रिविध: परिकीर्तित: ।
ह्रस्वात्परो भवेद्दीर्घो हँस इति दर्शनम् ।
दीर्घात्तु परो भवेद् ह्रस्वो माँसेन्य इति दर्शनम् ।
गुरौ परे ह्यनुस्वारो गुरुरेव हि स स्मृत: ।।
सिँ ह्यसीति तत्र तावदकारे दीर्घ एव स: ।
देवाना हृदये तद्वत्तकाराणां तथा सुके । ल0मा0शि0 ।3-15

3· अनुस्वारस्य स्याद्घ्रस्वाद्दीर्घो दीर्घाद्ध्रस्व: संयोगो च परे गुरु स्या- च्छन्दसि माध्यन्दिनीये । के0शि0 5

उल्लेख मिलता है । 1• ह्रस्व, 2• दीर्घ 3• गुरु । दीर्घ से पर "ऌ" ह्रस्व, ह्रस्व से पर "ऌ" दीर्घ तथा गुरु से पर "ऌ" गुरु संज्ञक होता है । यथा- "मा ऽऽ स्येय:", "ह ठ० स" "सि ऽऽ ध्यसीति", देवाना ऽऽ हृदये इत्यादि । इसी प्रकार प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा[1] तथा स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा[2] से भी उल्लेख मिलता है । कतिपय सूत्र ग्रन्थों में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है ।[3]

1• तस्य त्रैविध्यमाख्यातं ह्रस्वदीर्घगुरुभेदेद्दीर्घात्परो ह्रस्वो ह्रस्वात्परो दीर्घो गुरौ परे गुरु । प्रा० प्र० शि० 6/।

2• ह्रस्वाद्दीर्घो भवेद्दीर्घाद्ह्रस्वो गुरुर्यो मत: ।
संयोगे परे हठ० सइत्यादि निदर्शनम् ।
ता ऽऽ सवितुरित्यादि ऽऽ ष्ट्रेत्यादिकं तथा ।
ह्रस्वदीर्घगुरूच्चार: कर्तव्योऽत्र यथा क्रमम् ।।
शल् रेफयोरभावेन सि०ठ० ही प्रत्युदाहृति ।। स्व०भ०ल०शि० ।9-2।

3• तस्ये त्रैविध्यमाख्यातम् ।
ह्रस्वदीर्घगुरुभेदेदीर्घात्परो ह्रस्वो ह्रस्वात्परो दीर्घो
गुरौ परे गुरु: ।। इति सू० 3,

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि इसका " ह्रस्व तथा दीर्घ रूपमें "गुङ्" एवं गूङ्" उच्चारण किया जाना समीचीन है । न कि "ग्वङ्" के रूप में क्योंकि इस रूप में उच्चारण करने से इसमें ह्रस्वता और दीर्घता का प्रकटीकरण सम्भव नहीं हो सकेगा । कारण कि इसके ह्रस्वतादि की अवधारणा पूर्वापरसापेक्ष है ।

• यद्यपि कि अनुस्वार के ग्वङ्, गुङ् गूङ् आदि रूपों में उच्चारण का कोई स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता है फिर भी शिक्षाग्रन्थों से प्राप्त कुछ तथ्यों के आधार पर 'ꣳ' के लिए गुङ्, गूङ् आदि रूपों में उच्चारण की सार्थकता स्पष्ट होती है । जैसा कि परिशिक्षा तथा सर्वसम्मत शिक्षा से प्राप्त उल्लेखों से पता चलता है कियजुर्वेद में अनुस्वार का अर्धगकार के रूपमें उच्चारण किया जाता है । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से भी प्राप्त उल्लेख द्वारा इस मत की पुष्टि होती है । अनुस्वार के स्थान पर "ग्" के उच्चारण के विषय में सम्भवत: यह तथ्य होगा कि " अनुस्वार (ं) घोषध्वनि है । अत: इसकी आदेशभूत ध्वनि घोषध्वनियों में प्राय: वही ध्वनि होगी जो स्थानी के अधिक निकट होगी । "ग्" घोष ध्वनियों का आदि ध्वनि है । अत: इसका अर्ध गकार रूप में उच्चारण हुआ होगा । इससे दो बातें स्पष्ट होती है1.यह कि " अनुस्वार " स्वरूपत: व्यंजन है तथा 2. "अनुस्वार" के आदेशभूत गुङ् आदि की उच्चारणप्रक्रिया का पता चलता है। वस्तुत: अनुस्वार का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर के पश्चात् जब लम्बी लौकी के तुमड़ी की बनी वीणा "अलावुवीणा " के निनाद के समान अन्त्य वर्ण कम्पन्न युक्त एवं आनुनासिक होने के कारण नासिका से उच्चरित होता है, तो उसे ग्वङ् गुङ् गूङ् कहा जाता है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

क्र०सं०	ग्रंथनाम	लेखक, सम्पादक, प्रकाशक एवं प्रकाशन वर्ष	
1-	शिक्षासंग्रह	सं०पु० युगलकिशोर व्यास, बनारस सं०सिरीज बनारस 1893.	
(1)	याज्ञवल्क्य शिक्षा	"	"
(2)	वासिष्ठी शिक्षा	"	"
(3)	सटीका कात्यायनी शिक्षा	"	"
(4)	पाराशरी शिक्षा	"	"
(5)	माण्डव्य शिक्षा	"	"
(6)	अमोघानन्दिनी शिक्षा	"	"
(7)	लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा	"	"
(8)	माध्यन्दिनीय शिक्षा	"	"
(9)	लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा	"	"
(10)	अमरेशी शिक्षा	"	"
(11)	सटीका केशवी शिक्षा	"	"
(12)	तत्कृतपद्यात्मिका शिक्षा	"	"
(13)	मल्लशर्म शिक्षा	"	"
(14)	स्वरांकुश शिक्षा	"	"
(15)	षोडशश्लोकी शिक्षा	"	"
(16)	अवसान निर्णय शिक्षा	"	"

(17)	स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा	सं0पं0युगलकिशोर व्यास, बनारस सं0सिरी: बनारस 1893.
(18)	क्रम सन्धान शिक्षा	• •
(19)	गलदृक् शिक्षा	• •
(20)	मनः स्वार शिक्षा	• •
(21)	प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा	• •
(22)	वेदसूत्र कारिका शिक्षा	• •
(23)	यजुर्विधान शिक्षा	• •
(24)	स्वराष्टक शिक्षा	• •
(25)	क्रमकारिका शिक्षा	• •
(26)	पाणिनीय शिक्षा	• •
(27)	नारदीय शिक्षा	• •
(28)	गौतमी शिक्षा	• •
(29)	लोमशी शिक्षा	• •
(30)	माण्डकी शिक्षा	• •
(31)	अथर्ववेदपरिशिष्टम्	• •
2-	भारद्वाज शिक्षा	प्रकाशक भाण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर पूना
3-	आपिशलि शिक्षा	सं0युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर ।
4-	सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा	• •
5-	चान्द्रवर्णसूत्राणि	• •

6-	व्यास शिक्षा	हस्तलिखित, सरस्वती विहार पुस्तकालय हौजखास, नई दिल्ली ।
7-	शैशरीय शिक्षा	" "
8-	आरण्य शिक्षा	" "
9-	ह्रस्वदीर्घप्लुतमात्रालक्षणशिक्षा	" "
10-	प्लुतशिक्षा	" "
11-	शमान शिक्षा	" "
12-	द्वितीय शमान शिक्षा	" "
13-	कालनिर्णय शिक्षा	" "
14-	लक्ष्मीकान्त शिक्षा	" "
15-	वेदलक्षणानुक्रमणिका	" "
16-	नवशिक्षा	" "
17-	कौहली शिक्षा	" "
18-	पारि शिक्षा	" "
19-	पदकारिकारत्नमाला	" "
20-	शम्भु शिक्षा	" "
21-	सर्वसम्मत शिक्षा	" "
22-	सिद्धान्त शिक्षा	" "
23-	स्वरभक्ति शिक्षा	" "

प्रातिशाख्य ग्रन्थ.

24-	ऋक्प्रातिशाख्य	सं0 मंगलदेव शास्त्री, इलाहाबाद 1931

25- ऋग्वेद प्रातिशाख्य (उव्वट भाष्य सहित) — सं० डॉ० वी० के० वर्मा, काशी हिन्दू वि० वि० वाराणसी, 1972

26- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य — सम्पादक-डब्ल्यू० डी० ह्वीटनी, न्यू हेवेन, 1871

27- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (पदक्रमभाष्य सहित) — सं० पं० वी० वेंकटरामशर्मा विद्याभूषण, मद्रास वि० वि० 1930

28- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (वैदिकाभरण एवं त्रिभाष्य रत्न सहित) — सं०-आर० शामशास्त्री और रङ्गाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड जवाहर नगर, दिल्ली 1985.

29- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य — सं०-राजेन्द्र लाल मिश्र, गणेश मिश्र, कलकत्ता 1872.

30- वाजसनेयि प्रातिशाख्य (भाष्यद्वयसहित) — सं०-डॉ० वी० के० वर्मा, ज्ञान प्रकाशन प्रतिष्ठान सी० के० 1/12 गंगमहलपटनीटोला, वाराणसी ।

31- वाजसनेयि प्रातिशाख्य — सं०-वेंकटरामशर्मा, मद्रास वि० वि०, 1934

32- ऋक्तन्त्र — सं०-डॉ० सूर्यकान्त, प्रकाशक-मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, 1934

33- शौनक चतुरध्यायी — हस्तलेख-सरस्वती भवन सं० सं० वि० वि० वाराणसी

34- अथर्वप्रातिशाख्य — सं०-सूर्यकान्त, मेहरचन्द लक्ष्मीदास दिल्ली, 196

व्याकरण ग्रन्थ

35- महाभाष्य — वैद्यनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर दिल्ली-1967

36- वाक्यपदीय — सं०-रामकृष्ण शास्त्री, बनारस, 1884.

37- अष्टाध्यायी — पाणिनि-च०सं०, रामलाल कपूर ट्रस्ट, गुरुबाजार अमृतसर पंजाब ।

38- सिद्धान्त कौमुदी — भट्टोजिदीक्षित-चौखम्भा सं०सि०वाराणसी 1959.

संहिताएं

39- ऋग्वेद-संहिता {सायणभाष्य} — सं०-एम०मैक्समूलर, लन्दन 1892.

40- तैत्तिरीय-संहिता — सं०-महादेवशास्त्री, मैसूर 1894

41- वाजसनेयि-संहिता — सं०-वेवर, वर्लिन, 1852,

42- अथर्ववेद-संहिता — सं०-आर०राँथ और विलियम डी० ह्वीटनी, बर्लिन, 1856.

43- माध्यंदिन संहिता — सं०-वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1921.

44- काठक कपिष्ठलसंहिता — मूलमात्र, दामोदर सातवेलर, औंध

45- मैत्रायणी संहिता — मूलमात्र, श्रीपाद दामोदर सातवेलर वि० सं०1968 स्वाध्याय मण्डल पारडी.

46- सामसंहिता — मूलमात्र, दामोदर सातवेलर, औंध 1956.

अन्य सहायक ग्रन्थ

47- एलिमेंटस आँफ जनरल लिंग्विस्टिक्स — सं०-आन्द्रे मार्टिनेट, प्रकाशक-फेबरेंड फेबर लि०24रसेल स्क्वायर, लन्दन, 1964

48- ए संस्कृत-इंगलिश डिक्सनरी — ए०ए०मेक्डानल, मोतीलाल बनारसी दास बंगलोरोड जवाहर नगर, दिल्ली, 1962.

49- प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन — डॉ0 इन्द्रा, प्रकाशक-डॉ0 इन्द्रा, पो0बा0 114, स्टेशन रोड, भदोही, वाराणसी, प्रथम सं0 197

50- प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन — सिद्धेश्वर वर्मा, हिन्दी अनुवादक-डॉ0देवीदत्त शर्मा, हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़ 1973.

51- वैदिक ध्वनिविज्ञान — डॉ0 विजय शङ्कर पाण्डेय अक्षयवट प्रकाशन 26, बलरामपुर हाउस इलाहाबाद-2, 1987

52- पाणिनीय शिक्षाया: शिक्षान्तरै: सह समीक्षा — डॉ0मधुकर फाटक, वाणीविलास संस्कृतपुस्तक संस्थान, कचौड़ी गली वाराणसी 1972

53- वैदिक पदानुक्रमकोष — विश्वबन्धुशास्त्री, वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर 1942.

54- वैदिक व्याकरण (छात्र संस्करण) — ए0ए0मैक्डानल-हिन्दी, अनु0 डॉ0सत्यव्रत शास्त्री, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-1971

55- संस्कृत ध्वनि विज्ञान — डॉ0हरिशङ्कर त्रिपाठी, शारदा प्रकाशन, वि0 वि0 मार्ग इलाहाबाद, 1989

56- संस्कृत व्याकरण — डब्ल्यू0डी0ह्विटनी, हिन्दी अनु0 डॉ0मुनीश्वर झा, प्रका0-उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी लखनऊ, 1971.

57- संस्कृत ध्वनि ग्राम — डॉ0हरिशंकर त्रिपाठी, शारदा प्रकाशन, वि0 वि0 मार्ग इलाहाबाद, 1988.

58- संस्कृतहिन्दी कोश — वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदा बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-1984.

59- सूक्तवाक् — डॉ0हरिशंकर त्रिपाठी, वेदपीठ प्रकाशन 1- डी, बाघम्बरी रोड, अल्लापुर, इलाहाबाद

60- हलायुध कोश — सम्पादक-जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ द्वितीय सं0 1967.

61- तुलनात्मक भाषा शास्त्र — मंगलदेव शास्त्री इंडियन प्रेस प्रा0लि0 इलाहाब

62- तुलनात्मक भाषा विज्ञान — डॉ0भोलाशङ्कर व्यास

63- फोनिटिक्स इन एन्शियण्ट इण्डिया — डब्ल्यू0एस0 एलेन, ग्राफरी कैम्ब्रिज पब्लिशर्स टू दि आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, लन्दन, न्यूयार्क टोरन्टो

64- ईशावास्योपनिषद् — उपनिषद संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

65- ऐतरेय ब्राह्मण — डॉ0सुधाकर मालवीय, तारापब्लिकेशन्स वाराणसी,

66- काशिका — सं0स्वामी द्वारिकादास शास्त्री तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी.

67- गोपथब्राह्मण — डॉ0 इन्द्रदयाल सेठ, अथर्ववेद भाष्य कार्यालय 34 लूकरगंज, इलाहाबाद ।

68- चरकसंहिता — सं0-डॉ0गंगासहायपाण्डेय, ए0एम0एस0 चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी,

69- निरुक्त — सं0-डॉ0लक्ष्मणस्वरूप पंजाब वि0वि0लाहौर

70- वैदिक स्वरमीमांसा — पं0ब्रजविहारी चौबे, प्राप्तिस्थान-मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

71- आपिशल शिक्षासूत्र — युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान 32/138 अलवर गेट, अजमेर संवत् 2024,

72- चान्द्रवर्णसूत्र — " "

73- पाणिनीशिक्षासूत्रम् (लघु-वृहत्) — " "

74- वर्णपटल (अथर्वपरिशिष्टम्) — बोलिंग तथा नेगलिन्, लीवजिंग 1909-10

75- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति — आचार्य बलदेव उपाध्याय शारदा संस्थान 37 बी0 रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी,